FREEDOM AT MIDNIGHT

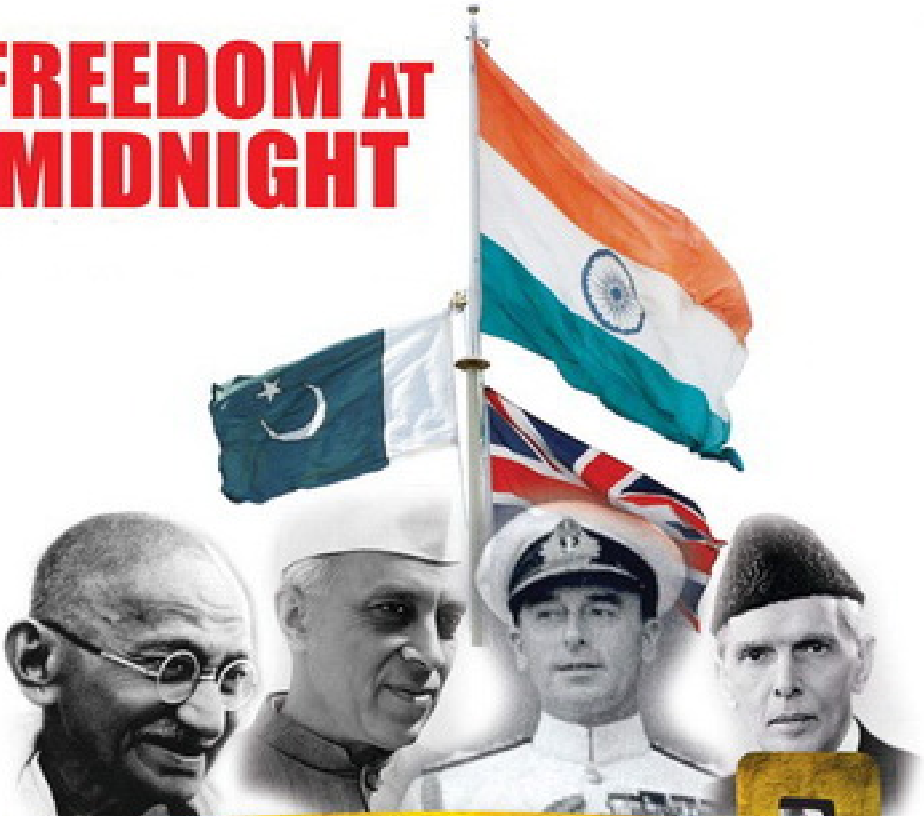

आज़ादी आधी रात को

डोमिनीक लापिएर

लैरी कॉलिन्स

VISIT…

LANZAROTE
Caliente.com

आधी रात को
आज़ादी

लैरी कांलिन्स
दॉमिनिक लैपियर

अनु प्रकाशन

आधी रात को आज़ादी

लेखक
लैरी कालिन्स
डॉमिनिक लैपियर

अनुवादक
मनहर चौहान

मूल्य
चार सौ रुपये मात्र

संस्करण
2004

प्रकाशक
अनु प्रकाशन
धामाणी मार्केट की गली,
चौड़ा रास्ता, जयपुर

ISBN : 81-7932-007-3

लेज़रटाईपसैंटिंग
अल्टीमेट कम्प्यूटर्स, फोन 374198

मुद्रक
शीतल ऑफसैट, जयपुर

Originally Published by Vikas Publishing House Pvt. Ltd.
576 Masjid Road, Jangpura, New Delhi-110014

1

‘वह जाति, जो केवल जीतने और शासन करने के लिए पैदा होती है ।......’

लन्दन, नए साल का पहला दिन, 1947

ठण्ड के दिन थे और उस महान् राष्ट्र का असन्तोष उबाल पर था। दुःख, दर्द और आशंका के कोहरे ने लन्दन को ढांक लिया। इंग्लैण्ड की राजधानी नए साल की शुरूआत ऐसे बिगड़े हुए हालात में कर रही थी, जैसे पहले कभी नहीं देखे थे।

शायद ही कोई घर इतना सम्पन्न था, जिसमें इतना भी गर्म पानी हो कि मर्द दाढ़ी बना सकें और औरतें वाशबेसिन धो सकें। नए साल के स्वागत में नाचने-कूदने के बजाय लन्दन के लोग अपने बिस्तरों में घुसे हुए थे। जौ से बनी शराब अव्वल तो उपलब्ध ही नहीं थी और थी भी, तो आठ पौण्ड बोतल की दर से! लोगों को क्या पागल कुत्ते ने काटा था जो शराब पीते?

गलियां सूनी पड़ी थीं। पेट्रोल भी शराब की तरह दुर्लभ हो चला था। जो इक्की-दुक्की कारें सरकती दिखाई दे रही थीं, उनमें भी कुछ ऐसी भावना थी, मानो पेट्रोल का भक्षण करके उनसे कोई अपराध हुआ जा रहा हो।

गलियां एक खास तरह की गन्ध से आच्छादित थीं। वह युद्ध के बाद के लन्दन की अपनी गन्ध थी। घातक बमों ने जिन इमारतों को ध्वस्त किया, जलाया और झुलसाया था, उनमें से कसैली गन्ध के बगूले—से उठते रहते.........

इस सब के बाजवूद वह उदास शहर एक विजेता राष्ट्र की राजधानी था। केवल सत्रह माह पहले, इतिहास के सब से विकट युद्ध में इंग्लैण्ड ने विजय प्राप्त की थी। इस विजय ने इंग्लैण्ड के उद्योग-धन्धों को चौपट और सरकारी खजाने को एकदम खाली कर दिया।

अगर अमरीकी और कनेडियन डॉलर का सहारा न मिलता, तो इंग्लैण्ड की मुद्रा कब की पाताल में लुढ़क चुकी होती। युद्ध के राक्षसी खर्च ने सरकारी खजाने को खाली कर दिया था।

कारखाने बन्द हो गए थे। बीस लाख से भी ज्यादा अंग्रेज बेरोजगार हो गए थे। विद्युत आपूर्ति व्यवस्था बिगड़ती जा रही थी।

लन्दन में पिछले सात वर्षों में जो हुआ था, वही लगातार आठवें वर्ष भी होने जा रहा था— हर वस्तु की आपूर्ति अपेक्षाकृत विषम हो गई थी। भोजन, ईंधन, शराब, बिजली, जूते, कपड़े आदि-सब राशन से मिल रहे थे। अंग्रेजों ने, साथियों के सहयोग से, उस दबंग हिटलर को हराया था, जिसके नारे थे-'वी फॉर विक्ट्री' और 'थम्बस अप'। अब उन्हीं अंग्रेजों के नारे थे—'भूखों मरो थरथर कांपो'....... 'स्टार्व एण्ड शिवर'.........

इसके बावजूद—

उस नए साल की सुबह, लन्दन-वासियों के पास, यदि इतना भी गर्म पानी नहीं था कि वे एक कप चाय बना सकें, तो भी—

उनके पास एक अनोखी चीज अवश्य थी।

और वह केवल उन्हीं के पास हो सकती थी, क्योंकि वे अंग्रेज थे। वह चीज थी एक नीला, सुनहरा दस्तावेज, जो इस बात कि गारण्टी था कि वे तमाम धरती के एक-चौथाई हिस्से में बेधड़क दाखिल हो सकते थे—ब्रिटिश पासपोर्ट! यह सुविधा दुनिया की अन्य किसी जाति को प्राप्त नहीं थी।

1947 का पहला दिन आशंका, अभाव, दुःख और भयानक असुरक्षा के माहौल में शुरू अवश्य हो रहा था, लेकिन एक चौथाई धरती पर फैला अंग्रेजों का अद्भुत और अजीबो गरीब साम्राज्य, उस दिन भी, लगभग ज्यों-का-त्यों खड़ा था। जो अंग्रेज लन्दन के ठण्डे और टूटे-फूटे घरों में ठिठुर रहे थे, उनके आदेशों में, उस दिन भी, इतनी शक्ति थी कि एक चौथाई धरती की विभिन्न सभ्यताएं उनकी लपेट में आने से इन्कार नहीं कर सकती थीं। यह वह साम्राज्य था, जहाँ सूरज कभी डूबता नहीं था।

तीन शताब्दियों से वह साम्राज्य एक ऐसे विस्तार में फैला हुआ था, जिस की भव्यता केवल परिकथाओं में ही सम्भव होती है। 'सोने के भार से दबा जा रहा, उद्योगों की कालिख से पुता और हारे हुए देशों के रक्त से सना' वह साम्राज्य एक ऐसा चमत्कार था, जिसने मात्र पांच करोड़ की आबादी वाले एक नन्हे से राज्य को दुनिया का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र और लन्दन को दुनिया की राजधानी बना दिया था।

जो सूनी गलियां उस राजधानी के दिल की तरफ जा रही थी, उन्हें काले रंग की एक आस्टिन-प्रिन्सेस कार चुपके-चुपके पार कर रही थी।

बंकिघम पैलेस को पीछे छोड़ कर वह कार जब माल की ओर मुड़ी, तो उसका एकमात्र यात्री उन शाही रास्तों को सप-नीली दृष्टि से देखता रह गया, जो उसकी आंखों के सामने से सरकते जा रहे थे। कितने अद्‌भुत, कितने सनसनीखेज संस्मरण जुड़े हुए थे उन रास्तों के साथ!

कार ने अब संसद मार्ग को भी पीछे छोड़ दिया था। एक सकरा रास्ता पार करके वह वहाँ आ पहुंची, जहां वह दरवाजा था, जिसके फोटो दुनिया में सबसे ज्यादा खींचे जाते थे-नम्बर 10, डाउनिंग स्ट्रीट।

पिछले छह वर्षों से, सारी दुनिया ने, उस दरवाजे के सीधे-सादे चौखट का सम्बन्ध एक ऐसे व्यक्ति के साथ जोड़ रखा था, जिसके मुंह में लगातार एक जलता सिगार होता और हाथ में छड़ी। विन्स्टन चर्चिल ने अपनी दो महान लड़ाइयाँ उसी मकान में रहते हुए लड़ी थीं। एक लड़ाई में चर्चिल ने जर्मनी, इटली और जापान की मिली-जुली फौजों को मटियामेट किया। दूसरी लड़ाई में उसने ब्रिटिश साम्राज्य की आन्तरिक सुरक्षा का बीड़ा उठाया।

लेकिन अब, 10-डाउनिंग स्ट्रीट में एक नया प्रधानमंत्री उस कार-यात्री का इन्तजार कर रहा था—नया, उत्साही समाजवादी नेता, जो चर्चिल को खास पसन्द नहीं था।

किलमेण्ट एटली और उसकी लेबर-पार्टी ने जब शासन की बागडोर अपने हाथ में ली, तो सरेआम ऐसा ऐलान करके ली कि अब महान् ब्रिटिश साम्राज्य को समेटने की प्रक्रिया शुरू की जाएगी। इस ऐलान का सीधा-सा अर्थ यही था कि खैबर पास से लेकर केप कोमोरीन तक अत्यन्त घनी आबादी का जो क्षेत्र फैला हुआ है, उस पर से अंग्रेज अपना शासन हटा लें—भारत।

भारत; जो रेशमी पोशाकें पहनते महाराजाओं, बंगाल के शानदार शेरों, शाही हाथियों, उपवास के शौकीन साधुओं, छरहरे सपेरों, गर्वीली सुन्दरियों और पोलों के बेमिसाल मैदानों का देश था..........

भारत; जो ब्रिटिश साम्राज्य का एक शर्मनाक लेकिन शानदार सपना था.........

काली आस्टिन कार के उस अकेले यात्री को आज इसलिए बुलाया गया था कि अंग्रेजों का वह शानदार सपना हमेशा के लिए खत्म कर दिया जाए। 10-डाउनिंग स्ट्रीट के सुप्रसिद्ध चौखट के सामने वह खूबसूरत रियर-एडमिरल, गम्भीरता से, अपनी काली आस्टिन से बाहर निकला।

लुई फ्रान्सिस एल्बर्ट विक्टर निकॉलस माउण्टबेटन की उम्र, तब, 46 की थी। उसकी गणना इंग्लैण्ड के सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्तियों में होने लगी थी। वह छह फीट से भी ज्यादा लम्बा आदमी था। उसकी कमर की सुडौलता और चाल की चुस्ती से जाहिर था कि वह कितने उत्साह के साथ, रोज, कसरत किया करता था।

पिछले छह वर्षों में उस व्यक्ति ने असंख्य विपत्तियों का सामना किया था। न जाने कितनी बार मौत उसे छूती हुई निकल गई थी। इसके बावजूद; उसके सुन्दर चेहरे पर, उस वक्त, तनाव या शिकायत की रंच-मात्र भी छाया नहीं थी। अपनी उम्र से वह कम-से-कम पांच बरस छोटा लग रहा था।

माउण्टबेटन को अच्छी तरह मालूम था कि उसे एकाएक लन्दन क्यों बुलाया गया है।

—और उसका अन्दाजा गलत भी नहीं था। एटली का नेक इरादा था कि माउण्टबेटन को भारत का वायसराय बनाकर भेज दिया जाए।

यह पद ब्रिटिश साम्राज्य के तमाम पदों के बीच अत्यन्त महत्व का माना जाता था। क्रमवार अनेक अंग्रेज महारथियों ने इस पद पर बैठ कर, मनुष्य की सम्पूर्ण जनसंख्या के पाँचवें हिस्से पर, पूरी मुक्तता के साथ शासन किया था। माउण्टबेटन को, लेकिन, शासन करने के लिए नहीं भेजा जाएगा। उसे तो एक ऐसा कार्य करने के लिए रवाना किया जाएगा, जो किसी भी सच्चे अंग्रेज के लिए अत्यन्त आघातजनक होता है—शासन का त्याग!

माउण्टबेटन कतई नहीं चाहता था कि इस पद को संभाले। इसका अर्थ यह नहीं था कि भारत त्यागने की ब्रिटिश सोच से वह सहमत नहीं था, लेकिन शासन समेटने का पीड़ाजनक कार्य माउण्टबेटन ही क्यों करें? दुनिया में क्या एक भी और व्यक्ति नहीं?

एटली के नेक इरादे का भार कितना जबर्दस्त होगा, माउण्टबेटन जानता था। इसलिए एटली को हतोत्साहित करने की नीयत से, माउण्टबेटन ने तरह-तरह की शर्तें सामने रखी थीं। छोटी शर्तें, बड़ी शर्तें। गम्भीर शर्तें, बचकानी शर्तें। उद्देश्य केवल एक था। शर्तें अस्वीकार कर दी जाएं। माउण्टबेटन को उस पीड़ाजनक कार्य से मुक्ति मिल जाए।

लेकिन एटली ने सारी शर्तें स्वीकार कर ली थीं। माउण्टबेटन को लगा था, वह अपने ही शब्दों के जाल में फंसता जा रहा है।

इसके बावजूद, केबिनेट-कक्ष में दाखिल होते समय उसके मन की यह आशा पूरी तरह मरी नहीं थी कि एटली को हतोत्साहित करने का कोई-न-कोई उपाय वह करेगा ही।

माउण्टबेटन का प्रिय हवाई जहाज था 'यार्क एम.डब्ल्यू. 102,' जिसे उसने दक्षिण-पूर्वी एशिया में मन से उपयोग किया था। उसकी अनेक शर्तों में से एक यह भी थी कि भारत में 'यार्क' को वह अपने साथ रखेगा। सचिव कुल कितने दिए जाएँ, यह भी उसने शर्त के रूप में बता दिया था। काश, कोई तो शर्त ऐसी होती, जिसे एटली अस्वीकार कर देते!

यह बात ही अपने-आप में कम अजब नहीं थी कि लेबर पार्टी का प्रधानमंत्री, माउण्टबेटन जैसे शाही घराने के व्यक्ति को आमन्त्रित करे। आमन्त्रित भी एक ऐसे कार्य के लिए, जो शाही परम्पराओं पर कुठाराघात करने जैसा हो।

माउण्टबेटन और उसकी पत्नी को जनता का अतुल स्नेह प्राप्त था। देश–विदेश के अखबार उस शाही युगल की प्रशंसा में भरे रहते। अंग्रेज जनता, माउण्टबेटन दम्पति को, अपने शासन–तन्त्र के एक महत्वपूर्ण आधार–स्तम्भ के रूप में देखती थी।

जनता चाहे किसी भी रूप में देखे, क्या सत्तारूढ़ लेबर–पार्टी के लिए माउण्टबेटन दम्पत्ति केवल खतरनाक प्रतिद्वन्द्वी नहीं थे? इसके बावजूद, उसी लेबर पार्टी के प्रधानमंत्री क्लिमेण्ट एटली ने ......

क्यों?

क्या इसलिए नहीं कि माउण्टबेटन को दक्षिण पूर्वी एशियाई देशों का अत्यन्त विशाल सैनिक अनुभव था?

लुई माउण्टबेटन ने एशिया के अनेक राष्ट्रीय आन्दोलनों को आमने–सामने देखा था। इण्डो–चायना के हो ची मिन्ह, इण्डोनेशिया के सुकार्नो, बर्मा के आंग सैन, मलाया के कम्यूनिस्टों और सिंगापुर के धाकड़ ट्रेड संगठन बाजों आदि से माउण्टबेटन का पाला पड़ चुका था।

माउण्टबेटन ने भांप लिया था कि इन्हीं आन्दोलनकारियों और जन–नेताओं में एशिया का भविष्य छिपा हुआ है। इसीलिए माउण्टबेटन ने उन्हें दबाने और कुचलने की परम्परागत रणनीति को छोड़कर, एक ही छप्पर के नीचे उन के साथ मिलजुल कर रहने की नीति अपनाई थी।

यदि माउण्टबेटन को भारत जाना ही पड़ा, तो उसका आमना–सामना एक ऐसे राष्ट्रीय आन्दोलन से होगा, जो उस अंचल में सबसे पुराना तो था ही, सबसे अजब भी था। एक–चौथाई शताब्दी से वह निरन्तर चला आ रहा था और उसने मानव इतिहास के सबसे बड़े साम्राज्य को हिला दिया था। भारत पर से शासन समेट लेने का जो निर्णय एटली सरकार ने लिया, क्या वह उसी राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतिध्वनि नहीं था?

प्रधानमंत्री एटली ने, भारत–भूमि के सामान्य दृश्य की औसत विवेचना से, अपनी बात प्रारंभ की। उसने स्पष्ट स्वीकार किया कि एक–एक दिन बीतने के साथ भारत की स्थिति और–अधिक विस्फोटक होती जा रही है। वक्त आ गया है, जब फौरन कुछ किया जाना चाहिए।

सचमुच यह एक ऐतिहासिक विडम्बना थी कि आखिर जब इंग्लैण्ड भारत को आजाद करने के लिए राजी हो गया था, तो उसे यह तरीका नहीं सूझ रहा था कि जिसे भारत को आजाद करते समय अपनाया जाता।

बाहरी आदमी बड़ी आसानी से ऐसा कह सकता था कि ठीक है; भारत को जब छोड़ ही देना है, तो छोड़ दो और चल दो; लेकिन भीतरी आदमी कभी इससे सहमत न होता।

भीतरी आदमी, विवेकशील और जानकार आदमी, तुरन्त यह भविष्यवाणी कर देता कि भारत को यदि अचानक आजाद कर दिया गया, तो वह देश जिस भयानक गृह-युद्ध की लपटों में जलकर खाक हो जाएगा, उसके लिए सारी दुनिया इंग्लैण्ड को ही दोषी ठहराएगी। हिंसा और प्रतिहिंसा की ऐसी आग भड़क उठेगी, जैसी पिछली साढ़े तीन शताब्दियों में कभी देखी तो क्या, सोची भी नहीं गई।

भारत के तीस करोड़ हिन्दुओं और दस करोड़ मुसलमानों के बीच पीढ़ी दर-पीढ़ी जो अदम्य वैमनस्य चला आ रहा था—समस्या का मूल वही था।

कुछ परम्परा का दोष। धार्मिक और आर्थिक विडंबनाओं का दोष। कुछ स्वयं अंग्रेजों की 'फूट डालो, राज करो' वाली नीति का दोष। सब का मिलाजुला नतीजा यह रहा कि हिन्दू और मुसलमानों की आपसी नफरत चरम सीमा को भी पार कर गई। वे एक-दूसरे के खून के प्यासे हो चुके थे-इतने ज्यादा कि उनमें और पशुओं में शायद ही कोई अन्तर रह गया था।

मुसलमान नेता मांग कर रहे थे कि इंग्लैण्ड ने विकट समस्याओं के बाद पूरे भारत को जो एकरूपता दी थी, उसी को स्वयं इंग्लैण्ड, अपना शासन उठाने से पहले, भंग कर दे। भारत को टुकड़ों में बांट दिया जाए। एक टुकड़ा मुसलमानों का और एक हिन्दुओं का।

मुसलमान नेताओं ने साफ धमकी दी थी कि यदि उन्हें अलग जमीन नहीं मिली, तो वे सारे देश को खून से रंग देंगे। पूरे एशिया ने वैसा वीभत्स गृह--युद्ध कभी न देखा होगा।

दूसरी तरफ—

ऐसी ही दृढ़ता हिन्दू नेताओं में भी थी, जो सामान्यत: कांग्रेस पार्टी के नाम से जाने जाते थे। कांग्रेस को कुछेक मुसलमान नेताओं का भी बल प्राप्त था। उनके अनुसार, भारत का विभाजन करना इस विशाल प्राचीन और सांस्कृतिक देश का अंग-भंग करना ही होगा-देश, जो उनकी पवित्र जन्मभूमि थी।..

इन दो घोर विरोधी विचारों के बीच इंग्लैण्ड की दशा सांप-छछुंदर जैसी हुई जा रही थी। उसे भारत का त्याग जल्दी से जल्दी करना था, लेकिन उस कलंक से भी अपना दामन बचाये रखना था, जो हड़बड़ी में किए गए शासन त्याग के फलस्वरूप उसके माथे पर लग सकता था।

फील्ड-मार्शल सर आर्किबाल्ड वैवेल, उन दिनों, भारत का वायसराय था। उसकी ईमानदारी पर प्रश्न-चिन्ह कोई नहीं लगा सकता था, किन्तु भारत के हिन्दू-मुसलमान नेताओं के साथ वह सही संवाद कायम नहीं कर पाया था।

इसीलिए, भारत में नया वायसराय शीघ्र भेजने की जरूरत थी। कोई नया चेहरा, और नई सोच।

एटली ने माउण्टबेटन को बताया कि हर सुबह भारत से जो केवल-सन्देश प्राप्त हो रहे हैं, वे सचमुच डरावने हैं। रोज भारत का कोई नया कोना कौमी दंगों की लपेट में आ रहा है। खून की नदियां बहने की तैयारी में है।

ऐसी नदियां सचमुच बहने लगें, इससे पहले इंग्लैण्ड को भारत से निकल जाना चाहिए। दूसरी ओर—

यह भी एक सच्चाई है कि इंग्लैण्ड यदि हड़बड़ी में निकला, तो इसी कारण से खून की नदियां बहना चालू हो जाएंगी।

अंग्रेजों के जाने के बाद, भारत की आंतरिक सुरक्षा का ढांचा लड़खड़ा कर गिर न जाए-इसका आश्वासन पाना अत्यन्त आवश्यक था।

लेकिन यह आश्वासन पाया कैसे जाए?

नए वायसराय को इसी के लिए किसी उपाय की खोज करनी थी।

माउण्टबेटन ज्यों-ज्यों एटली की बातें सुन रहा था, त्यों-त्यों उसकी आशंका बढ़ती जा रही थी। भारत के वर्तमान वायसराय वैवेल को वह व्यक्तिगत रूप से जानता था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के उच्चतम एलायड कमाण्डर के पद पर कार्य करते समय माउण्टबेटन कई बार दिल्ली गया था। भारत की समस्याओं को लेकर उसने वैवेल के साथ अनेक चर्चाएं की थीं।

वैवेल के विचारों के साथ माउण्टबेटन की पूर्ण सहमति थी। 'यदि वैवेल कुछ नहीं कर पा रहा है, तो मैं वहां जाकर क्या करूंगा?' यह प्रश्न माउण्टबेटन के मस्तिष्क पर बार-बार चोट कर रहा था।

इसके बावजूद—

क्रमशः स्पष्ट हो रहा था कि समस्या का भार उठाने से बचना सम्भव नहीं होगा। उसे मजबूरन एक ऐसी जिम्मेदारी स्वीकार करनी पड़ेगी, जिस में विफल होने की ही ज्यादा संभावना थी। यह विफलता उसे चुटकियों में धूमिल कर सकती थी, जिसे उसने युद्ध के दिनों में हथेली पर जान रख कर अर्जित किया था।

यदि एटली ने इस जिम्मेदारी को उठाने के लिए उसे मजबूर किया, तो वह भी एटली को मजबूर करेगा। प्रधानमंत्री से वह कुछ ऐसी राजनीतिक शक्तियाँ मांगेगा, जो आज तक किसी वायसराय को नहीं दी गईं, लेकिन जिन्हें पाए बिना माउण्टबेटन अपनी सफलता की कतई आशा नहीं रख सकता था। वैवेल के साथ चर्चाएं करके माउण्टबेटन ने समझ लिया था कि उसे किन नई राजनीतिक शक्तियों की अनिवार्य रूप से जरूरत पड़ेगी।

''मैं यह पद तब तक स्वीकार नहीं करूंगा, जब तक हमारी सरकार इस पर सहमत नहीं होती कि भारत को आजादी देने की एक निश्चित तारीख घोषित हो जानी चाहिए। ऐसी घोषणा के बाद ही भारतीय नेताओं को महसूस होगा कि इंग्लैण्ड भारत का त्याग वास्तव में करना चाहता है।'' माउण्टबेटन ने प्रधानमंत्री से कहा, ''तभी ये नेता अपनी भावुकता से छूट कर असलियत को पहचान सकेंगे और इनमें शीघ्रता से मशविरा करने की ललक पैदा होगी।''

दूसरी शर्त उसने वह रखी, जो किसी वायसराय ने आज तक नहीं रखी थी। "मुझे हक मिलना चाहिए कि मैं लन्दन से किसी भी प्रकार का विचार-विमर्श किए बिना, अपने फैसले आप कर सकूं। मैं न तो विचार-विमर्श करूंगा और न लन्दन से आए दिन मिलने वाले आदेशों का ही पालन। अंग्रेज सरकार मुझे मेरी मंजिल तो दे सकती है, लेकिन उसका रास्ता केवल मैं तय करूंगा। मुझे केवल अपने बल पर नाव खे कर ले जानी होगी।"

"क्या कहते हैं ? एटली चकित हो गया, क्या आपको सरकार से भी अधिक शक्ति चाहिए ? ताकि आप स्वयं सरकार की अवहेलना कर सकें ?"

"हाँ, श्रीमान !" माउण्टबेटन ने ठण्डे दिल से जवाब लौटाया, "सचमुच मैं इतनी शक्ति चाहता हूँ। काम अत्यन्त शीघ्रता से किया जाना है या नहीं ? शीघ्रता कैसे बरती जाएगी, यदि कदम-कदम पर मुझे लन्दन से पूछताछ करनी पड़ी ?"

इस पर जो सन्नाटा खिंचा, वह रोमांचक था। माउण्टबेटन ने अत्यन्त सन्तोष के साथ गौर किया कि उसकी इस शर्त ने प्रधानमंत्री की जैसे सांस ही रोक दी थी। माउण्टबेटन के मन में हल्की-हल्की आशा जगने लगी....... शायद यह प्रस्ताव अब वापस ले लिया जाए।

ठीक विपरीत—

प्रधानमंत्री ने एक ऐसी उसांस ली, जिससे साफ झलक आया कि उतनी कड़ी शर्त भी मंजूर हो गई है।

घण्टे भर बाद, डाउनिंग स्ट्रीट के उस बड़े-से दरवाजे से, माउण्टबेटन जब बाहर निकला; तो उसके कन्धे झुके हुए थे। भारत का अन्तिम वायसराय बनने के लिए वह अभिशप्त था। वायसराय या जल्लाद ? उसे अंग्रेज जनता के सबसे प्रिय, सबसे लाड़ले सपने की हत्या करनी होगी।

कार में वापस बैठते समय एक विचित्र बात उसके ध्यान में आई। एक-एक घंटे का हिसाब लगाएं, तो भी; आज उस दिन को ठीक सत्तर वर्ष पूरे हो रहे थे; जब रानी विक्टोरिया को, दिल्ली से बाहर के एक मैदान में, भारत की साम्राज्ञी घोषित किया गया था— और माउण्टबेटन उसी रानी का प्रपौत्र था। सारे भारत के राजा-महाराजा उस शुभ अवसर पर एकत्र हुए थे। उन्होंने एक-स्वर में ईश्वर से प्रार्थना की थी कि रानी विक्टोरिया की शक्ति और प्रभुसत्ता हमेशा-हमेशा के लिए अखण्ड रहे।

आज, जब नए साल का पहला दिन है; उसी रानी विक्टोरिया के प्रपौत्र ने वह प्रक्रिया शुरु कर दी है; जिससे एक ऐसी तारीख तय होगी जब उस प्रार्थना में से 'हमेशा-हमेशा के लिए' शब्दों को हमेशा के लिए लुप्त हो जाना पड़ेगा।

दुनिया के महानतम चमत्कारों के मूल में, कभी-कभी, निहायत मामूली घटनाएं बैठी होती हैं। मात्र पांच शिलिंग के चक्कर में इंग्लैण्ड ने एक ऐसी राह पकड़ ली थी, जो आगे चलकर भूमि-विजय के एक महानतम पराक्रम का रूप लेने वाली थी।

डच समुद्री-लुटेरों ने, जो मसालों के व्यापार पर एकाधिपत्य रखते थे, 'पिपर' के दामों में प्रति पौण्ड सिर्फ पांच शिलिंग की बढ़ोतरी यकायक की।

यह वृद्धि अंग्रेजों को सख्त नागवार गुजरी। 24 सितम्बर, 1599 का दिन। दोपहर झुक रही थी। लन्दन के चौबीस व्यापारी लेडनहाल स्ट्रीट के एक खस्ता भवन में एकत्र हुए। उनका उद्देश्य था-सामान्य क्षमताओं वाली एक ऐसी व्यापार संस्था की स्थापना करना, जो 72,000 पौण्ड की प्रारम्भिक पूँजी से काम शुरू करे। यह पूँजी 125 हिस्सेदारों के चन्दे द्वारा खड़ी की जानी थी।

संस्था का उद्देश्य अत्यन्त सीधा और सरल था—लाभ कमाना। यही व्यापार संस्था फैलती और फूलती गई। इसी ने एक दिन भारत में अंग्रेजों का राज्य जमा दिया, जो तत्कालीन पूँजीवाद का एक अत्यन्त सच्चा प्रतीक बन गया। जो कहानी सामान्य लाभ से शुरू हुई, वही शोषण और ऊहापोह की अद्‌भुत गाथा में बदल गई।

24 अगस्त, 1600 के दिन, सूरत के मामूली बन्दरगाह में, अंग्रेजों के व्यापारी जहाज, 'हेक्टर' ने लंगर डाला। भारत में अंग्रेजों ने पहली बार चरण रखे। 'हेक्टर' का कप्तान था विलियम हॉकिन्स। वह नाविक कम और लुटेरा अधिक था।

वह सूरत से आगरा की ओर चला। वहां उसकी भेंट बादशाह जहांगीर से हुई, **जो इतना धनवान् और समर्थ था कि उसकी अपेक्षा इंग्लैण्ड की रानी मामूली सूबेदारिन से ज्यादा नहीं ठहरती थी।**

जहांगीर ने अंग्रेजों का वह स्वागत किया कि यदि 'ईस्ट इण्डिया ट्रेडिंग कम्पनी' के 125 हिस्सेदारों ने उसकी अंश मात्र भी झलक पा ली होती, तो मारे द्वेषता के वे अपनी हिस्सेदारी छोड़ देते!

स्वागत के अलावा; जहांगीर ने एक शाही फरमान भी जारी किया, जिससे अंग्रेजों को बम्बई के उत्तर में अपनी कोटियां खड़ी करने और व्यापार चलाने की खुली छूट मिल गई। शीघ्र ही 'ईस्ट इण्डिया ट्रेडिंग कम्पनी' के दो जहाज प्रति माह भारत आते और माल उतारने लगे। भारत का जो अनोखा माल वे इंग्लैण्ड ले गए, वह खूब तेज दामों पर बिका। कम्पनी के भाग्यशाली हिस्सेदारों को 200% तक लाभ मिलने लगा।

प्रारम्भ में अंग्रेजों ने 'व्यापार, न कि भूमि' वाली नीति पर कार्य किया, लेकिन व्यापार और राजनीति हमेशा साथ-साथ चलते हैं। भारतीय राजनीति से अंग्रेज अपने-आपको ज्यादा दिनों तक अलग नहीं रख सकते थे।

23 जून, 1757 के दिन राबर्ट क्लाइव नामक अंग्रेज जनरल ने 900 अंग्रेजों और 2000 हिन्दुस्तानी सिपाहियों की सेना लेकर बंगाल के गांव प्लासी में, एक भारतीय नवाब को हराया।

और भारतीय भूमि पर अंग्रेजों के आधिपत्य की शुरुआत हो गई 'व्यापार, न कि भूमि' वाली नीति पलट कर 'भूमि, न कि व्यापार' का रूप ले बैठी। जो मुनीम और सौदागर बनकर आए, वे जनरल और गर्वनर बन कर शासन करने लगे। मुगल शासकों के उत्तराधिकारियों के रूप में अंग्रेजों ने स्वयं को स्थापित कर लिया।

स्वाभाविक था कि भारतीय असन्तुष्ट हो जाते। सन् 1857 के गदर में यह असन्तोष, भारी उग्रता से प्रकट हुआ। गदर का सबसे बड़ा परिणाम यह रहा कि 258 वर्ष की लाभप्रद गतिविधियों के बाद 'ईस्ट इण्डिया ट्रेडिंग कम्पनी' समाप्त कर दी गई। लगभग तीस करोड़ भारतीयों का भाग्य एक 39 वर्षीय महिला को सौंप दिया गया, जिस का नाम था रानी विक्टोरिया और जिसके प्रतिनिधि के रूप में वायसराय ने आकर भारत पर शासन शुरू कर दिया। वायसराय की हैसियत नामजद राजा से किसी तरह कम नहीं थी।

इसके बाद से अंग्रेजों के मन में यह विश्वास जड़ें जमाता गया कि गोरी अंग्रेज जाति श्रेष्ठ और ऊंची है। काले भारतीय नीच और मूर्ख हैं। उन पर शासन करने की जिम्मेदारी 'ईश्वर' नामक रहस्यमय शक्ति ने, अंग्रेजों के ही कन्धों पर रखी है। अंग्रेज वह जाति है, जो केवल जीतने और शासन करने के लिए पैदा होती है।

1857 के बाद अंग्रेजों ने अपनी सैन्य-शक्ति अत्यन्त तीव्रता से बढ़ाई। 'नीच और मूर्ख' भारतीयों पर शासन चलाने की दैवी जिम्मेदारी का वहन करने के लिए अंग्रेजों ने आई.सी.एस. (इण्डियन सिविल सर्विस) अर्थात् भारतीय सामान्य सेवा की स्थापना की, जिसमें 2000 अंग्रेज अधिकारी नियुक्त हुए। 10,000 अंग्रेज अधिकारियों को भारतीय सेना सौंप दी गई। तीस करोड़ की जनसंख्या को अनुशासन में रखने के लिए साठ हजार अंग्रेज सिपाही आ धमके। उनके अतिरिक्त, दो लाख भारतीय सिपाही 'भारतीय सेना' में थे ही।

भारत में अंग्रजों की शासन-पद्धति, शुरू से, कुछ ऐसी रही, जैसी कोई बूढ़ा स्कूल मास्टर कक्षा के उजड्ड विद्यार्थियों को, बेंत के जोर पर सही करने निकला हो। इस स्कूल मास्टर को पूरा विश्वास था कि विद्यार्थियों को जो शिक्षा वह दे रहा है, वही उनके लिए सही और सर्वश्रेष्ठ है।

यदि अपवादों को छोड़ दें, तो अंग्रेज अधिकारी अपनी योग्यता और भ्रष्टाचार हीनता का ही परिचय देते थे। वे पक्का फैसला करके घर से निकलते थे कि भारत के हितों की हर सूरत में रक्षा करेंगे। लेकिन समस्या केवल यह थी कि भारत के हितों की रक्षा कहाँ है और कहाँ नहीं, इसका निर्णय वे भारतीयों को न करने देकर स्वयं किया करते थे।

उनकी सबसे बड़ी कमजोरी थी वह दूरी, जिसे वे भारतीयों और स्वयं के बीच हमेशा बनाए रखना चाहते थे। भारतीयों पर शासन वे उनके साथ घुल-मिलकर नहीं, बल्कि उनसे दूर रहकर करते थे। उठते-बैठते, सोते-जागते हर क्षण उन्हें याद रहता कि वे एक ऐसी जाति के सदस्य हैं, जो केवल जीतने और शासन करने के लिए पैदा होती है।

इस जाति के छह लाख अस्सी हजार सदस्यों को प्रथम विश्व युद्ध ने मौत के घाट उतार दिया।

इसके साथ ही उस सपने का टूटना शुरू हुआ, जो इस जाति का सबसे प्रिय, सबसे लाड़ला सपना था-भारत........... सोने की चिड़िया......

यदि विश्व-युद्ध ने छह लाख अस्सी हजार अंग्रेज न मार दिए होते, तो भारत के सीमान्तों पर गश्त लगाने के लिए नौजवानों की पूरी नई पीढ़ी तैयार खड़ी थी। जिलों और तहसीलों के हर छोटे-बड़े सरकारी पद पर अंग्रेज आ जाते।

लेकिन विश्व-युद्ध ने उनका इतने बड़े पैमाने पर भक्षण किया कि वे तौबा बोल गए। 1918 के बाद, 'इण्डियन सिविल सर्विस' में अंग्रेजों की भरती दिनों दिन कठिन होती गई। अन्ततः उन्हें भारतीयों की सेवाएं स्वीकार करनी पड़ीं।

1947 के नव-वर्ष दिवस पर, मुश्किल से एक हज़ार अंग्रेज 'इण्डियन सिविल सर्विस' में रह गए थे। भारत की चालीस करोड़ जनता को उन मुट्ठी भर अंग्रेजों ने, न जाने कैसे, अपनी शासकीय क्षमताओं से जकड़ रखा था।''

❑❑❑

2

'चल अकेला, चल अकेला.......'

श्रीरामपुर, नोआखाली, नए साल का पहला दिन, 1947

डाउनिंग स्ट्रीट से छह हजार मील दूर, बंगाल की खाड़ी पर, गंगा नदी के डेल्टा में, कोई एक गाँव। वहाँ किसी किसान की कोई एक झोंपड़ी। उसके धूल-भरे धरातल पर एक बुजुर्ग आदमी सोया हुआ था। दोपहर के ठीक बारह बजे थे।

जैसा कि वह व्यक्ति रोज ठीक बारह बजे किया करता था; उसके सहयोगी ने एक गीला, सूती थैला उसकी तरफ बढ़ाया। थैले को उसने यन्त्रवत् ले लिया और अपने पेडू पर सावधानी से रखा। थैले में गुंधी हुई काली मिट्टी। सूती कपड़े के आरपार उस मिट्टी का पानी छनता आ रहा था।

मिट्टी का ऐसा ही एक और थैला, जो आकार में जरा छोटा था, उस मर्द ने लिया और अपने गंजे सिर पर रखकर थपथपाया।

धरातल पर सोया वह व्यक्ति, उस समय, बड़ा कमजोर और नन्हा-सा लग रहा था। असलियत कुछ और थी। झुर्रियों से सना, 77 वर्ष का वह बूढ़ा आदमी, जिसका पोपला चेहरा, मिट्टी के थैले के नीचे, आत्मविश्वास से चमक रहा था, इतना शक्तिशाली था कि अंग्रेज साम्राज्य की जड़ें जितनी उस बुढ़ऊ ने खोदी थी, उतनी अन्य किसी जीवित व्यक्ति ने नहीं। बुढ़ऊ ही वह व्यक्ति था, जिसके कारण अंग्रेज प्रधानमंत्री ने मजबूर होकर रानी विक्टोरिया के प्रपौत्र को नई दिल्ली की तरफ रवाना किया था, ताकि भारत को आजादी देने का कोई सही तरीका ढूंढ़ा जा सके।

मोहनदास कमरचन्द गांधी पूर्णतया मौलिक क्रान्तिकारी थे। उस कोमल महात्मा ने आजादी की लड़ाई लड़ने की एक ऐसी कठोर शैली ढूंढ़ निकाली थी, जिसकी शक्ति और मौलिकता की पूरी दुनिया में कोई मिसाल नहीं थी।

बगल में, सावधानी से पॉलिश किए हुए, नकली दांत रखे थे, जिन्हें गांधी जी केवल भोजन करते समय पहनते थे। इस्पाती फ्रेम का चश्मा भी वहीं पड़ा था, जिसके आरपार उनकी अनुभवी बूढ़ी आंखें इस नादान दुनिया का निरीक्षण किया करतीं। गांधी जी नाटे कद के व्यक्ति थे—मुश्किल से पांच फीट। भार केवल सिर्फ 114 पौण्ड। हाथ-पैर आवश्यकता से अधिक लम्बे। प्रकृति ने चाहा था कि गांधी जी का चेहरा सुन्दर न हो। काफी बड़ा सिर। उसमें दोनों तरफ बड़े-बड़े कान कुछ इस प्रकार निकले हुए, मानो कप के हैण्डिल। मोटे नथुनों के सहारे टिकी नाक। नीचे विरल, सफेद मूंछें। मुंह में अगर नकली दांत न होते, तो उनके दोनों होंठ नंगे मसूढ़ों के बीच दबकर लुप्त-से हो जाते।

इसके बावजूद—

गांधी जी के चेहरे से सादगी, ईमानदारी और भलमनसाहत की जो किरणें निरन्तर फूटती रहती थीं, उन्होंने उस चेहरे को निहायत प्यारा बना दिया था। उनकी इन्सानियत उन की जिद, उन की मसखरी भावों को व्यक्त करने की उनकी अलौकिक क्षमता, उनकी नारीसुलभ स्नेहशीलता......... उस असुन्दर चेहरे में सौन्दर्य का सागर लहराता था।

उन दिनों, जब हिंसा की प्रतिष्ठा अपने चरम पर थी, गांधी जी ने अहिंसा का एक ऐसा सिद्धान्त सामने रखा, जिसमें मानव जाति के लिए आशा की नई किरणें थीं। हथियार से नहीं, मनोबल से लड़ो। मशीनगन की गोलियों से नहीं, प्रार्थनाओं से लड़ो। बमबारी और चीख पुकार से नहीं, खामोशी और धैर्य से लड़ो। उन के इस सन्देश ने भारत के भीड़-भड़क्के में जैसे बिजली दौड़ा दी। भारतीय जनता अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़ी हुई।

पश्चिमी यूरोप में जब तानाशाह गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे थे और धू-धू कर जलती इमारतें भयानक शोर के साथ गिर रही थीं, तब भारत में, जो दुनिया की अत्यधिक घनी आबादी का देश है, गांधी जी ने एक-एक व्यक्ति तक अपना सन्देश ऐसी शान्ति के साथ पहुंचाया था कि उन्हें अपना स्वर भी ऊंचा करने की जरूरत नहीं पड़ी थी।

अनुयायी एकत्र करने के लिए गांधी जी ने उन्हें कोई सब्ज-बाग दिखाना तो दूर, उल्टे चेतावनी ही दी थी—

'जो मेरे साथ हैं, उन्हें नंगे फर्श पर सोना, खुरदरे कपड़े पहनना, सूर्योदय से पहले उठना, सादा और स्वादहीन भोजन करना, यहां तक की संडास भी स्वयं साफ करना होगा।'

शोख रंगों के गणवेश और झंकारपूर्ण तमगे देने की अपेक्षा गांधीजी ने अपने अनुयायियों को हाथ से कते, बुने और सिले कपड़े पहनाए—खादी। जिस-जिस ने खादी पहनी, वह एक-दूसरे का भाई हो गया। एकता और भाईचारे का मनोवैज्ञानिक असर खादी ने उसी प्रकार पैदा किया, जिस प्रकार यूरोप के तानाशाहों ने अपने अनुयायियों को भूरी या काली कमीजें पहना कर उन्हें एक ही छत के नीचे लाते समय किया था।

उन दिनों भारत में आधुनिक संचार-साधनों का गहरा अभाव था। इसके बाजवूद गांधी जी का सन्देश बच्चे-बच्चे, बूढ़े-बूढ़े तक पहुंच गया। गांधी जी अपने अधिकांश पत्र स्वयं लिखते और 'लांग-हैण्ड' में लिखते। अपने अनुयायियों से वह बातें करते—बातें, बातें,बातें......... कांग्रेस पार्टी की बैठक हो, दैनिक प्रार्थना-सभाएं हों, कोई भी सार्वजनिक या अर्द्ध सार्वजनिक अवसर हो गांधी जी बोलते और जो वह बोलते, वह देश भर में फैल जाता। अत्यन्त सादे, सरल, ग्रामीण उपायों से गांधी जी देश की जनता को झिंझोड़ सकते थे।

और उन्होंने अंग्रेज साम्राज्य को भी झिंझोड़ कर रख दिया। यह बात कोई कम रोमाचंक नहीं कि गांधी जी ने भूख का एक हथियार के रूप में सफलतापूर्वक उपयोग किया- उस भूख को, जिसने सदियों से भारत के आम आदमी को परेशान करके उस की हड्डी-हड्डी बाहर निकाल दी थी। गांधी जी ने स्वयं को भूखा रखा—उपवास किए। वह भोजन नहीं करते, मात्र पानी. और सोड़ा बायकार्बनेट पीते थे...... और इतने से ही महान् इंग्लैण्ड का सिंहासन डोल गया!

ईश्वर से आक्रान्त देश भारत ने उनके हड्डी-हड्डी शरीर में, उनके अत्यन्त सरल किन्तु मारक उपायों में, एक अलौकिक महात्मा के दर्शन कर लिए थे। गांधी जी जहां भी गए, जनता पीछे रही। वह अपनी शताब्दी के सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति थे। अनुयायियों के लिए वह महात्मा थे। अंग्रेजों के लिए, जिन्हें खास उन्हीं के कारण शीघ्रताशीघ्र भारत छोड़ना पड़ रहा था, वह एक अड़ंगेबाज राजनीतिज्ञ, एक बोगस मसीहा थे। उनके अहिंसक आन्दोलन सदैव हिंसा पर समाप्त होते थे। उनके उपवास शुरू तब तक के लिए होते, जब तक मृत्यु न आ जाए, लेकिन जब वास्तव में मौत आने लगती, तो उपवास पहले ही टूट चुके होते। वैवेल जैसे व्यक्ति को भी, जिसे सबने एक दयालु वायसराय माना है, मोहनदास करमचन्द गांधी से नफरत थी। वैवेल ने गांधी जी को सदैव एक घाघ, जिद्दी और स्वार्थी राजनीतिज्ञ कहा; जिसकी जुबान पर कोई भरोसा न हो और महात्माओं जैसे गुण जिसकी परछाई को भी न छू सके हों।

लेकिन जनता ने मान लिया था कि गांधी जी जहां-जहां जाते हैं, वहीं भारत की राजधानी चली जाती है। नए वर्ष के उस प्रथम दिवस, भारत की राजधानी बंगाल के उस छोटे से गांव श्रीरामपुर में थीं, जहां वह महात्मा मिट्टी के थैले स्वयं पर रख कर अपना निसर्गोपचार कर रहा था। श्रीरामपुर ...... जहां से टेलीफोन या टेलीग्राफ की निकटतम लाइन भी तीस मील पैदल चलने के बाद आती थी।

नोआखाली का क्षेत्र, जिसमें श्रीरामपुर स्थित है, उन दिनों भारत के सर्वाधिक दुर्गम क्षेत्रों में गिना जाता था। गंगा और ब्रह्मपुत्रा के दलदली डेल्टा में छोटे-छोटे द्वीपों की जो भूल-भूलैया थी, उसी का दूसरा नाम था नोआखाली। वह मुश्किल से चालीस मील के वर्ग में फैला हुआ था, जिसमें पच्चीस लाख की जनसंख्या थी—80 प्रतिशत मुसलमान। वे गांव नालों, झरनों और नहरों के कारण परस्पर कटे हुए थे। आने-जाने के लिए पतवार वाली नौकाओं का

उपयोग किया जाता। जगह-जगह बांस, लकड़ी और रस्सों के पुल थे, जो खतरनाक ढंग से डोलते रहते। उन के नीचे से पानी बड़ी तेजी से गुजरता रहता।

श्रीरामपुर में सन् 47 का नव-वर्ष दिवस, गांधी जी के लिए महानतम सन्तोष का दिवस होना चाहिए था, क्योंकि जिस मंजिल तक पहुंचने के लिए उन्होंने तमाम उम्र संघर्ष किया था, वह अब सामने ही थी : **भारत की आजादी।**

मगर..........

ज्यों-ज्यों वह मंजिल नजदीक आ रही थी, गांधी जी की उदासी बढ़ती जा रही थी। इस उदासी का जो कारण था वह उस गाँव के कण-कण में चुनौती भरा अट्टाहस कर रहा था, जहाँ गांधी जी ने अपना खेमा गाड़ रखा था। श्रीरामपुर का नाम, अपनी पूरी वीभत्सता के साथ, उस प्रत्येक रिपोर्ट में खीसें निपोड़ता दिखाई पड़ता जो लगभग रोज क्लिमेण्ट एटली को भेजी जा रही थी। कलकत्ता में हिन्दुओं ने मुसलमानों का संहार किया। फलस्वरूप मुसलमान नेताओं ने अपने स्वधर्मियों को इस प्रकार भड़काया कि श्रीरामपुर के मुसलमान पूरे नोआखाली के ही मुसलमान बिदक गए और अचानक उन हिन्दुओं पर टूट पड़े, जिनकी जनसंख्या वहाँ केवल 20% थी और जिन के साथ वे वर्षों से भाई-भाई की तरह रहते आ रहे थे।

उन्होंने हिन्दुओं को लूटा, हत्या की, उन की स्त्रियों से बलात्कार किए, उन्हें उन की पवित्र गऊ माता का मांस खाने पर मजबूर किया। श्रीरामपुर की तमाम हिन्दू झोंपड़ियाँ जला कर खाक कर दी गई थी। बचेखुचे हिन्दू चावल के खेतों में भाग गए थे। जिस झोपड़ी में गांधी जी आकर ठहरे, वह भी आधी जली हुई थी।

नोआखाली का क्षेत्रफल भले ही ज्यादा न हो, लेकिन जिस धार्मिक नफरत ने वहां हिंसा की आग भड़काई थी, उस की चिनगारियां बड़ी आसानी से देश भर में पहुंच सकती थी। इतने बड़े देश में यदि एक साथ हिंसा का जलजला आ गया, तो ?

नोआखाली से पहले कलकत्ता में जो हुआ, फिर उत्तर-पश्चिम बिहार में जो हुआ....... बराबरी की निर्दयता से जिस प्रकार हिन्दू-मुसलमान अपने पड़ोसियों पर टूट पड़े, उसे यदि ध्यान में रख कर सोचा जाता, तो यह समझना कतई कठिन नहीं कि अंग्रेज प्रधानमंत्री एटली, नए वायसराय के रूप में माउण्टबेटन को, शीघ्रताशीघ्र दिल्ली भेज देने के लिए उस सीमा तक आतुर क्यों था.............

इसी आधार पर वह भी आसानी से समझा जा सकता है कि गांधी जी उन दिनों श्रीरामपुर में क्यों मौजूद थे।

ज्यों-ज्यों आजादी और विजय का गर्वीला क्षण नजदीक आता जाए, त्यों-त्यों अहिंसा के अनुयायी भारतवासी वीभत्स हिंसा पर उतर आएं और धर्मान्ध होकर एक-दूसरे के गले काटने लगें-इस बात ने गांधी जी का दिल तोड दिया था और भारतवासी अपने लाडले महात्मा

के पीछे-पीछे बरसों-बरस से चलते तो रहे थे, लेकिन क्या अभी तक वे अहिंसा का सच्चा अर्थ समझ पाए?

यदि गांधी जी ने अपने ही अनुयायी, अहिंसा छोड़ कर, हिंसा के पुजारी बन बैठे, तो जो आजादी गर्व और रोमान्च से सनसना जानी चाहिए थी, क्या वही आजादी बिल्कुल व्यर्थ नहीं हो जाएगी? एक ऐसी जीत में नहीं बदल जाएगी, जो हार जैसी हो? बल्कि .... हार से भी बदतर?

एक और खतरा था, जो मोहनदास कमरचन्द गांधी के अस्तित्व को धमका रहा था भारत के विभाजन की मांग....... विभाजन भी धर्म के आधार पर........... गांधी के अस्तित्व का अणु-अणु इस मांग के विरोध में चीत्कार कर रहा था। मांग.......... जो मुसलमान नेताओं ने पूरी जिद के साथ उठाई थी। मांग..............जिसे अब अनेक अंग्रेज शासकों का समर्थन मिलने लगा था।

"देश का विभाजन करने से पहले मेरे शरीर का विभाजन करना होगा।" महात्मा ने बार-बार स्पष्ट चेतावनी दी थी।

और वह श्रीरामपुर आ पहुंचे थे—खुद अपने विश्वास की खोज में। यदि वह खोज विफल रही, तो पूरा देश मौत की खाई में छलांग लगा देगा।

कई दिनों तक गांधी जी उस गांव में भटकते रहे। वहां के निवासियों से बातचीत की। ईश्वर में ध्यान लगा कर बैठे। उन्हें अपनी 'भीतरी आवाज' के विचार-विमर्श का इन्तजार था। 'भीतरी आवाज,' जिसने आपात के क्षणों में हमेशा उनका मार्ग-निर्देशन किया था।

उस दिन..........

मिट्टी के थैलों द्वारा उन्होंने अपना निसर्गोपचार समाप्त कर लिया था। अनुयायियों को उन्होंने झोंपड़ी में बुलाया और कहा कि 'भीतरी आवाज' ने आखिर मार्ग निर्देशन दे दिया है। "मुझे प्रायश्चित करना होगा।" गांधी जी बोले, "प्राचीन काल में लोग सभी तीर्थों की पैदल यात्रा पर निकलते थे। मुझे भी पैदल यात्रा पर निकलना होगा...... किन्तु मैं तीर्थों की नहीं नोआखाली के गाँवों की यात्रा पर निकलूंगा। केवल श्रीरामपुर में न बैठकर, नोआखाली के एक-एक गांव में घूमूंगा, हिंसा और नफरत की आग को बुझाऊंगा। यहां मेरा प्रायश्चित है, यही मेरी महात्वाकांक्षा........"

"चूंकि यह प्रायश्चित की यात्रा है, इस में मेरा सबसे बड़ा साथी ईश्वर होगा। मात्र चार अनुयायियों को मैं अपने साथ रखूंगा। मेरे साथ ये चारों गाँव-गाँव भटकेंगे। गांव वाले जो देंगे, सो खाएंगे। जो मुझ पर गुजरेगी, वही इन पर गुजरेगी। खून के प्यासे गांवों में मुझे प्रेम के दीपक जलाने हैं। मैं, एक हिन्दू, मुसलमानों के बीच घूमूंगा। रहूंगा। मुझे अपने सिद्धान्तों की जांच करनी है। मेरी अहिंसा यदि नोआखाली में खरी उतरती है, तो पूरे देश को एक दृष्टान्त

मिल जाएगा। न केवल देश के, बल्कि पूरी दुनियां के सामने सिद्ध हो जाएगा कि मानवता की भलाई किस में है। हिंसा में या अहिंसा में।''

चार अनुयायियों के साथ, सूर्य निकलने से पहले, गांधी जी चल पड़े। कागज। कलम। धागा। सुई। लकड़ी का चम्मच और मिट्टी का कुल्हड़। चरखा। 'बुरा देखो मत, सुनो मत, बोलो मत' का उपदेश देते बन्दरों की नन्हीं मूर्ति, गीता, कुरान, बाइबिल, यहूदी विचारों की एक पुस्तक। 'सम्पत्ति' के नाम पर ये चीजें उनके बक्से में थीं।

गांधी जी आगे-आगे, अनुयायी पीछे-पीछे। चावल के खेतों को पार करती यह टुकड़ी, क्रमशः आंखों से ओझल होने लगी। श्रीरामपुर के निवासियों ने सुना...... गांधी जी गुनगुना रहे थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर का एक गीत, जो उन्हें बेहद पसन्द था...... यह गुनगुनाहट क्रमशः तेज होती गई। चावल के खेतों की लम्बाईयों पर, दूर-दूर तक, वही गीत तैरने लगा...... गांधी जी का शान्त, स्थिर, आत्मविश्वासी स्वर..................

''अगर मेरी पुकार उन्हें सुनाई दें, तो चल अकेला, चल अकेला..........'' महात्मा गा रहा था।

हिन्दुओं-मुसलमानों के बीच जो खून-खराबा चल रहा था और जो भयानक नफरत उबाल पर थी, महात्मा गांधी जिसे समाप्त करने निकले थे, उस की जड़ें तो सदियों-सदियों से भारत भूमि में जम चुकी थीं।

धार्मिक और पौराणिक स्तर पर हिन्दुओं ने सदैव से हिंसा की पूजा की थी। महाभारत और रामायण जैसी अमर हिन्दू गाथाओं में हिंसा और प्रतिहिंसा के वर्णनों की भरमार है। इस्लाम ने भारत की धरा पर रखे, इसके पहले ही, खून-खराबे की प्रतिष्ठा हिन्दू समाज में अपने चरम पर हो चुकी थी।

हिंसा हिन्दुओं की जीवन-शैली में शामिल थी। अपनी अहिंसा द्वारा गांधी जी ने इतनी प्राचीन और बलवती परम्परा को ललकारा कि यह बात ही अपने-आप में कम विलक्षण नहीं।

खैबर दर्रे को पार कर चंगेज खां और तैमूरलंग जैसे मुगलों ने भारत पर आक्रमण किए, ताकि गंगा के महान मैदानों पर से हिन्दुओं का एकाधिपत्य समाप्त कर सकें। लगभग दो सदियों तक मुसलमान मुगल बादशाहों ने अधिकांश भारत-भूमि पर राज्य किया। इस दौर में उन्होंने अल्लाह और इस्लाम का, अपने-अपने तरीकों से प्रचार किया। उन के तरीकों में हिंसा भी शामिल थी।

हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों प्राचीन धर्मों की जड़ें, एक ही धरती पर जम तो गईं, लेकिन शुरू से ही इन के बीच एक भयानक खाई बनी रही। वास्तव में इन दोनों धर्मों के बीच इतना अधिक मतभेद है कि इस से ज्यादा मतभेद, किन्हीं भी दो धर्म शैलियों के बीच ढूंढ़ना लगभग असम्भव रहेगा।

इस्लाम की धुरी है केवल एक व्यक्ति—मुहम्मद, और केवल एक धर्म-ग्रन्थ कुरान। हिन्दू धर्म का कोई एक संस्थापक नहीं, कोई एक धर्म-ग्रन्थ नहीं, कोई एक आराधना शैली नहीं, कोई एक सिद्धान्त नहीं। इस्लाम में, सृजनहार अपने सृजन से अलग-थलग खड़ा है—मानवता का अध्यक्ष सा बन कर, उसे निर्देशित करता हुआ। हिन्दुत्व में, सृजनहार और सृजन एक-दूसरे से ओत-प्रोत हैं। आत्मा ही परमात्मा और परमात्मा ही आत्मा है। आत्मा के माध्यम से परमात्मा नाना रूपों में प्रकट हुआ है।

इसीलिए हिन्दू अपने परमात्मा की कल्पना और पूजा चाहे जिस रूप में कर सका—पूर्वजों में, साधुओं में, पशु पक्षियों में, प्रेत शक्तियों और प्राकृतिक शक्तियों में, शून्य और अनन्त में। सांप, लिंग, पानी, आग, तारे, ग्रह-हिन्दू ने असंख्य रूपों में अपने परमात्मा को पाया और पूजा है।

ठीक विपरीत, मुसलमान का ईश्वर केवल एक है—खुदा। उस का कोई रूप, कोई आकार नहीं। मुसलमान का एकमात्र धर्मग्रन्थ कुरान साफ-साफ आदेश देता है कि किसी भी रूप या आकार में खुदा की कल्पना करना निषिद्ध है।

मूर्तियां और मूर्तिपूजा, मुसलमान की नजर में, घृणास्पद है। धार्मिक चित्रकारी को मुसलमान ने हमेशा बेतुका समझा है। मस्जिदों में सजावट के नाम पर केवल इतनी छूट दी जाती है कि अमूर्त कलाकृतियां बनाई जाएं और खुदा के ९९ नामों को ही दोहरा-दोहरा कर लिखा जाए।

जबकि मूर्ति और मूर्तिपूजा पर, हिन्दू हार्दिक श्रद्धा रखता है। मन्दिर और मस्जिद, एक दूसरे से, नितान्त भिन्न पाए जाते हैं। मन्दिर में प्रवेश के साथ ऐसा लगेगा, जैसे यहां आध्यात्मिक उच्च बाजार गठित किया गया है। गले में सांप लपेटे हुए ईश्वर, चार-चार, छह बाजुओं वाले ईश्वर। अनेक मुंह वाले ईश्वर और दैत्य। उड़ने वाले दैवी हाथी। दैवी बन्दर। नाचती अप्सराएं। रहस्यमय लिंग.........

मुसलमान समूह बना कर, सामूहिक स्वर में, कुरान की आयतें पढ़ते हैं—स्वयं को मस्जिद के धरातल पर, मक्का की दिशा में, गिरा और झुका कर।

जबकि हिन्दू एकान्त में पूजा करता है। ईश्वर के लगभग तीस लाख रूपों में से वह अपनी इच्छानुसार एक या अधिक रूपों का चुनाव कर के, अपनी सम्पूर्ण मानसिकता को उसी पर न्यौछावर कर देता है। पूजा तो वह मूर्ति की करता है, लेकिन जाना जाता है अमूर्त की ओर अनन्त ब्रह्म की ओर! हर मौसम का देवता अलग। यहाँ तक कि हर बीमारी का देवता अलग! इस भूलभूलैयां का पार पाना सबके लिए सम्भव नहीं।

लेकिन; हिन्दू-मुसलमान एकता के बीच सबसे बड़ी बाधा धार्मिक नहीं, सामाजिक थी।

हिन्दू समाज, जातियों और उपजातियों के बीच बुरी तरह बंटा हुआ था। इस बंटवारे को सामाजिक बुराई नहीं, बल्कि धार्मिक परंपरा माना जाता था। जातियों-उपजातियों का आपसी वैमनस्य हिन्दू समाज की रगों में विष की तरह बह रहा था।

थे सब हिन्दू, लेकिन एक-दूसरे को छू नहीं सकते थे। हल्की जाति को छूते ही ऊंची जाति का व्यक्ति इतना गन्दा (!) हो जाता कि फौरन भाग कर उसे स्नान करना पड़ता।

ब्राह्मण सब से ऊंचे। फिर क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अछूत। ये पांच मुख्य जातियां 5000 उपजातियों में बंट गई थीं। अकेली ब्राह्मण जाति ही 1886 उपजातियों में बिखरी हुई थी।

ऐसे जातिवाद के साथ हिन्दुओं की इस परिकल्पना का गहरा सम्बन्ध रहा है कि आत्मा अमर है और बार-बार जन्म लेती है। इस जन्म में जिस के जैसे कर्म, अगले जन्म में उसकी जाति भी उसी अनुसार ऊँची-नीची।

अर्थात्; इस जन्म में नीचा या अछूत है, वह पिछले जन्म के अपने कर्मों के अनुसार ही है। जो नीच या अछूत है, उनके साथ सहानुभूति कैसी ? वे तो अपने पिछले जन्म के कुकर्मों का फल भोग रहे हैं। कुकर्मी हैं, इसलिए नीच बने हैं।

इस विचार ने हिन्दुओं को हिन्दुओं के प्रति असहिष्णु और क्रूर बना दिया था।

जबकि इस्लाम में सब बराबर, सब भाई-भाई। अनेक शूद्रों और अछूतों ने सिर्फ इसलिए इस्लाम स्वीकार कर लिया कि मुसलमान बनते ही उन्हें सब की बराबरी का सामाजिक स्तर मिल सकता था। ऐसी सामाजिक उन्नति का वचन; देने को तो, हिन्दू धर्म भी देता था; लेकिन न जाने किस जन्म में! इस्लाम तो इसी जन्म में सामाजिक उन्नति का उपहार लिए खड़ा था।

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब मुगल शासन समाप्त हुआ, तो हिन्दुओं की हिंसाप्रियता पूरे भारत में जाग उठी, जो हिन्दू मुसलमान के खूनखराबों में बदल गई। फिर इंग्लैण्ड की शक्ति ने भारत के आकाश पर जगमगाना शुरू किया, जिस ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को दबा कर रखा। फलस्वरूप, कौमी दंगे भी एक हद तक काबू में आ गए।

लेकिन दोनों जातियों के बीच दुर्व्यवहार और आशंका का जो वातावरण बन चुका था, वह बन चुका था। हिन्दू यह कभी नहीं भूल पाए कि मुसलमानों के बीच बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है, जो कभी हिन्दू ही थे, लेकिन अछूत थे। क्या सिर्फ धर्म बदल जाने से वे अछूत नहीं रहे ?

इस्लाम ने अछूतों को सामाजिक ऊंचाई तो दी, मगर हिन्दुओं ने सभी मुसलमानों के साथ ही अछूतों जैसा व्यवहार शुरू कर दिया। उच्च वर्ग का हिन्दू, मुसलमान की मौजूदगी में, भोजन को स्पर्श तक नहीं कर सकता था। रसोईघर में यदि मुसलमान की परछाई भी आ

गई तो सब कुछ अपिवत्र! मुसलमान ने यदि किसी ब्राह्मण को छू भी लिया, तो वह चीत्कार करता हुआ भागेगा और घंटों-घंटों पूजा-पाठ में बिता कर स्वयं को पवित्र करेगा!

गांवों और शहरों में हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ रहते हुए भी अलग थे। आम तौर पर, आबादी के बीच से गुजरने वाली सड़क के एक तरफ हिन्दू रहते, दूसरी तरफ मुसलमान। किसी का भी अपने क्षेत्र को छोड़ कर दूसरे क्षेत्र में रहना खतरे से खाली न होता।

वैसे; ऊपरी तौर पर, दोनों समाज आपस में मिलते-जुलते अवश्य थे। वे एक दूसरे के त्यौहारों में शामिल होते। नौकरियां साथ करते, रेलों में साथ बैठते इत्यादि।

—लेकिन भीतरी तौर पर दोनों के बीच कहीं कोई प्रेम नहीं था। हिन्दू-मुसलमान की शादी शायद ही कभी सम्भव होती। पानी भरने के लिए दोनों समाजों के कुंए अलग-अलग। उन कुओं के बीच भले ही मात्र बीते भर का फासला हो, भूगर्भ में भले ही कोई एक सोता दोनों के बीच बह रहा हो; लेकिन यदि किसी उच्च-वर्ण हिन्दू ने भूल से ही मुसलमान कुंए का घूँट पी लिया, तो अगले ही क्षण उस की सांस रुकती दिखाई देगी।

हिन्दुओं के बच्चे पण्डितों से पढ़ते। मुसलमान बच्चों को शेख़ पढ़ाया करते। लिपियां अलग। संस्कार अलग। पाठशाला के स्तर पर ही, जाने या अनजाने में, हिन्दू और मुसलमान बच्चों को एक-दूसरे से नफरत करना सिखाया जाता था। इस आग में अंग्रेजों ने घी डाला—'फूट डालो, राज करो' की नीति अपना कर। बाद में यह नीति स्वयं अंग्रेजों को इतनी भारी पड़ गई कि जब भारत को आजाद करने का अवसर आया, तो उन्हें सूझना मुश्किल हो गया कि आजादी उस उपाय से दें या उस उपाय से। हिन्दू -मुसलमानों की फूट इस सीमा तक बढ़ चुकी थी कि चाहे यह उपाय आजमाया जाता, चाहे वह, कौमी दंगों का दवानल सम्पूर्ण देश को अपनी लपेट में लेकर एकदम भस्म कर देने के लिए तैयार खड़ा था।

सामाजिक और धार्मिक मतभेदों के अलावा, एक और भेद ऐसा था, जिसकी उग्रता किसी रूप में कम नहीं आंकी जा सकती। यह भेद था-आर्थिक।

अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी हवा ने भारत को एक नए आर्थिक मोड़ पर ला खड़ा किया था। अनेक नए आर्थिक अवसर जनता के सामने थे। मुसलमानों की तुलना में हिन्दुओं ने उन अवसरों का बहुत अधिक लाभ उठाया।

1857 के गदर में मुसलमानों ने ज्यादा महत्व के रोल अदा किए थे। कुछ इस कारण भी, अंग्रेजों ने मुसलामनों को आर्थिक अवसर कम दिए।

अंग्रेजों ने सामाजिक मेल जोल तो मुसलमानों के साथ ज्यादा रखा, किन्तु आर्थिक अवसरों का लाभ अक्सर हिन्दुओं को लेने दिया। भारत के बड़े-से-बड़े व्यापारी, दुकानदार, पूँजीपति, उद्योगपति, बीमा व्यवसायी हिन्दू थे। पारसियों ने भी हिन्दुओं के साथ अच्छी होड़ ली। मुसलमान पिछड़ गए। कुरान ने भी आदेश दे रखा है कि ऊंची ब्याज दरों पर धन का

लेन-देन करना इस्लाम के खिलाफ माना जाए। इस कारण भी, धन हिन्दुओं के पास केन्द्रित होता गया। मुसलमान गरीबी के शिकंजे में आते गए।

इस आर्थिक अंतर ने उन के सामाजिक और धार्मिक मतभेदों को और भी उग्र बना दिया। यह उग्रता कौमी दंगों और कत्लेआम के रूप में प्रकट होनी ही थी। कलकत्ता में मुसलमानों को हिन्दुओं ने और नोआखाली में हिन्दुओं को मुसलमानों ने अगर गाजर-मूली की तरह काट डाला, तो इसका कारण सदियों पुराने रीति-रिवाजों के बीच छिपा हुआ था।

दोनों समाजों के पास एक-दूसरे को उत्तेजित करने के कुछेक लोकप्रिय तरीके थे।

हिन्दुओं ने संगीत का आसरा लिया। मस्जिद में नमाज पढ़ते समय मुसलमान पूर्ण शान्ति चाहता है। कुरान की आयतें पढ़ते समय अगर जरा भी शोर हो जाए, तो कोई भी सच्चा मुसलमान एक दम बौखला जाएगा। मुसलमानों को छेड़ना हिन्दुओं के लिए बड़ा आसान था। शुक्रवार के दिन, जब नमाज पढ़ी जा रही हो, मस्जिद के सामने डट जाना और खूब ढोल-ढमक्के पीटना।

मुसलमानों का प्रिय तरीका था एक ऐसे पशु का सहारा लेना, जो सारे भारत में भुखमरी का शिकार है। जो शहरों-गांवों के रास्ते पर लावारिस घूमता है, चाहे जिस खेत में घुस कर मुंह मारता है, जो आदि काल से हिन्दुओं की भक्ति-भावना का केन्द्र रहा है—गऊ माता।

धार्मिक आदेशानुसार; मुसलमानों के लिए जिस तरह सूअर का मांस खाने की मनाही है, उसी तरह गाय का माँस खाने अथवा उस की हत्या करने की मनाही हिन्दुओं के लिए है। फलस्वरूप 1947 में गाय-बैलों की जो संख्या भारत में थी, उतनी विश्व के अन्य किसी देश में नहीं। लगभग बीस करोड़ गाय-बैल भारत में भटक रहे थे—अर्थात प्रत्येक दो भारतीयों के बीच एक गाय या बैल।

उस समय, संयुक्त राज्य-अमेरिका की जनसंख्या भी उतनी नहीं थी, जितनी भारत में गाय-बैलों की संख्या थी। केवल चार करोड़, भारतीय गायें ऐसी थी, जो किसी तरह मर-खप कर दूध दिया करतीं—प्रति दिन, प्रति पशु केवल एक पिण्ट! चार से पाँच करोड़ बैल वजन खींचने के काम आते थे—बैलगाड़ी, हल आदि। शेष, अर्थात दस करोड़ से भी ज्यादा गाय-बैल, बिल्कुल किसी काम के नहीं थे। खेतों, मैदानों, शहरों, गांवों में ये पशु पूरी मौज में मटर-गश्ती करते। रोज इतना अनाज इन फालतू पशुओं के पेट में समा जाता कि किसी प्रकार यदि उसे बचाया जा सकता, तो उन लगभग एक करोड़ भारतीयों की भूख शान्त हो सकती, जो अपोषण या कुपोषण के मारे अधमरे हुए जा रहे थे।

यदि धार्मिक आदेश को ताक पर रख कर सोचा जाए यदि मानव-मात्र को किसी प्रकार जीवित रखने का सवाल सामने रखा जाए, तो इन फालतू पशुओं को अवश्य ही खत्म कर दिया जाना चाहिए था।

लेकिन धर्मान्धता की जड़ें इतनी गहरी थीं कि वे हिन्दू भी गोहत्या की कल्पना तक नहीं कर सकते थे, जो स्वयं भूख से मरे जा रहे थे—ताकि गाय-बैल जहां चाहे, वहां मुंह मारते और जबड़े चलाते रहें। यहां तक कि स्वयं गांधी जी ने हमेशा यही कहा कि गाय में ईश्वर का निवास है, गाय की रक्षा करना ईश्वर पूजा का ही दूसरा रूप है।

जबकि; मुसलमानों की नजर में, एक गूंगे पशु की ऐसी आराधना न केवल बेतुकी, बल्कि फूहड़ भी थी, जो मनुष्य को मनुष्यता के स्तर से नीचे गिराती थी। मुसलामानों को उस वक्त विशेष आनन्द मिला करता, जब वे गाय-बैलों के झुण्ड को मारते-पीटते हुए, किसी मन्दिर के ऐन सामने से, सीधे बूचड़खाने की ओर ले जाते। हजारों मनुष्यों ने उन गाय-बैलों कें साथ स्वयं भी मौत का आलिंगन किया था—उन दंगे-फसादों में, जो ऐसी प्रत्येक घटना के बाद अवश्य फूट पड़ते।

अंग्रेजों ने अपने शासन-काल में इन दोनों समाजों के बीच एक नाज़ुक सन्तुलन बनाए रखा, हालांकि स्वयं अंग्रेजों ने दोनों की फूट का लाभ उठाने में कभी हिचक महसूस नहीं की।

स्मरणीय है कि भारतीय आजादी के संघर्ष में हिन्दू और मुसलमान बुद्धि जीवियों ने, अपने कौमी विवादों को पूरी तरह भुला कर, कन्धे से कन्धा भिड़ाते हुए, एक ऐसी मंजिल की तरफ बढ़ना चाहा था; जिसमें दोनों का समान हित था। विडम्बना यह कि हिन्दू-मुसलमान के इस अद्‌भुत सहयोग के बीच दरार डालने का कार्य स्वयं महात्मा गांधी ने किया-भले ही अनजाने में।

भारत में, जिसे पृथ्वी का सर्वाधिक धार्मिक क्षेत्र कहा जाना चाहिए यह असम्भव ही था कि आजादी की लड़ाई को धार्मिकता का रंग पकड़ने से बचाया जा सकता। धर्म का रंग गांधी जी के माध्यम से आया। इस से इन्कार नहीं कि कोई भी व्यक्ति धार्मिक पूर्वाग्रहों से उतना मुक्त नहीं था; एक भी व्यक्ति उतना सहनशील और उदार नहीं था; जितने गांधी जी। उन्होंने आजादी के संघर्ष के प्रत्येक चरण में मुसलमानों का स्नेह सहयोग पाने का हर सम्भव प्रयास किया।

इसके बाजवूद, गांधी जी हिन्दू थे और हिन्दू रहे। भगवान में गहनतम आस्था के बिना उन का अस्तित्व सम्भव नहीं था। फलस्वरूप उनकी कांग्रेस पार्टी के आन्दोलन को हिन्दुओं का आन्दोलन बन जाने से बचाना न तो सम्भव था और न सम्भव हो सका। धीरे-धीरे कांग्रेस का स्वर हिन्दुओं का स्तर होता गया, जिस से मुसलमानों के मन में आशंकाएं जगीं।

कांग्रेस के सभी नेता महात्मा गांधी के जितने उदार नहीं हो सकते थे। कोई-न-कोई नेता अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय देता ही रहता। फलस्वरूप मुसलमानों के मस्तिष्क में यह बात घर करती गई कि आजाद भारत में वे हिन्दुओं की बहुसख्या के बीच एकदम खो

जाएंगे। एक ऐसी जमीन पर उन की शक्तियां गुम हो जाएंगी, जहां कभी स्वयं मुसलमानों का निरकुंश शासन था।

केवल एक सम्भावना थी, जो उन्हें इस खतरे से बचा सकती थी—भारतीय उप-महाद्वीप का कोई हिस्सा मुसलमानों के लिए अलग कर लिया जाए।

भारतीय मुसलमानों को अपना राज्य हिन्दुओं से अलग कर लेना चाहिए—यह परिकल्पना पहली बार संक्षेप में लिख कर तैयार की गई साढ़े चार पृष्ठों की इस परिकल्पना का टंकण कार्य कैम्ब्रिज की हम्बरस्टोन रोड के कॉटेज नं. 3 में सम्पन्न हुआ। इस के लेखक रहमत अली थे, जो 40 वर्षीय स्नातक-विद्यार्थी था।

रहमत अली के प्रस्ताव के शीर्ष पर 28 जनवरी, 1933....—तारीख अंकित थी।

अपने प्रस्ताव में अली ने साफ-साफ लिखा कि भारत को अखण्ड रखने की बात अत्यन्त हास्यास्पद और फूहड़ है। उस ने सुझाव दिया कि भारत के जिन उत्तर पश्चिमी क्षेत्रों में मुसलमानों की बहुसंख्या है, उन्हें अलग कर के मिला दिया जाए—पंजाब,कश्मीर, सिंध, सीमान्त प्रदेश, ब्लूचिस्तान। इस नए प्रदेश का नाम भी अली ने ही सुझाया-'पाकिस्तान' ...... पवित्र भूमि..........

प्रस्ताव के समापन में उस ने पूरे जोश के साथ लिखा कि हिन्दू राष्ट्रीयता की सलीब पर हम खुदकुशी नहीं करेंगे।

मुसलमानों की महत्वाकांक्षी राष्ट्रीय भावना ने स्वयं को 'मुस्लिम लीग' के रूप में प्रकट किया था। समय बीतने के साथ, रहमत अली का प्रस्ताव भारतीय मुसलमानों के दिलो दिमाग में बैठता गया। कांग्रेस के जिद्दी, हिन्दू नेताओं ने भी क्रमशः ऐसा रुख अपनाया कि उन के मुसलमान साथियों को, हिन्दुओं के संग, अपना भविष्य डांवाडोल दिखाई दिया।

वह घटना, जो हिन्दू-मुसलमान दंगों की आग बन कर पूरे देश में फैल जाने की धमकी दे रही थी, 16 अगस्त, 1946 के दिन घटी थी—महात्मा गांधी अपनी 'प्रायश्चित यात्रा' पर निकले, उस के ठीक पांच माह पहले। उस की भूमि थी वह शहर, जिसे अंग्रेज साम्राज्य का 'द्वितीय शहर' कहा जाता था और जो हिंसा या क्रूरता के क्षेत्र में अपना सानी नहीं रखता था—महानगर कलकत्ता।

जैसा कि कलकत्ता के सभ्रान्त निवासियों के बीच कहा जाता था, इस धरती पर नरक जैसा जीवन अगर किसी का था, तो उस अछूत का जो कलकत्ता की झोपड़-पट्टी में पैदा हुआ। वहां लोग जिस तरह ठूंस-ठूंस कर रहते थे, उस तरह दुनिया के किसी अन्य हिस्से में नहीं। दुख, दर्द और गन्दगी के जो परनाले वहां बहते थे, वैसे परनाले साक्षात् नर्क में भी ढूंढ़े न मिलते। हिन्दू और मुसलमान वहां एक-दूसरे के साथ खूब गिचपिच होकर रहते थे। इसके बावजूद, सामान्य विवेक और औपचारिक स्नेह का भी नाता उन के बीच नहीं था।

16 अगस्त की सुबह, धार्मिक नारे लगाते मुसलमानों की टोलियां, अचानक अपनी झोपड़ियों से निकलीं। छुरे, चाकू, तलवारें, लोहे की छड़ें, ऐसे कोई भी हथियार जो इंसान की खोपड़ी तोड़ सकते हों, उन के हाथों में चमक रहे थे।

ये मुसलमान मुस्लिम लीग की ललकार के अनुसार बाहर निकलते थे। मुस्लिम लीग ने 16 अगस्त को 'डायरेक्ट एक्शन' का दिन मुकर्रर किया था, ताकि इंग्लैण्ड और कांग्रेस पार्टी के सामने साबित किया जा सके कि मुसलमान पाकिस्तान लेकर रहेंगे। जरूरी हुआ, तो इसके लिए किसी भी सीमा तक 'डायरेक्ट एक्शन' करने से भी नहीं चूकेंगे।

उन मुसलमान टोलियों ने जो भी हिन्दू दिखाई दिया, उसे मार डाल और शव शहर के खुले गटरों में फेंक दीं। पुलिस के हाथ-पांव फूल गए। जल्द ही शहर के दर्जनों स्थानों से काले धुंएं के खंभे आकाश में उठ-उठ कर डोलने लगे। हिन्दुओं की बस्तियां खाक हो रही थीं, बाजार धू-धू कर जल रहे थे।

हिन्दू क्यों पीछे रहते? उन की भी टोलियों ने अपनी झोपड़-पट्टियों से निकलना और मुसलमानों को मौत के घाट उतारना शुरू किया।

कलकत्ता ने अपने अब तक के इतिहास में उतने बुरे 24 घंटे कभी नहीं देखे थे, जब मनुष्य मानवता को पूरी तरह भूलकर राक्षसों से भी बदतर हो गया। हुगली नदी कितनी लाशों को बहाकर समुद्र में ले गई, कोई हिसाब नहीं। शहर की सड़कें-गलियां भी डरावनी, वीभत्स लाशों से अटी पड़ी थीं।

सब जगह; जो कमजोर और असहाय थे, उन्हीं पर अधिक अत्याचार हुए। जब तक नरसंहार खत्म होता, शहर पर गिद्ध अपना अधिकार जमा चुके थे। गिद्धों की डरावनी टोलियां आकाश में मंडरा रही थीं। जहां भी लाशें दिखतीं, वे झपट्टे मार कर नीचे आतीं। उनके लिए वह पिकनिक का दिन था। शहर में 6000 लोग मारे गए थे।

इसकी प्रतिक्रिया में नोआखाली धू-धू कर जल उठा, जहां गांधी जी अपनी प्रायश्चित यात्रा पर निकले। बिहार में कौमी दंगों का नंगा नाच हुआ। पश्चिमी तट पर, बम्बई भी आग के शहर में तब्दील हो गया।

इन घटनाओं ने देश के इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया। मुसलमानों ने वास्तव साबित कर दिया कि यदि उन्हें उनका पाकिस्तान न मिला, तो सारे देश को खून से सान देने की जो धमकी वे बरसों से देते आ रहे थे, उसे एक डरावनी सच्चाई में बदल देने का दम-खम उनमें पूरी तरह था। जिस वीभत्स से दृश्य की कल्पना से ही गांधी जी के रोम सिहरते रहे थे, वह दृश्य अचानक मात्र गीदड़ भभकी न रहकर एक नंगी सच्चाई बन गया-गृह युद्ध!

और वह महात्मा नोआखाली में अपनी प्रायश्चित यात्रा पर निकल पड़ा—नोआखाली, जहां उन दिनों केवल जंगल का कानून चल रहा था।

ठण्डे और तेज दिमाग का एक और व्यक्ति था—एक जिद्दी वकील-जो पिछली चौथाई शताब्दी से गांधी जी का प्रमुख मुसलमान दुश्मन बना हुआ था... मोहम्मद अली जिन्ना। उसने तुरन्त भांप लिया कि उस वीभत्स-दृश्य अब वह एक औजार के रूप में उपयोग कर सकता है—भारत के टुकड़े करने का औजार।

जिन्ना के अपने लोगों द्वारा लिखे गए इतिहास को यदि छोड़ दें, तो अन्य कोई इतिहासकार उस व्यक्ति को वह जगह देने के लिए सहसा प्रस्तुत न होगा, जो कि उसका अधिकार होना चाहिए—उस की शानदार उपलब्धियों को देखते हुए।

इतिहासकारों के ऐसे पक्षपात के बावजूद, कोई माई का लाल इस से इंकार नहीं कर सकता कि उन दिनों भारत के इतिहास की चाबी न गांधी के हाथ में थी, न किसी और के हाथ में, बल्कि वह जिन्ना के हाथ में थी। जिन्ना मुसलमानों का मसीहा था—जिद्दी और कठोर। अपने लोगों को आखिर वह एक ऐसी धरती पर ले गया, जिसे वे खुद की धरती कह कर खुश हो सकते थे। वह जिन्ना ही था, जिस ने वह समस्या खड़ी की, जो रानी विक्टोरिया के प्रपौत्र को, वायसराय के रूप में भारत पहुंचने पर, भारी परेशानी में डालने वाली थी।

अगस्त, 1946 में; बम्बई से बाहर लगे एक तम्बू में जिन्ना ने मुस्लिम लीग के समर्थकों के सामने स्पष्ट किया था कि 'डायरेक्ट एक्शन' (सीधी कार्यवाही) का अर्थ क्या है। उसने घोषणा की थी कि अगर कांग्रेस भारत के मुसलमानों को युद्ध के लिए ललकार रही है, तो इसका जवाब देने के लिए हम सहर्ष सामने आएंगे।

'हम भारत को बाँट कर रहेंगे,' जिन्ना ने कसम खाई थी, 'या फिर ...... हम इसे नष्ट कर देंगे।'

❑❑❑

१३६८२

3

‘भारत को भगवान-भरोसे छोड़ दो’

लन्दन; जनवरी, 1947

“शायद आप को पता हो,” लुई माउण्टबेटन ने कहा, “मुझे एक घोर संकट में फंसाया जा रहा है।”

बंकिंघम पैलेस की बैठक में वे दो व्यक्ति बड़ी आत्मीयता के साथ मौजूद थे। वे दोनों जब भी अकेले होते, उनके बीच औपचारिकता की कहीं कोई परछाई न रहती। चाय की चुस्कियाँ लेते वे अगल-बगल बैठे थे, जैसे बरसों के बिछुड़े दो सहपाठियों के बीच अचानक मुलाकात हुई हो।

माउण्टबेटन के स्वर में, आज, एक खास तरह की ताजगी थी। ताजगी या तनाव? शायद दोनों।

वह अपने दूर के भाई, सम्राट जार्ज छठवें, के सामने बैठा हुआ था। भारत का वायसराय बनने से बचने के लिए अगर कोई आखिरी अपील की जा सकती थी, तो जार्ज के सामने। भारत का सम्राट कौन था? जार्ज ही न? जब तक उसकी ‘हाँ’ न होगी, तब तक माउण्टबेटन को जबरन भारत का वायसराय बना देने की शक्ति दुनिया के किसी व्यक्ति में नहीं।

वह नौजवान एडमिरल. अपने सम्राट के मुँह से, “हाँ” सुनने के लिए उत्सुक नहीं था।

“जंजाल? ओह हाँ; मुझे मालूम है।” सम्राट के होंठों पर एक सौम्य मुस्कान खेल गई, “प्रधानमन्त्री मुझसे मिल चुके हैं और मैंने ‘हाँ’ कह दी है।”

''आप सहमत हो गए?'' माउण्टबेटन ने आश्चर्य और अविश्वास से पूछा, ''लेकिन क्या आपने सोच कर देखा कि... अगर मैं...''

''मैं सदैव सोच-समझकर ही निर्णय लेता हूँ।'' सम्राट ने पुलकित स्वर में उत्तर दिया।

''लेकिन...'' माउण्टबेटन ने कहा, ''यह बड़ा खतरनाक मामला है। वहां की समस्याएं इतनी जटिल हो चुकी हैं कि उन्हें सुलझाना किसी के बूते में नहीं। मैं आपका भाई हूं। यदि मैं वहां बुरी तरह विफल रहा, तो सोचिए; आपको कितनी बदनामी झेलनी पड़ेगी।''

''लेकिन यदि ऐसा न हुआ?'' सम्राट ने उत्तर लौटाया, ''यदि तुमने वहां शानदार सफलता पाई? दुनिया में मेरा कितना नाम होगा! जरा तुम सोचो.......''

''आह...'' माउण्टबेटन के मुंह से निःश्वास निकल गया, ''आप आवश्यकता से अधिक आशावादी है।''

बंकिंघम पैलेस के उस अन्तरंग कक्ष में सन्नाटा छा गया।

सहसा माउण्टबेटन ने महसूस किया कि उसके भाई के विचार में अन्तर आ रहा है। ''वैसे, मैंने सोचा नहीं था कि ऐसा होगा।'' सम्राट ने विद्रूप के स्वर में शुरू किया, ''जब तुम दक्षिण-पूर्वी एशिया में लड़ रहे थे, मैंने हमेशा यही सपना देखा कि यहां से उड़ूंगा और वहां तुम से मिलूंगा। फिर भारत जाऊँगा। विन्स्टन ने अड़ंगे डाले और कार्यक्रम बन ही न पाया। तब मैंने सोचा कि युद्ध खत्म होने पर तो अवश्य ही भारत की सैर करूंगा। लगता है, यह सपना कभी पूरा होने वाला नहीं। कैसी विडम्बना! मैं भारत का सम्राट हूँ, जबकि मैं वहां एक बार भी नहीं गया, अब, वहां का सम्राट-पद मैं खोने वाला भी हूँ—यहीं, लन्दन के इस महल में बैठे-बैठे! खूब!''

वास्तव में, जैसा कि भविष्य में बदा था; जार्ज छठवें को भारत की सुप्रसिद्ध भूमि पर पैर रखे बिना, न केवल सम्राट-पद खोना था; बल्कि मृत्यु का ही वरण कर लेना था। वह भारत का एक ऐसा सम्राट था; जिसके स्वागत में, भारत-भूमि पर, कभी शेर के शिकार का आयोजन नहीं हुआ। न सोने-चाँदी से मढ़े हाथियों की परेड ही उसके सामने से गुज़री। जवाहिरात पहनकर चमचमाते महाराजाओं की कोई कतार उसके अभिवादन में झुकी नहा।

इतिहास में जार्ज छठवें को एक ऐसे सम्राट के रूप में याद किया जाता था, जो सिंहासन पर आते समय पृथ्वी की पाँच करोड़ बीस लाख वर्ग मील सूखी धरती में से एक करोड़ साठ लाख वर्ग मील धरती का, किसी-न-किसी रूप में, स्वामी था, लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीता, यह दिव्य साम्राज्य टूटता और सिमटता चला गया।

सिकन्दर, चंगेज खां, नेपोलियन ... दुनिया का कोई सम्राट ऐसा नहीं, जिसकी विषय-पताका इतने विराट क्षेत्र पर फहरी हो, जितने विराट क्षेत्र का स्वामित्व जार्ज छठवें को

सिंहासन पर आते समय सौंपा गया; किन्तु उसी जार्ज छठवें ने जब मृत्यु का वरण किया, तो वह सम्राट केवल एक सामान्य शासक के लघु आकार में सिमट चुका था—इतने छोटे प्रदेश का शासक कि वैसे राज्य तो यूरोप में एक नहीं, अनेक बिखरे पड़े थे।

'मुझे मालूम है कि अब मैं सम्राटों का सम्राट बना नहीं रह सकता.... इतनी बड़ी इस चीज को अब टूटना ही है ......' जार्ज छठवें ने एक जगह लिखा है, 'लेकिन यदि भारत के साथ बिल्कुल कोई रिश्ता कायम न रहा, तो मुझे गहरा धक्का पहुंचेगा।'

साम्राज्य को सिमटना है, तो सिमटे; लेकिन जो निहायत खूबसूरत बातें इसके तहत सम्भव हुई हैं, क्या उनका बिल्कुल भी कोई सम्बन्ध साम्राज्य के साथ शेष नहीं रहना चाहिए; साम्राज्य चाहे कितना ही संक्षिप्त क्यों न हो चुका हो?

'स्वतन्त्रता के बाद भारत ने यदि "कॉमनवेल्थ" में शामिल होने से मना किया, तो यह अत्यधिक सदमे की बात होगी।'—जार्ज का मत था।

जार्ज छठवें की आशाएं, 'कॉमनवेल्थ' के माध्यम से, शायद सचमुच रूपायित हो सकती थीं। 'कॉमनवेल्थ' को एक ऐसे संस्थान के ढांचे में गठित किया जाना था, जिसमें विभिन्न रक्त के स्वतन्त्र राष्ट्र सदस्यता ग्रहण करें और उन राष्ट्रों की धुरी में हो स्वयं इंग्लैण्ड।

इस प्रकार, साम्राज्य के उस सीमा तक सिमट जाने के बाद भी, विश्व की राजनीति का खेल, इंग्लैण्ड के प्रभाव में, थोड़ा-बहुत तो रखा ही जा सकता था। लन्दन की आवाज मानी जाएगी—वह लन्दन को, जो सदियों तक पूरे विश्व की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक और राजनीतिक राजधानी बना रहा..... साम्राज्य की दिव्यता भले ही लुप्त हो जाए, लेकिन लोगों को यह निरन्तर याद रहना चाहिए कि कभी यह साम्राज्य कितना दिव्य था।

दूसरी ओर, यह भी एक कड़वी सच्चाई थी कि 'कॉमनवेल्थ' के इस सपने को साकार करने के लिए जार्ज छठवें के पास करने-धरने को कुछ नहीं था। उसका दूर का भाई, लुई माउण्टबेटन, अवश्य कुछ—बल्कि, काफी कुछ कर सकता था।

'कॉमनवेल्थ' की परिकल्पना के साथ माउण्टबेटन की पूरी सहमति थी। शाही परिवार के किसी भी व्यक्ति ने 'पुराने साम्राज्य' में उतनी अधिक यात्राएं नहीं की थीं, जितनी माउण्टबेटन ने। वह केवल जबर्दस्त यात्री नहीं, बल्कि जबर्दस्त राजनीतिक विचारक भी था। इस नाते वह जानता था कि अंग्रेज साम्राज्य की मौत होनी ही है। इस मौत पर वह बेहद दु:खी था, लेकिन उसे मालूम था कि उसके दु:खी होने या न होने से अब कोई फर्क नहीं पड़ने वाला।

बंकिंघम पैलेस के उस अन्तरंग कक्ष में बैठे, रानी विक्टोरिया के उन दो प्रपौत्रों ने, एक गुप्त निर्णय कर लिया—

'कॉमनवेल्थ' के निर्माण पर इंग्लैण्ड की भावी आशाओं के लिए लुई माउण्टबेटन को, अब, प्रचारक-दूत जैसा काम शीघ्र शुरू कर देना था।

एक तरह से देखें, तो—

भारत के अन्तिम वायसराय की कुर्सी के लिए कोई भी व्यक्ति उतना योग्य नहीं था, जितना माउण्टबेटन। अपनी इस योग्यता का पहला सार्वजनिक प्रदर्शन उसने उस वक्त किया था, जब उसका नामकरण समारोह हो रहा था और उसे बड़ी हसरतों के साथ रानी विक्टोरिया की गोद में बिठाया गया था। उस वक्त, अपनी नन्हीं सी मुट्ठी के एक ही वार में उसने रानी की शाही नाक पर चढ़े चश्मे को उतार फेंका था—रानी, जिसका कि वह प्रपौत्र था।

उसी रानी विक्टोरिया के साम्राज्य का पानी उतारने के लिए अब वह भारत का वायसराय बन कर रवाना होने वाला था।

1943 में विन्स्टन चर्चिल को किसी ऐसे परिश्रमी नौजवान की जरूरत थी, जिसे दक्षिण-पूर्वी एशिया का सुप्रीम एलायड कमाण्डर बनाया जा सके। इस पद के लिए चर्चिल द्वारा जब माउण्टबेटन को चुना गया, तो उसकी उम्र मुश्किल से 43 साल थी। पद सम्भालते ही जो जिम्मेदारी उसके कन्धों पर आई और जो अधिकार उसे सहज मिल गए; उसकी तुलना मात्र आइजनहावर से हो सकती थी। ड्वाइट आइजनहावर भी, उन दिनों, अन्य क्षेत्र में, सुप्रीम एलायड कमाण्डर थे।

एशिया के लम्बे-चौड़े फैलाव में बसी बारह करोड़ अस्सी लाख की आबादी का चार्ज अब माउण्टबेटन के जिम्मे था। जैसा कि माउण्टबेटन ने, बाद में याद करते हुए, लिखा—'वह एक ऐसा कमाण्ड था, जिसमें किसी भी प्रकार की सुविधा अथवा विजय की संभावना नहीं थी। आत्मबल डूब रहा था। भयानक मौसम, भयानक दुश्मन, भयानक पराजयों का सिलसिला........'

अनेक अधिकारी, जो माउण्टबेटन के हाथ के नीचे आ गए; उम्र में उससे बीस-बीस वर्ष बड़े थे, और रैंक में तीन-तीन, चार-चार रैंक ऊँचे। उन्हें प्रभावित किए रहना आसान नहीं था।

सीमान्तों और मोर्चों पर स्वयं मौजूद रहकर माउण्टबेटन ने अपने सैनिकों और अधिकारियों का गिरता मनोबल ऊपर उठाया। बर्मा की मूसलाधार बारिशों में भी उसके सैनिक जिस बहादुरी से लड़े, वह माउण्टबेटन के व्यक्तिगत प्रभाव के बिना सम्भव नहीं था। मात्र दो वर्ष बाद; यानि सन् 1945 में, उसके कमाण्ड ने जापानियों को इतनी करारी मात दी कि जमीन की लड़ाई में जापानी उतनी बुरी तरह कभी नहीं हारे थे।

किशोरावस्था में ही माउण्टबेटन ने नौसेना-अधिकारी का कैरियर चुन लिया था, ताकि वह अपने पिता का सवाया साबित हो सके। उसके पिता ने अपना देश जर्मनी चौदह बरस की उम्र में छोड़ दिया था। इंग्लैण्ड में उसने क्रमशः इतनी तरक्की की थी कि शाही नौसेना में उसे फर्स्ट-सी-लार्ड की पदवी मिल गई।

किशोर माउण्टबेटन, शाही नौसेना की नौकरी में, अभी आया ही था कि उसका पिता एक विडम्बना का शिकार हो गया। प्रथम विश्वयुद्ध शुरू होने के साथ पूरे इंग्लैण्ड में जर्मनों के विरुद्ध जो उन्माद की लहर दौड़ गई, उसमें माउण्टबेटन के पिता को त्यागपत्र देने पर मजबूर होना पड़ा।

सम्राट जार्ज पाँचवें की सलाह के अनुसार, उसने अपना पारिवारिक नाम 'बैटनबर्ग' से बदलकर 'माउण्टबेटन' कर लिया और सम्राट ने उसे 'मार्किस ऑफ मिलफोर्ड हैवन' की पदवी दी। फर्स्ट-सी-लार्ड के पुत्र ने कसम खाई कि जिस पद पर उसका पिता कायम न रह सका उसे किसी दिन वह स्वयं अपने अधिकार में लेकर रहेगा।

प्रारम्भ में माउण्टबेटन की तरक्की धीमी और अनाटकीय रही। इसके बावजूद, जतना ने उसे अपनी आँख का तारा मान लिया; क्योंकि युद्ध की विभीषिकाओं से दबी दुनिया सौन्दर्य और माधुर्य का स्वागत करने को बेहद बेताब थी। लुई माउण्टबेटन शारीरिक सौन्दर्य और स्वभावगत: माधुर्य का धनी था। प्रिन्स ऑफ वेल्स से उसकी गहरी दोस्ती थी। शाही घराने के साथ वह पारिवारिक स्तर पर बंधा हुआ था। इसके अलावा; एडविना ऐशले नामक जिसके युवती से उसने प्रेम किया और फिर शादी भी की, वह न केवल अत्यन्त सुन्दर थी; बल्कि धन और मान दोनों दृष्टियों से बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। सोने में सुहागा, एडविना को सामाजिक मेलजोल और जनसेवा के कार्यों में गहरी रुचि थी। सभी तत्त्व ऐसे एकत्र हुए कि इंग्लैण्ड के अखबारों में आए दिन लुई और एडविना माउण्टबेटन की तस्वीरें, किसी-न-किसी बहाने, छपती रहतीं।

पोलो के खेल में माउण्टबेटन ने ट्राफी जीती। माउण्टबेटन दम्पत्ति फलां फिल्म निर्देशक के साथ फलां थियेटर पर देखे गए। नौजवान लॉर्ड लुई माउण्टबेटन ने भूमध्यसागर में वाटर-स्कीइंग की। फलां डान्स, फला पार्टी, फलां समारोह। तस्वीरें और विवरण छापने के लिए अखबार वालों को बहानों की कमी भला कब हुई है; यह स्थिति 1922 की थी।

लेकिन इस ग्लैमरपूर्ण तस्वीर के पीछे एक और ऐसी तस्वीर थी, जिसका विशेष परिचय जनता को नहीं था और जो उस समय सामने आई, जब डान्सों और पार्टियों के अवसर खत्म हो गए।

नौसेना-अधिकारी के रूप में पिता का सवाया साबित होने की अपनी कसम लुई माउण्टबेटन भूला नहीं था। अपने पद पर अत्यन्त महत्वाकांक्षी होकर काम करने की और दिन-रात कुछ भी न देखने की आदत माउण्टबेटन को शुरू से थी। माउण्टबेटन के संगी-साथी जीवन भर स्तब्ध होते रहे थे कि यह आदमी इतना काम कैसे करता है, कि यह कभी सोता भी है या नहीं?

लुई माउण्टबेटन ने यह बहुत पहले समझ लिया था कि भविष्य के युद्धों में इलेक्ट्रॉनिक-सिग्नल्स का महत्व बेहद बढ़ जाएगा। भौतिकी और विद्युतीकरण के क्षेत्रों में

इतनी तरक्की होगी कि किसी भी देश की जीत या हार इसी पर आधारित रहेगी कि वह इन क्षेत्रों में कितना आगे या पीछे है।

अपनी इस दूरदर्शिता के कारण, माउण्टबेटन ने डेक-ऑफिसर के कैरियर से ज्यादा महत्व इलेक्ट्रॉनिक्स के अध्ययन को देना शुरू किया। 1927 के नौसेना वायरलैस-कोर्स में माउण्टबेटन अव्वल पास हुआ।

फ्रांस के रॉकेट-विज्ञान के महारथी रॉबर्ट एस्नाल्त पेल्तेर के ग्रन्थ, माउण्टबेटन ने ही, अंग्रेज नौसेना के लिए प्राप्त किए। उन ग्रन्थों से इंग्लैण्ड को वी-बंमों, गाइडेड मिसाइलों और मानव की चन्द्र-यात्राओं का आभास; यह सब सम्भव हुआ, इससे बहुत पहले मिल गया था।

स्विट्जरलैण्ड में रहकर माउण्टबेटन ने एक ऐसी एण्टी-एयरक्राफ्ट गन बनाई, जो बड़ी तेजी से फायरिंग करके 'स्तूका डाइव बॉम्बरों' के धुर्रे उड़ा सकती थी। इस गन को शाही नौसेना स्वीकार कर ले, इसके लिए भी माउण्टबेटन को बड़े जिद्दी ढंग से महीनों-महीनों दौड़ धूप करनी पड़ी।

25 अगस्त, 1939 के दिन माउण्टबेटन ने एक नवनिर्मित विध्वन्सक 'एच.एम.एस. केली' का नेतृत्व सम्भाला। इसके कुछ ही घण्टों के भीतर रेडियो ने घोषणा की कि हिटलर और स्टालिन ने एक शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर किए हैं। 'केली' के कप्तान ने इस घोषणा की गम्भीरता को तुरन्त पहचान लिया। माउण्टबेटन ने अपनी टुकड़ी को उसी क्षण आदेश दिया कि रात और दिन काम करो, ताकि 'केली' को समुद्र में उतारने के लिए जो तीन हफ्ते की देरी है, उसे अधिकतम घटाया जा सके।

नौ दिन बाद, जब युद्ध शुरू हुआ; तो 'केली' का कप्तान, मैले-कुचले कपड़े पहने हुए, अपने जहाज पर जल्दी-जल्दी रंग लगाकर, उसे 'फिनिशिंग टच' दे रहा था। उसके सभी नौसैनिक इसमें साथ दे रहे थे। ठीक अगले दिन, एक जर्मन पनडुब्बी के मुकाबले में 'केली' डटा हुआ था।

अंग्रेज चैनल को पार करते जहाजों की रक्षा के लिए विध्वन्सक 'केली' की सेवाएं ली गई। उत्तरी समुद्र में 'केली' ने यू-बोट्स के लिए मुसीबत खड़ी कर दी। जर्मन बमबारी और खतरनाक कोहरे की परवाह न करके 'केली' ने 'नारविक अभियान' के बचे-खुचे छह हज़ार कर्मचारियों की जीवन-रक्षा में अमूल्य सहयोग दिया।

टायन के मुहाने पर 'केली' के पिछले भाग को गहरा नुकसान पहुँचा था। उत्तर समुद्र में विचरण करते समय एक टारपीडो उसके बायलर-रूम में आकर लगा। जहाज छोड़ देने का आदेश जारी हो जाने के बावजूद माउण्टबेटन रातभर अकेला 'केली' के ढांचे पर बहता रहा। फिर, अठारह स्वयंसेवकों की मदद से उसने 'केली' को एक अन्य जहाज के साथ जोड़ कर खिंचवाया और किनारे तक सकुशल पहुँचा दिया।

एक वर्ष बाद; मई, 1941 में 'केली' की जिन्दगी खत्म हो गई। उसने अपने बारूदखाने में एक बम झेला। माउण्टबेटन का प्रिय जहाज चुटकियों में, समुद्र के गर्त में समा गया। जब तक वह पूरी तरह न डूब गया, माउण्टबेटन उसके पुल पर मौजूद रहा—जैसा कि उसने, कप्तान बनने के साथ, अपनी टुकड़ी को वचन दिया था—और फिर, समुद्र की सतह तक पहुँचने के लिए उसने भारी संघर्ष किया। केवल एक जीवन-नौका उपलब्ध हो सकी। घण्टों तक उसने उस अकेली नौका के जरिए अपने बचे-खुचे, तेल-सने, साथियों को तैराए रखा। लगातार वह उन साथियों को गीत गाने के लिए उत्साहित कर रहा था, ''रॉल आउट द बैरल........'' और लगातार जर्मन हवाई जहाज उन पर गोलियों बरसाते उड़ते रहे।

'केली' के बहादुर कप्तान के रूप में माउण्टबेटन को पुरस्कृत किया गया। नील कॉवर्ड ने, जो माउण्टबेटन का दोस्त था, अपनी फिल्म 'इन व्हिच वी सर्व' में 'केली' नामक उस जहाज को धुरी बनाकर, उसे मानो अमर ही कर दिया।

'केली' की जल-समाधि के पाँच महीने बाद चर्चिल ने माउण्टबेटन को 'कम्बाइण्ड ऑपरेशन्स' (संयुक्त अभियान) का मुखिया नियुक्त किया। इस अभियान की जिम्मेदारी सौंपी गई कि मोर्चेबन्दी में आधुनिकता लाने के लिए नये तरीके सोचे जाएं, इलेक्ट्रॉनिक्स एवं अन्य तकनीकों को अधिकतम अपनाया जाए।

माउण्टबेटन को; जो अपनी मेहनत, बुद्धिमानी और विज्ञानप्रियता के लिए खूब प्रसिद्ध था; भला और क्या चाहिए था! 'चाहे कितना ही अजीबोगरीब विचार मेरे पास लाया जाए, उसे स्वीकार करने से मैं एकाएक नहीं बिदकूंगा।'—माउण्टबेटन ने वचन दिया। आविष्कारकों, वैज्ञानिकों, तकनीशियनों, बुद्धिजीवियों और नकली बुद्धिजीवियों की भीड़ लग गई माउण्टबेटन के चारों ओर।

इन्होंने कुछ ऐसी योजनाएं बनाईं, जो बिल्कुल किसी परिकथा में से उठाई गई लगती थी। मसलन; समुद्र के पानी में लकड़ी की लुगदी घोलकर, पानी के विशाल मैदान बर्फ के रूप में जमा दिए जाएं। फिर इन मैदानों को तैरते हवाई-अड्डों की तरह उपयोग किया जाए—ऐसे अड्डे, जिन्हें खींच कर इधर-से उधर ले जाया जा सके और जिन्हें बमबारी से भी डुबाना सम्भव न हो।

लेकिन—

'कम्बाइण्ड ऑपरेशन्स' (संयुक्त अभियाने) की इसी कल्पना प्रियता के कारण कई ऐसे पराक्रम सम्भव हो सके, जिन्होंने अपने मुखिया लुई माउण्टबेटन की शोहरत में चार चाँद लगा दिए और जिनकी साख पर, मात्र 43 साल की उम्र में, माउण्टबेटन को दक्षिणी-पूर्वी एशिया का सुप्रीम-कमाण्डर बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

जल में डूबी ट्रान्स-चैनल पाइप-लाइन, मल्बरी के 'नकली बन्दरगाह', रॉकेटों के नए-नए डिजाइन, उड़ान-पट्टियों के नए मॉडल......... अनेक उपलब्धियाँ थी, जिनके सहयोग के बिना नारमण्डी का आक्रमण सम्भव न हो पाता।

अब—

अपने कैरियर का सबसे चुनौती भरा कार्य स्वीकार करते वक्त, माउण्टबेटन की शारीरिक और मानसिक क्षमताएँ चरम पर पहुँची हुई थी। सुप्रीम कमाण्डर के ऊँचे पद और समुद्री युद्धों के अनुभव ने उसे वह शक्ति दी थी जिससे माउण्टबेटन बड़े-से-बड़ा निर्णय भी आननफानन में कर सकता था।

नेताओं जैसे उसके जन्मजात गुणों में एक अनोखी आब पैदा हो चुकी थीं। वह दार्शनिकों की तरह अमूर्त विचारों की उड़ान नहीं भर सकता था। वह सैनिक था सैनिक की तरह ही उसके विचार हमेशा ठोस होते।

जीतना हर सैनिक का दायित्व होता है और स्वभाव भी। यह विशेषता माउण्टबेटन की रग-रग में थी। उसके चेहरे में वह आत्मीयता थी कि टेढ़े से टेढ़े लोगों को भी एकत्र करके अपनी बात मनवा लेना उसके लिए कभी मुश्किल नहीं रहा।

माउण्टबेटन के एक विरोधी ने भी स्वीकार किया है, 'वह एक ऐसा व्यक्ति था, जो अपने आकर्षण से किसी गिद्ध को भी लाश पर से उतरने के लिए मजबूर कर सकता था।'

लेकिन उसका सर्वोपरि गुण तो था वह आत्म-विश्वास, जिसका अतल सागर उसके भीतर लहरा रहा था।

जब दक्षिण-पूर्वी एशिया का नेतृत्व उसे सौंपने का प्रस्ताव चर्चिल ने रखा, तो माउण्टबेटन ने चौबीस घण्टे का समय सोचने के लिए मांगा।

इस पर चर्चिल ने जरा खिसियाकर पूछा, "क्यों? क्या तुम्हें विश्वास नहीं कि यह काम तुम कर सकोगे?"

"सर!" माउण्टबेटन ने उत्तर दिया, "मुझे, दर असल एक जन्मजात बीमारी है—यह मानकर चलने की कि दुनिया का हर काम मैं कर सकता हूँ। यदि एकाएक 'हाँ' कह दूंगा, तो यही लगेगा कि मैंने इसी बीमारी के कारण "हाँ" कही है। इसीलिए जरा सोचने के बाद "हाँ" कहना चाहता हूँ। कहना तो मुझे "हाँ" ही है!"

विक्टोरिया के प्रपौत्र को अपने इस अद्‌भुत आत्मविश्वास की, अब अत्यधिक आवश्यकता पड़ने वाली थी।

साथ-साथ अविश्वसनीय तीव्रता की भी।

एकबार, नौसेना द्वारा आयोजित एक नौका-दौड़ में उसकी टुकड़ी सबसे आगे निकल गई थी, क्योंकि माउण्टबेटन ने उसे एक नए ढंग से पतवार चलाने की कला सिखाई थी। बाद में, पतवार चलाने के उस ढंग को "गैर-कानूनी" करार दिया गया और वैसी 'चाल' चलने के लिए माउण्टबेटन की काफी भर्त्सना हुई; लेकिन माउण्टबेटन ने कहा, "दौड़ केवल दौड़ होती है। उसमें अव्वल रहने की शर्त ही सबसे बड़ी शर्त है, जो मैंने पूरी की।"

प्रायश्चित की प्रगति (क)

हर गांव में, उनका तरीका एक ही होता। एशिया का वह सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति, गांव में घुसने के साथ, किसी झोंपड़े के सामने खड़ा हो जाता—यथासम्भव, किसी मुसलमान के झोंपड़े के सामने—और आसरे की भिक्षा मांगता।

यदि भिक्षा न मिलती, जैसा कि कई बार हुआ, तो गांधी जी किसी अन्य झोंपड़े के दरवाजे पर पहुंचते। ''यदि एक भी दरवाजे पर मेरा स्वागत न हुआ, तो किसी वृक्ष की छाया तो मिल ही जाएगी।'' उन्होंने हमेशा यही कहा।

एकबार डेरा डल जाने के बाद, भोजन के रूप में जो भी शाकाहार गांव वाले दे जाते; वह स्वीकार कर लेते : सब्जियां, फल, बकरी का दूध, दही, रस।

हर गांव में उनके प्रत्येक घण्टे का कार्यक्रम बड़ी चुस्ती से तैयार होता। समय की पाबन्दी वह हमेशा अत्यन्त प्रखर ढंग से निबाहा करते। उनका कथन था कि एक-एक क्षण ईश्वर के उपहार जैसा है और उसका प्रयोग मानव-मात्र की सेवा में होना चाहिए।

जिन इक्की-दुक्की चीजों का स्वामित्व वह भोगते थे, उनमें से एक वह घड़ी भी थी, जो सोलह साल से कम पुरानी नहीं थी और आठ-एक शिलिंग से ज्यादा दाम की नहीं; वह हमेशा उनकी कमर पर बंधी रहती।

वह हमेशा सुबह दो बजे उठते थे, ताकि गीता पढ़ें और प्रार्थनाएं करें। फिर वह पलांत लगाकर बैठ जाते और अपने झोंपड़े की शान्ति में चिट्ठियों के जवाब लिखने शुरू करते—'लांग-हैण्ड' में खुद, अपने हाथ और पेन्सिल से।

हर पेन्सिल का वह तब तक उपयोग करते, जब तक इतनी घिस न जाए कि पकड़ना ही मुश्किल हो जाए। उनका मत था कि पेन्सिल मनुष्य के परिश्रम का प्रतीक है। यदि उसे ठीक से उपयोग किए बिना फेंक दिया गया, तो इससे किसी मनुष्य के परिश्रम का अपमान होगा।

हर सुबह, बिल्कुल तयशुदा समय पर, वह नमक मिले पानी से एनीमा लिया करते। उनका दृढ़ विश्वास था कि इस प्रकार वह प्रतिदिन अपनी तमाम शारीरिक गन्दगी से छुटकारा पा जाते हैं। प्राकृतिक उपचार के वह महान् पक्षधर थे। बरसों तक यह माना जाता रहा कि महात्मा गांधी जब तक किसी व्यक्ति को स्वयं अपने हाथ से नमक-मिले पानी का एनीमा देते हैं, तो इसका अर्थ होता है कि वह व्यक्ति महात्मा जी की अन्तरंग टुकड़ी में शामिल कर लिया गया।

सूर्योदय के साथ गांधी जी गांव में भटकना शुरू करते। लोगों से मिलते, बातचीत करते। सामूहिक प्रार्थनाओं के आयोजन होते। शीघ्र ही उन्होंने एक ऐसा तरीका सोच निकाला, जो विशुद्ध रूप से गांधीवादी था और जिसने नोआखाली में शान्ति व सुरक्षा की स्थापना में

अत्यन्त महत्व का रोल अदा किया। हर गांव में गांधी जी एक मुसलमान और एक हिन्दू नेता को ढूंढ़ निकालते, जो उनके आग्रह पर एक ही छत के नीचे रहने को तैयार हो जाते। मुसलमान नेता वचन देता कि अब यदि मेरे धर्मावलम्बियों ने हिन्दुओं पर आक्रमण किया, तो मैं उपवास कर-करके मर जाऊँगा। इसी तरह का वचन हिन्दू नेता से भी लिया जाता।

लेकिन, नोआखाली के उन खूनसने देहातों में, गांधीजी ने अपने प्रयासों को केवल शान्ति-स्थापना तक सीमित न रखा।

एकबार जहां उन्हें आभास मिलता कि गांव के लोग 'मानव-मानव के बीच प्रेम' के उनके संदेश का अर्थ समझना शुरू कर चुके हैं, त्यों ही वह अपनी अपील का दायरा विस्तृत कर देते।

गांधी जी के अनुसार भारत का प्रतिनिधित्व यदि कहीं होता है, तो उसके गांवों में ही। गांवों में जितना गांधी जी पहचानते थे, उतना शायद स्वयं गांव वाले भी नहीं, गांवों का उद्धार वह कुछ इस प्रकार करना चाहते थे कि जब भारत आजाद हो तो यह आजादी गांवों की ही नींव पर खड़ी हो। गांवों का उद्धार कैसे किया जाए, इसका मौलिक कार्यक्रम गांधी जी के पास तैयार था।

"अपनी इस यात्रा में आप लोगों को मैं बताना चाहता हूँ कि गांव का, पीने का पानी, कैसे स्वच्छ रखा जाए; और आप खुद लोग कैसे स्वच्छ रहें।" वह गांव वालों से अपील करते, "हम सब का शरीर मिट्टी से ही बना है। इस कारण, मिट्टी का सही उपयोग करके हम अनेक रोगों से छूट सकते हैं। यह जो आकाश हमारे ऊपर फैला है, इसमें से शक्ति के अनेक सोते मिल सकते हैं। जो हवा हमारे चारों ओर है, उसमें हमें शुद्ध करने की और हमारा ओज बढ़ाने की अद्‌भुत क्षमता है। यह धूप! इसका भी अगर सही उपयोग किया जाए, तो हमारा जीवन क्रान्तिकारी ढंग से पलट सकता है।"

बुढ़ऊ नेता ने अपनी बात को केवल शब्दों तक सीमित कभी न रखा। मोहनदास करमचन्द गांधी को भली-भांति मालूम था कि किसी काम का मात्र आदेश देना और उसी काम को खुद करके दिखा देना—इन दोनों में कितना जमीन-आसमान का अन्तर है।

गांधी जी के अनेक अनुयायियों का दृढ़ मत था कि उन्हें अपने समय का सदुपयोग किन्हीं और गतिविधियों में करना चाहिए; लेकिन गांधी जी थे कि वायसराय से साक्षात्कार की तैयारी जितनी सावधानी से करते, उतनी ही सावधानी से वह किसी कोढ़ी के बदन पर रखने के लिए मिट्टी का पैक भी तैयार करते।

हर गांव में वह लोगों को साथ लेकर उनके कुंओं पर जाते। बताते कि कुएं में कहां-कहां से गन्दगी आ रही है और उसे रोका कैसे जाए।

गांव की शौच-व्यवस्था की वह जांच करते। जैसा कि प्राय: होता, गांवों में शौच-व्यवस्था का कहीं कोई अस्तित्व ही नजर नहीं आता। तब, गांधी जी उन्हें बताते कि साफ-

सुथरे शौचालय कैसे तैयार किए जाएं। इसके खुदाई कार्य में वह गांव वालों के साथ मिलकर कुदाल चलाते।

गांधी जी को मालूम था कि सफाई के मूलभूत नियमों से अनभिज्ञ होने के ही कारण भारत के आम आदमी की औसत उम्र इतनी कम है। जहां सूझे वहीं शौच करना-मूत देना, थूकना, नाक सिनकना........ फिर उन्हीं रास्तों पर नंगे पांव चलना............

''अगर सारे हिन्दुस्तानी किसी एक समय, किसी एक जगह जाकर थूकें, तो इतना बड़ा तालाब तैयार हो जाए कि देश को जकड़ रखने वाले तीन लाख गोरे उसी में डूब मरें!'' गांधी जी का यह व्यंग्य-वाक्य बहुत प्रसिद्ध है।

जब भी वह किसी देहाती को गलत जगह पर थूकने या नाक सिनकते देखते, तुरन्त जाकर पूरी नम्रता से उससे कहते कि क्या तुम्हें सफाई के सामान्य नियम भी मालूम नहीं?

नोआखाली के गांव में भी वह घर-घर में घुसे लोगों को उन्होंने स्वयं प्रयोग करके दिखाया कि किस प्रकार मामूली रेत और कोयले से ऐसी छन्नी तैयार हो सकती है, जो उनके पीने के पानी को पूर्णतया स्वच्छ कर दे।

''जो हम करते हैं और जो हम कर सकते हैं, इसका अन्तर इतना बड़ा है कि यदि उसी को समझ लिया जाए, तो दुनिया की अधिकांश समस्याएं हल होती दिखाई दें।'' गांधी जी प्राय: कहा करते।

हर शाम उनकी ओर से खुली प्रार्थना-सभा आयोजित की जाती। मुसलमान और हिन्दू, दोनों, उसमें एक जैसे स्नेह के साथ आमन्त्रित रहते। गांधी जी प्रत्येक सभा में गीता के साथ कुरान में से भी उद्धरण सुनाया करते। उन सभाओं में कोई भी व्यक्ति उनसे किसी प्रकार का सवाल पूछ सकता था।

नोआखाली के एक गाँव में जब वह भाईचारे और स्वच्छता का माहौल तैयार कर लेते; तो पाँच, दस, पन्द्रह मील दूर के किसी और गांव की तरफ रवाना हो जाते—पैदल। उन्हें कई बार, अपने साथियों समेत, ऐसे रास्तों से गुजरना पड़ा; जब उनके पैर घुटनों-घुटनों तक कीचड़ में धंस गए। कांटे गड़ने और नुकीले पत्थरों से चोट लगने के कारण, कई बार, वे लोग जब अगले गांव में पहुँचे; तो लहुलुहान पैर लेकर पहुंचे।

तब, प्रायश्चित यात्रा पर होने के बावजूद, गांधी जी एक विलासिता का आनन्द लेते। वह विलासिता थी—पैरों की मालिश। हर क्षण, हर जगह साथ रहती दूर की पोती मनु जिसे उन्होंने धर्मपुत्री मान लिया था, उनके थके पैरों को राहत देने का प्रयास करती—चिकना पत्थर फेर कर की जाती वह मालिश, शायद पूरे विश्व में अपने तरह की एकमात्र थी।

पिछले तीस वर्षों से वे पैर गाँधी जी को भारत में सबसे दुष्कर रास्तों के पार ले जाकर उन हजारों गांवों तक पहुंचाते रहे थे, जिनकी सोंधी गन्ध से उन्हें बेहद प्यार था। उन्हीं

पैरों के जोर पर वह जेलों और महलों में गए थे, झोंपड़पट्टियों और कुष्ठ रोगियों की दर्द भरी बस्तियों में घुसे थे। हर जगह, हर दिन, हर क्षण, उन पैरों ने केवल एक मंजिल की खोज की थी—भारत की आजादी।

रानी विक्टोरिया को जब भारत की साम्राज्ञी घोषित किया गया था, तब मोहनदास गांधी की उम्र मात्र आठ वर्ष की थी और वह पाठशाला जाना शुरू कर चुके थे। रानी विक्टोरिया का वह स्वागत-समारोह हुआ दिल्ली से बाहर के एक मैदान में। मोहनदास करमचन्द गांधी वहां से 700 मील दूर थे-अपने वतन पोरबन्दर में। इसके बावजूद वह समारोह उनके तन-मन पर जैसे हमेशा के लिए अंकित हो गया था।

समारोह की प्रतिध्वनियां एक गीत के रूप में उन तक, उनके साथियों तक, पहुंची थी। उस अंग्रेजी गीत का भावार्थ था—

होशियार! वह आया शक्तिशाली अंग्रेज!
जो कि
पिद्दी हिन्दुस्तानियों का शासक है;
अंग्रेज भला क्यों न हो ऊंचा?
आखिर वह
मजे-मजे में मांस खाता है......

बड़ा होकर जो लड़का अपनी आध्यात्मिक शक्ति से उन 'ऊंचे' और मजे-मजे में मांस खाने वाले 'गोरों' की नजरें झुका देने वाला था, उनके समूचे साम्राज्य को जो जड़-मूल से हिला देने वाला था; वही लड़का उस दिन उस गीत को सह नहीं सका था। क्या मांस खाने से ही 'ऊंचे शासकों' जैसी क्षमताएं आ जाती हैं?

मोहनदास ने एक दोस्त को साथ लिया। चुपके-चुपके दोनों ने बकरे का मांस पकाया। हिन्दू धर्म जिस चीज को छूने से भी मना करता है, उसी को उन्होंने खाकर देखा। प्रयोग बुरी तरह विफल रहा। आठ वर्षीय मोहदास ने उसी क्षण उल्टी कर दी। रात भर उसे डरावने सपने आते रहे।

मोहनदास के पिता करमचन्द, काठियावाड़ के एक छोटे-से राज्य में दीवान के पद पर थे। उनकी माता अत्यन्त आस्तिक महिला थी, जो अक्सर लम्बे उपवास किया करती।

यह बात अत्यन्त रोचक है कि महात्मा गांधी का जन्म ब्राह्मण परिवार में नहीं हुआ था। जो व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक और राजनीतिक शक्ति से पूरे भारत को आलोड़ित करके उसे आजादी दिलाने वाला था; वह ब्राह्मण नहीं, वैश्य था—जबकि हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था की रूढ़ियों के अनुसार ये ब्राह्मण ही हैं, जो पूरे हिन्दू समाज के लिए आध्यात्मिक चिन्तन करते हैं और जो अपनी प्रखर बुद्धि के कारण शासकों की राजनीतिक शक्तियों और

महत्वाकांक्षाओं को भी निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। मोहदास गांधी का जन्म एक ऐसी जाति में हुआ था, जिसके लोग या तो छोटे दुकानदार होते हैं या मामूली व्यापारी।

तेरह वर्ष की उम्र में, भारतीय परम्परा के अनुसार, मोहनदास का विवाह एक नितान्त अपरिचिता से कर दिया गया; जो पढ़ी-लिखी भी नहीं थी—कस्तूर बाई से। जो व्यक्ति आगे चलकर पूरे विश्व को ब्रह्मचर्य और यौन-संयम का सन्देश देने वाला था, वह यौन-आनन्द में गले तक डूब गया।

चार वर्ष बाद—

मोहनदास अपनी पत्नी के साथ वैवाहिक सुख-सरिता में नहा रहा था कि अचानक किसी ने बन्द दरवाजे पर बाहर से खटखटाया। वह घर का नौकर था। उसने बताया कि मोहनदास के पिता का अभी-अभी देहान्त हो गया।

मोहन स्तब्ध, रह गया। पिता के लिए मोहनदास के मन में अत्यधिक श्रद्धा थी। अभी, कुछ क्षण पहले ही, वह अपने पिता के पांव दबाता हुआ उनकी खाट पर बैठा था। उसे कल्पना भी नहीं थी कि बीमार पिता ने आखिरी सांसें गिनना शुरू कर दिया है। पांव दबाते-दबाते, मोहनदास को, एकाएक वासना की आग ने झुलसा दिया। चुपके से वह उठा, पिता के कमरे से बाहर निकला, अपने निजी कमरे में घुसा। गर्भवती पत्नी को उसने जगाया।

इस विरोधाभास का आतंक मोहनदास के लिए असहनीय ही था कि जिन क्षणों में उसके पिता ने अन्तिम सांसें गिनीं, ठीक उन्हीं क्षणों में वह अपनी पत्नी के साथ जुटा हुआ था। यौन-आनन्द ने हमेशा के लिए मोहनदास से बिदा लेना शुरू कर दिया। उसके मन पर सदा-सदा के लिए यह छाप पड़ गई की उत्तरदायित्वों के वहन में यौन कठोरतम बाधा बनता है।

पिता की मृत्यु के फलस्वरूप, मोहनदास को आगामी पढ़ाई के लिए, झटपट इंग्लैण्ड भेजा गया; ताकि वह भारत लौटते समय पिता द्वारा रिक्त छोड़े गए दीवान के पद को सम्भाल सके। पुराने ख्यालों के हिन्दू परिवार के लिए घर के लड़के को सात समुन्दर पार भेजना कोई मामूली बात नहीं थी। मोहनदास के परिवार में आज तक कोई कभी विदेश नहीं गया था। वैश्य समाज ने घोषित किया कि मोहनदास करमचन्द गांधी को जात निकाला दिया जा रहा है, क्योंकि समुद्र-पार के देश में जाने के साथ वह अपवित्र हो गया।

लन्दन में मोहनदास के दु:खों की सीमा न रही। वहां वह इस सीमा तक शर्मीला साबित हुआ कि किसी अजनबी से अगर दो शब्दों की भी बातचीत करनी पड़ जाती, तो उसकी जान निकलने लगती। उन्नीस वर्ष की उम्र को देखते हुए उसका शारीरिक विकास अत्यन्त दयनीय था। लन्दन की अभिजात्य, दुनिया में इस दयनीयता की छुरी और भी पैनी हो गई। भारत में सिले हुए मोहनदास के कपड़े उसे ठीक से फिट न होते। जहाज में फटे मस्तूल की तरह वे उसे बदन पर फड़फड़ाते रहते। वास्तव में; वह इतना छोटा, इतना मामूली, इतना अप्रभावशाली था कि उसके सहपाठी अक्सर उसे चपरासी समझ बैठते।

भयानक अकेलेपन और दुःख के शिकार मोहनदास ने तय किया कि सबसे पहले उसे फटे मस्तूल की तरह फड़फड़ाते अपने इन कपड़ों से छूटना होगा। भारतीय पोशाक को तिलांजलि देकर उसने जो नए कपड़े अपनी अल्मारी में सजाए, वे थे—रेशम का टॉप-हैट। ईवनिंग सूट। पेटेन्ट लेदर के बूट। सफेद दस्ताने। यहाँ तक कि चांदी मढ़े छोर वाली वाकिंग स्टिक भी।

मोहनदास ने हेयर लोशन भी खरीदा, ताकि जो बाल उसके सिर पर स्टाइलिश ढंग से जमने से साफ इन्कार करते थे, उन्हें सबक सिखाया जा सके। टाई की नॉट लगाने और अपना नख-शिख मेकअप करने के लिए मोहनदास ने रोज शीशे के सामने घण्टों बैठना शुरू किया।

सामाजिक स्वीकृति पाने के लिए मोहनदास की तड़पन इनती गहरी थी कि उसने वायलिन खरीदा, नृत्य कक्षाओं में दाखिला लिया, फ्रेंच की ट्यूशन पढ़नी शुरू की और भाषा में लय लाने के लिए एक और शिक्षक अलग से रखा।

इस तमाम धूमधड़ाके का परिणाम वही रहा, जो बचपन में किए गए मांस खाने के प्रयोग का रहा था। मोहनदास जब वायलिन बजाता, तो लगता, तार रो रहे हैं। नृत्यशाला में उसकी टांगें लय के अनुसार चलने से साफ मना करती। फ्रेंच भाषा उसकी जुबान पर बैठने को तैयार ही नहीं थी। लय से बोलने का दिन-रात का अभ्यास भी उसके शर्मीले होंठों को चैतन्य न कर सका। यहाँ तक कि वैश्यालय जाने के अनुभव के बाद भी मोहनदास का झेंपूपना ज्यों का त्यों बना रहा।

'इंगलिश जैन्टिलमैन' बनने की इन कोशिशों को मोहनदास ने अचानक छोड़ दिया। मोहनदास मोहनदास बनने निकला। उसने बैरिस्ट्री पास की और इंग्लैण्ड से भाग चला। भारत पहुंच कर ही वह चैन की सांस ले सका।

भारत में नए ढंग की निराशा उसके इन्तजार में थी। महीनों वह बम्बई की अदालतों के सामने भटकता रहा, किन्तु लड़ने के लिए एक भी केस न मिला। जिस व्यक्ति की आवाज एक दिन चालीस करोड़ की आजादी का पूरा भारत देश सुनने वाला था उसी व्यक्ति को उन दिनों ऐसी इक्के-दुक्के लोगों की कमी पड़ गई, जो उसके श्रोता बनने को तैयार होते।

इस विफलता से मोहनदास के जीवन को पहला निर्णायक मोड़ मिला। उसके कुन्ठित परिवार ने उसे दक्षिण अफ्रीका भेज दिया, जहां दूर के एक रिश्तेदार की कुछ कानूनी उलझनें सुलझाई जानी थीं। उसे भेजा तो गया कुछ हफ्तों के लिए, लेकिन वह चौथाई शताब्दी तक वहीं रुका रहा। वह देश उदासियों और क्रूरताओं से भरा हुआ था। वहां मोहनदास ने स्वयं को उन चुनौतियों के आमने-सामने खड़े पाया, जिन्हें स्वीकार करने के साथ वह प्रक्रिया प्रारम्भ होने वाली थी, जिसमें से महात्मा गांधी के दार्शनिक विचार निखर कर सामने आए—वे विचार, जिन्होंने मोहनदास करमचन्द गांधी का जीवन तो बदला सो बदला, भारतीय इतिहास की धारा भी किसी और दिशा में मोड़ दी।

मई, 1893 में मोहनदास ने डरबन बन्दरगाह में पदार्पण किया, तो उसके व्यक्तित्व में रंचमात्र भी ऐसी कोई बात नहीं थी, जिससे आभास मिल सकता कि भविष्य का कितना बड़ा महात्मा सामने से गुजर रहा है। लन्दनिया बैरिस्टर की फैशनेबल पोशाक में अपनी हड्डियाँ छिपाए उस आदमी के ब्रीफकेस में वे सिफारिशी चिट्ठियां ठुंसी हुई थीं, जो दूर से उस धनवान रिश्तेदार के नाम लिखी गई थी...... कि यह नौजवान आपकी कानूनी उलझनों को सुझला कर रहेगा...........

दक्षिण अफ्रीका की जमीन पर पैर रखने के एक सप्ताह के भीतर मोहनदास गांधी को उस जमीन का 'सही परिचय' मिल पाया। रात की गाड़ी से मोहन डरबन से प्रिटोरिया जा रहा था। चालीस साल बाद भी उस अनुभव को महात्मा गांधी भूलने वाले नहीं थे, जिसने उनके जीवन को कुछ-से-कुछ बनाकर धर दिया था।

प्रिटोरिया का आधा रास्ता ही पार हुआ होगा कि एक गोरा आदमी उस प्रथम श्रेणी रेल के डिब्बे में घुसा और मोहनदास से बोला कि जाओ; तुम वहां बैठो, जहां सामान आदि रखा जाता है। मोहनदास ने मना किया। आखिर प्रथम श्रेणी का टिकट उसके पास भी था।

रेल जब अगले स्टेशन पर रुकी, तो उस गोरे ने मोहनदास गांधी को उसके टिकट और सामान-समेत डिब्बे से बाहर फिकवा दिया। इस शुभ कार्य को सहर्ष सम्पन्न करने के लिए बाकायदा पुलिस आई।

शेष आधी रात मोहनदास ने खुले स्टेशन पर बुरी तरह ठिठुरते हुए बिताई।

उसका सामान स्टेशन-मास्टर ने लगेज रूम में बन्द कर दिया था। वह अपने शर्मीलेपन से इतना भी न उबर पाया कि स्टेशन-मास्टर से कह सके, ''मुझे गर्म कोट तो निकालने दीजिए।''

गीता के प्रणेता ईश्वर से मोहनदास ने शक्ति और सलाह की भीख मांगी। कालों के प्रति गोरों के पूर्वाग्रह का वह अनुभव झेलना मोहन के लिए आसान नहीं था।

मेरिट्ज़ाबर्ग नामक उस अंधियारे स्टेशन पर जब सुबह की रोशनी फूटी, तो मोहनदास करमचन्द गांधी का अंधियारा जीवन भी रोशनी से जगमग हो गया।

केवल एक सप्ताह बाद, प्रिटोरिया के भारतीयों के सामने, मोहनदास गांधी ने पहला सार्वजनिक भाषण दिया। अपने अधिकारों और सम्मान की रक्षा के लिए एक हो जाओ..... एक हो जाओ.............

थोड़े ही दिनों में मोहनदास गांधी ने अपनी सफलता नम्बर एक का वरण किया। आगामी अर्द्ध-शताब्दी में ऐसी न जाने कितनी सफलताएं उसके चरणों पर लौटने वाली थीं। सफलताओं के सिलसिले का प्रारम्भ-दक्षिण अफ्रीका के रेल-विभाग को, मोहनदास के आन्दोलन के सामने झुकते हुए, यह आदेश जारी करना पड़ा कि यदि किसी भारतीय ने साफ-

सुथरे कपड़े पहने हुए हैं, तो वह टिकट खरीद कर, दूसरी या पहली श्रेणी के डिब्बों में भी, यात्रा करने का कानूनी अधिकार रखता है।

जिस कानूनी उलझन को सुलझाने के लिए मोहनदास को भेजा गया था, वह सुलझ चुकी थी; लेकिन स्वयं मोहनदास दक्षिण अफ्रीका के आन्तरिक मामलों में जा उलझा था। वह वहां के भारतीय समाज का सबसे बड़ा प्रवक्ता था ही, वकील के रूप में भी उसने सफलता पाई थी। कालों के प्रति गोरों के दुर्व्यवहार के बावजूद, अपने अंग्रेज शासकों के लिए मोहनदास के मन में वफादारी की भावना थी। बॉएर के युद्ध में मोहनदास ने एम्बुलेन्स विभाग को बाकायदा अपनी सेवाएं अर्पित की।

दक्षिण अफ्रीका में जब दस वर्ष बीत चुके थे, तब मोहनदास गांधी ने फिर एक ऐसी रेल यात्रा की, जिसने उसकी जीवन-शैली पर अमिट प्रभाव छोड़ा। 1904 की शाम..... मोहनदास डरबन जाने के लिए जोहान्सबर्ग स्टेशन से रेल गाड़ी में चढ़ा। एक अंग्रेज दोस्त ने उसे जॉन रस्किन की लिखी पुस्तक 'अन टू दिस लास्ट' दी, ताकि उसे पढ़कर वह अपनी लम्बी रेल-यात्रा का समय व्यतीत कर सके। भविष्य में, उसी पुस्तक में से नई जीवन-दिशा पकड़कर मोहनदास अपनी मातृभूमि से अंग्रेजों की जड़ें काट देने वाला था।

रेलगाड़ी सारी रात दक्षिण अफ्रीका की भूमि पर दौड़ती रही और मोहनदास सारी रात रस्किन की उस पुस्तक को पढ़ता रहा। सुबह होते-होते मोहनदास गांधी ने जीवन का एक क्लासिक निर्णय ले लिया था।

रस्किन के आदर्शों के अनुसार, मोहनदास भी, अपनी तमाम भौतिक चीजों का त्याग कर देगा।

'भौतिक सम्पत्ति मनुष्य के दुःखों का मूल है..........' रस्किन का स्वर पुस्तक के पन्ने-पन्ने पर मुखर था, 'भौतिक सम्पत्ति, वास्तव में एक हथियार है; जिसे अपने साथी मनुष्यों को दबाने के लिए उपयोग किया जाता है। दबाव से संघर्ष और संघर्ष से दुःखों का उद्भव होता है..............'

मोहनदास गांधी का वह निर्णय अति उत्तम इसलिए भी था कि उन दिनों दौलत उसके चरण चूम रही थी। वकील के रूप में वह इतना सफल हो चुका था कि पांच हजार पौण्ड प्रतिवर्ष कमा रहा था। दक्षिण अफ्रीका में उन दिनों वह रकम बहुत बड़ी थी।

ऐसा नहीं कि गांधी ने सारी प्रेरणा रस्किन से ही पाई। पिछले दो वर्षों से उसके मन में अजब संघर्ष मचा हुआ था। गीता ने उसे बता दिया कि आत्मा के जागरण की पहली शर्त है भौतिक वस्तुओं और इच्छाओं से पूर्ण छुटकारा।

और गांधी ने इस दिशा में, व्यक्तिगत स्तर पर, प्रयोग शुरू कर भी दिए थे। बाल खुद काटना, कपड़े खुद धोना, शौचालय भी खुद साफ करना। अन्तिम सन्तान के प्रसव में, दाई का काम भी मोहनदास ने ख़ुद किया।

रस्किन के लिखे उन पृष्ठों ने गांधी के मन के रहे-सहे संशय को दूर कर दिया। हफ्ते भर बाद ही, डरबन से चौदह मील दूर, फीनिक्स के नजदीक करीब सौ एकड़ के एक बगीचे में, गांधी ने अपने परिवार को बसा दिया। मित्रों की एक टुकड़ी भी साथ आ कर बसी। खुद झाड़ू लगाकर साफ की गई जमीन पर टूटी-फूटी झोंपड़ी। फूलों के पौधे। फलों के पेड़। झाड़-झंखाड़ में छिपे सर्प। मोहनदास ने एक ऐसा जीवन शुरू किया था, जिसकी शैली मृत्यु-पर्यन्त बदलने वाली नहीं थी।

उस जीवन-शैली में केवल सांसारिक वस्तुओं और वासनाओं का त्याग ही नहीं था। उसमें केवल सरलतम ढंग से जिन्दा रहने की ही बात नहीं थी। उसमें दो और अद्भुत गुण थे। उस नए समाज में प्रत्येक परिश्रम का महत्व एक जैसा था। इसके अलावा, प्रत्येक वस्तु को भी पूर्ण समानता के साथ बांटा गया था। कोई परिश्रम छोटा या बड़ा नहीं। कोई वस्तु छोटी या बड़ी नहीं। सब बराबर। सब-कुछ सभी के लिए।

केवल एक परित्याग—अन्तिम और कठिनतम—शेष रह गया था। वैवाहिक सुखों का त्याग। बरसों-बरस से जिस त्याग की तैयारी मोहनदास ने की थी...........

वैवाहिक सुख में डूबे क्षणों के दौरान, मोहनदास ने अपने पूज्य पिता को हमेशा के लिए खोया था....... ब्रह्मचर्य की तैयारी तभी से प्रारम्भ हो गई थी...........

किन्तु, मंजिल अब भी कितनी दूर थी!

1906 की गर्मियों के दिन। झुकती शाम। मोहनदास ने अपनी पत्नी कस्तूर बाई के सामने पहुँचकर, गम्भीरतापूर्वक बताया कि उसने ब्रह्मचर्य-पालन की शपथ ले ली है।

तेरह साल की उमंगभरी उम्र में मोहनदास गांधी नें जिस यौन-जीवन का प्रारम्भ किया था, अब अन्त जब ब्रह्मचर्य ने किया, तो मोहन सैंतीस साल से अधिक का नहीं था।

लेकिन विश्व में प्रसिद्धी मोहनदास को इसलिए नहीं मिली कि उसने ब्रह्मचर्य स्वीकार कर लिया। प्रसिद्धी के आधार-स्तम्भ कुछ और ही थे—अहिंसा और नागरिक सहयोग।

उसका कहना था कि हिंसा अपनाने से; आंख के बदले आंख ले लेने से तो, दुनिया को आखिर अन्धा हो जाना पड़ेगा। किसी का सिर काटकर आप उन विचारों को नहीं बदल सकते, जो कि उस सिर में पैदा होते रहे। अगर किसी का हृदय परिवर्तन करना है, तो इसका तरीका यह नहीं कि आप उस हृदय के आरपार गोली उतार दें। ईश्वर की शक्ति मनुष्य को मनुष्य से मिलाती है। मनुष्य की शक्ति मनुष्य को मनुष्य-से अलग करती है। प्रेम और अहिंसा ईश्वर की शक्तियाँ हैं.............

दक्षिणी अफ्रीकी सरकार ने, मोहनदास गांधी को, अपने इन सिद्धान्तों की जांच करने का सुअवसर दिया।

1906 में दक्षिण अफ्रीकी सरकार ने एक ऐसा कानून पास किया, जिसके अनुसार आठ वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक भारतीय को सरकार के पास अपना पंजीयन कराना

आवश्यक हो गया। सरकार सबकी उंगलियों के निशान अपने पास रखने वाली थी। सबको एक-एक पहचान पत्र दिया जाता, जिसे हमेशा साथ रखना अनिवार्य था।

11 सितम्बर, 1906 के दिन जोहान्सबर्ग के एम्पायर थिएटर में क्रुद्ध भारतीयों की सभा हुई, जिसे मोहनदास गांधी ने सम्बोधित किया।

उसने कहा कि इस कानून का पालन करने का अर्थ होगा, हमारी जाति का सर्वनाश। हमारे सामने अब एक ही रास्ता खुला रह गया है—चाहे जान देनी पड़े, लेकिन इस कानून के सामने हम झुकें नहीं। हमें ईश्वर की सौगन्ध है, यदि हमने इस काले कानून का विरोध न किया..........

लेकिन विरोध किस प्रकार?

हिंसा से तो नहीं ही।

विरोध का अहिंसक तरीका क्या होगा, यह उस समय शायद स्वयं गांधी जी के सामने भी स्पष्ट नहीं था। आखिर वह अपने तरह का पहला प्रयोग था..... लेकिन ज्यों-ज्यों दिन बीते, वह अहिंसक उपाय अपने-आप रूप पाता गया। गांधी जी ने जल्दी ही उस उपाय के लिए एक नाम सोच लिया—सत्याग्रह! सत्य का आग्रह......... सत्य की शक्ति..........

गांधी जी ने पंजीयन-पद्धति का पूरा बहिष्कार किया और करवाया—परिणाम चाहे जो हो। पंजीयन-केन्द्रों के सामने उन्होंने शान्तिपूर्ण धरना आयोजित किया। सरकार ने गांधी जी को गिरफ्तार कर जेल भेज दिया।

जेल-यात्राओं के एक लम्बे सिलसिले की वह एक शुभ शुरूआत थी.....

जेल में गांधी जी को अपने नवनिर्मित सिद्धान्तों पर गहराई से विचार करने का अवसर मिला। उन्होंने हेनरी थोरो के दीर्घ-निबन्ध 'ऑन सिविल डिसओबिडिएन्स' का अध्ययन किया। थोरो, मेक्सिकों में, संयुक्त-राज्य-अमेरिका की सरकार के विरुद्ध जमा हुआ था, क्योंकि वह सरकार गुलामी की प्रथा को गुप्त समर्थन दिए जा रही थी।

थोरो ने स्पष्ट प्रतिपादित किया था कि अगर सरकार का रुख असहनीय हो चला हो, तो उसके द्वारा पारित किसी भी अवैध कानून की पूर्ण उपेक्षा करने का अधिकार हर नागरिक के पास सुरक्षित है।

थोरो के निबन्ध में अपने विचारों का प्रतिबिम्ब पा कर गांधी जी का उत्साह बढ़ गया। जेल से छूटने के साथ उन्होंने अपने सिद्धान्तों को नई-नई जगह परखना शुरू किया।

ट्रान्सवाल ने घोषणा की थी कि हमारे क्षेत्र में भारतीय नहीं घुस सकते। 6 नवम्बर, 1913 के दिन 2037 पुरुषों, और 57 बच्चों को साथ लेकर गांधी जी ने ट्रान्सवाल की सीमा में प्रवेश किया।

जैसा कि वे पहले से जानते थे; उन्हें सीधे जेल में पहुंचाया गया, जहां सबकी वीभत्स पिटाई हुई। स्त्री, पुरुष, बच्चे सब शान्तिपूर्वक पिटते रहे। उनकी सहनशीलता और धैर्य ने स्वयं गांधी जी को स्तब्ध कर दिया, जिन्होंने कि उनका नेतृत्व किया था। गांधी जी ने पहली बार पहचाना कि अहिंसक आन्दोलन में भाग लेने के लिए जब कोई व्यक्ति घर से निकल पड़ता है, तो उसका आत्मबल कितना बढ़ जाता है।

ट्रान्सवाल का वह अहिंसक आन्दोलन छोटे पैमाने पर था, लेकिन गांधी जी की आंखों के सामने भविष्य का एक अत्यन्त रोमांचक दृश्य उभर रहा था.....

सैकड़ों नहीं, हजारों नहीं लाखों नहीं, बल्कि करोड़ों आन्दोलनकारी चले आ रहे हैं......... अहिंसा का व्रत धारण कर चुके लोगों का समुद्र! इस समुद्र में तो बड़ी-से-बड़ी आतंकवादी शक्ति भी डूब जाएगी। उमड़ती मानवता के सामने दानवता के पैर टिकेंगे नहीं।

गांधी जी ने एक अनोखे अस्त्र को पहचान लिया था।

गिरफ्तारियां। मारपीट। सजाएं। पक्षपात। लूट। गोलियों की बौछारें..... लेकिन गांधी जी का अहिंसक आन्दोलन दुर्बल होना तो दूर दिनोंदिन शक्तिशाली होता जा रहा था।

1914 में गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका का अपना आन्दोलन जब समाप्त किया, तो लगभग पूर्ण विजेता के रूप में उभर चुके थे। अब, आखिर, वह अपने देश को वापस जा सकते थे।

जो कायर, शर्मीला वकील डरबन की धरती पर बरसों पहले उतरा था; वह अब किसी और ही सांचे में ढलकर; जुलाई ,1914 में, भारत की तरफ रवाना हो रहा था। अफ्रीका की ऊष्मा विहीन धरती पर मोहनदास करमचन्द गांधी ने अपने तीन गुरु प्राप्त किए थे—रस्किन, थोरो और टॉलस्टॉय।

लियो टॉलस्टॉय का निबन्ध 'ईश्वर का साम्राज्य तुम्हारे ही भीतर है' गांधी जी ने रस्किन के निबन्ध के साथ पढ़ा था। उन्हें टॉलस्टॉय की यह बात बड़ी पसन्द आई थी कि जो उपदेश हम दूसरों को देते हैं, उन्हें सबसे पहले स्वयं अपने पर लागू करें। शिक्षा, भोजन, अहिंसा, औद्योगिकरण आदि पर गांधी जी और टॉलस्टॉय के विचारों में अद्भुत साम्य था। उन दोनों के बीच संक्षिप्त पत्र-व्यवहार भी हुआ।

जीवन में स्वयं के प्रयोगों और इन तीन गुरुओं की प्रेरणा से गांधी जी ने दो हथियार प्राप्त कर लिए थे—अहिंसा और नागरिक असहयोग। दो ऐसे हथियार, जिनसे वह विश्व के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य को भी झुका देने वाले थे।

9 जनवरी, 1915 के दिन उनका नन्हा-सा आकार जब बम्बई के 'गेट वे ऑफ इण्डिया' के नीचे से गुजरा, तो एक विशाल जनसमूह उनका स्वागत करने को बेताब था। वह अपनी एक पाण्डुलिपि साथ ले आए थे, जिसका शीर्षक था 'हिन्द स्वराज्य।' शीर्षक से ही

आभास मिल जाता था कि अफ्रीका में तो उन्होंने अहिंसक आन्दोलनों का मात्र प्रशिक्षण ही पाया था। उन सिद्धान्तों की शक्ति जहां सचमुच उपयोग की जानी थी, वह भूमि केवल भारत की हो सकती थी—जहां वह आ पहुँचे थे।

औद्योगिक नगर अहमदाबाद के निकट, साबरमती नदी के तट पर, गांधी जी ने एक आश्रम बनाया—वैसा ही, जैसा उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में बनाया था। हमेशा की तरह, सबसे पहले उन्होंने गरीबों की समस्याओं पर ध्यान दिया। बिहार के किसानों का शोषण वहां के भूमिपति बड़े पैमाने पर कर रहे थे। बम्बई में सूखे के बावजूद वहां के किसानों को करों में कोई राहत नहीं दी गई थी। गांधी जी ने इन दोनों क्षेत्रों में, सफलतापूर्वक, अहिंसक जन-आन्दोलन संचालित किए।

अहमदाबाद की कपड़ा-मिलों ने उनके आश्रम को आर्थिक सम्बल दिया था, लेकिन उन्हीं कपड़ा-मिलों द्वारा मजदूरों का शोषण किए जाने की बात जब गांधी जी के सामने आई, तो उन्होंने उनके भी खिलाफ जन-आन्दोलन छेड़ दिया। गांधी जी का नाम देश के कोने-कोने में पहुंच गया।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर उनकी सादगी, स्नेहशीलता, सरलता, कर्मठता, साधुता, मानवता, अहिंसा आदि अगणित गुणों से इतने प्रभावित हुए कि गांधी जी को उन्होंने ही पहली बार 'महात्मा' की उपाधि दी। एक ऐसा शब्द, जो गांधी जी का पीछा जीवन भर छोड़ने वाला नहीं था।

अधिकांश भारतीय नेताओं की तरह गांधी जी ने प्रथम विश्व-युद्ध तक अंग्रेजों के प्रति वफादारी दिखाई। उन्हें आशा थी कि इस के पुरस्कार में, भारत को आजाद करने के प्रश्न पर, अंग्रेज सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे।

हुआ ठीक उल्टा।

1919 में अंग्रेजों के रॉलेट एक्ट पास किया। इस कानून का एक ही उद्देश्य था—भारतीय आजादी के आन्दोलन का सफाया। गांधी जी ने कई हफ्तों के सोच-विचार के बाद, अंग्रेजों के इस कदम का विरोध करने की एक ऐसी पद्धति खोज निकाली, जो बेहद सरल थी—इतनी सरल कि डरावनी महसूस हो..........

उन्होंने कहा कि हम इसका विरोध अपनी खामोशी से करेंगे। एक खास तरह की खामोशी—छुरे जैसी तेज, लेकिन स्वर-विहीन! गांधी जी ने एक ऐसा जनआन्दोलन छेड़ा, जिसकी रूपरेखा किसी अन्य नेता की कल्पना में नहीं आ पाई थी। गांधी जी ने सारे भारत को ज्यों-का-त्यों रोक दिया; बर्फ की तरह जमा दिया। शोक-प्रदर्शन की उस मुद्रा का नाम था—

हड़ताल!

उन्होंने 7 अप्रल, 1919 को हड़ताल-दिवस के रूप में चुना। अंग्रेज सरकार को उन्होंने यह पहली खुली चुनौती दी थी। सब बन्द कर दो। दुकानें, सड़कें, मकान, पाठशालाएं.

दफ्तर, होटल, सब-कुछ थाम दो............ और सब खामोश हो जाओ। भारत को दबाने वालों को सुनने दो—इस खामोशी की आवाज क्या है........ इस सन्नाटे का अर्थ क्या है.............

दुर्भाग्यवश, अकुलाई हुई भीड़ सब जगह खामोश न रह सकी। जगह-जगह विद्रोह फूट पड़े। सन्नाटा सबसे ज्यादा स्वयं अंग्रेजों ने तोड़ा।

13 अप्रेल के दिन, अमृतसर के लोगों ने एक शान्तिपूर्ण लेकिन गैर-कानूनी सभा का आयोजन किया—जलियांवाला बाग में। बाग के अहाते में जाने का केवल एक रास्ता था; दो इमारतों के बीच की एक सकरी गली।

इसी सकरी गली से ब्रिगेडियर आर.ई.डायर, पचास सैनिकों के साथ आगे बढ़ा। वह अमृतसर का मार्शल ला कमाण्डर था। बाग के दरवाजे के दोनों तरफ उसने सिपाही खड़े किए और बिना कोई चेतावनी दिए, सभा के लोगों पर गोली चलवा दी। पूरे दस मिनटों तक निहत्थे भारतीय गोलियों से भूने जाते रहे। उनके चीत्कारों और रहम की दुहाइयों पर कोई ध्यान न देते हुए डायर के सैनिक गोली दागते रहे।

स्वचालित मशीनगनों ने दस मिनट में 1650 गोलियां चलाई, जिनसे 1516 लोग या मर गए या घायल हुए। 'वाह! मैंने कितना जोरदार काम किया!' इस पुलक के साथ ब्रिगेडियर डायर लौट गया।

डायर के इस 'जोरदार काम' ने अंग्रेजों और भारतीयों के राजनीतिक सम्बन्धों को एक ऐसा निर्णायक मोड़ दिया कि वैसा प्रभावशाली मोड़, 63 वर्ष पहले के गदर से भी, पैदा नहीं हो सका था। जहां तक महात्मा गांधी का प्रश्न था; इस घटना ने अग्रेजों के प्रति जो थोड़ा बहुत विश्वास उनके मन में बच रहा था, उसे भी नष्ट कर दिया। नगारिक असहयोग और अहिंसा के अपने आन्दोलनों को दिनोंदिन उग्र करते जाने की उन्होंने शपथ ले ली।

निहत्थी, शान्त जनता पर इतनी क्रूरता से गोलियां चलाने के लिए अंग्रेज शासकों ने ब्रिगेडियर डायर को फौज से त्यागपत्र देने के लिए मजबूर तो कर दिया, लेकिन पेन्शन एवं अन्य सुविधाएं ज्यों-के-त्यों रखी गई। शासकीय स्तर पर चाहे जो हुआ, लेकिन भारत में बसे अधिकांश गोरों की सहानुभूति डायर के साथ थी। उन्होंने खुल्लमखुल्ला डायर की प्रशंसा की। न केवल इतना बल्कि समय से पहले रिटायर हो जाने की मजबूरी के कारण डायर को जो आर्थिक नुकसान भुगतना पड़ा, उसकी कसर पूरी करने के लिए देश भर के गोरों ने चन्दा किया और छब्बीस हजार पौण्ड की रकम, जो उस जमाने की बहुत बड़ी रकम थी, खड़ी करके डायर को दी।

एक संस्थान ऐसा था, जो भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का प्रतीक बनने लगा था और जिसे अपने प्रभाव के नीचे लाने का फैसला गांधी जी ने कर लिया था।

कांग्रेस पार्टी की स्थापना 1885 में हुई थी—एक अंग्रेज जनसेवक ऑक्टावियन ह्यूम द्वारा। कांग्रेस के लिए जब उसने तत्कालीन वायसराय का आशीर्वाद प्राप्त किया, तब यदि उसे पता होता कि यही कांग्रेस पार्टी कभी गांधी जी के ताबे में होगी और स्वयं अंग्रेजों की जड़ें इस देश से काटेगी, तो वह अवश्य थर्रा जाता। कांग्रेस की स्थापना ह्यूम ने, दरअसल इसलिए की थी कि भारत में क्रमशः जो पढ़ा-लिखा वर्ग तैयार हो रहा है, वह तोड़फोड़ के रास्तों पर गुमराह न हो जाए, बल्कि कांग्रेस पार्टी के माध्यम से वह अपने विचारों को व्यक्त करे और देश के अंग्रेज शासकों के साथ सम्पर्क बनाने का एक गौरवपूर्ण साधन पा सके।

भारतीय राजनीति के फलक पर जब गांधीजी का उदय हुआ, तो कांग्रेस का स्वरूप लगभग वही था, जैसा कि ह्यूम ने चाहा और सोचा था।

गांधी जी ने हिसाब लगाया कि कांग्रेस की युवा शक्ति को यदि किसी तरह आजादी आन्दोलन के साथ जोड़ा जा सके, तो रातों-रात आन्दोलन कहीं-से-कहीं पहुँच जाए।

1920 में, कलकत्ता में, गांधी जी ने कांग्रेस के सामने एक ऐसा कार्यक्रम रखा, जिसे कांग्रेस की युवा शक्ति का न केवल पूरा समर्थन प्राप्त हुआ, बल्कि सम्पूर्ण देश के नवयुवकों के सामने अहिंसा का महत्व भी उजागर हो गया। जो नवयुवक गर्म खून के कारण, शीघ्र हिंसा पर उतारु हो जाते हैं, उन्हीं की शक्ति को अहिंसा के अजूबे द्वारा नियन्त्रित करना.... असम्भव-सा यह चमत्कार केवल महात्मा गांधी के आकर्षण से ही सम्भव हो सकता था।

उस क्षण से गांधी जी हमेशा कांग्रेस के सर्वप्रमुख नेता और पथप्रदर्शक बने रहे—कांग्रेस का कोई पद उनके पास होता, चाहे न होता।

सीधी, सरल, किन्तु असीम शक्ति से युक्त योजनाएं बनाने में गांधी जी पक्के कल्पना शक्ति के धनी थे। निहायत अनगढ़, अनपढ़ आदमी भी उनकी हर योजना को, कम-से-कम शब्दों में, अधिकतम समझ सकता था। उनका अनुयायी बनने के लिए व्यक्ति को कोई खास प्रशिक्षण लेने की आवश्यकता नहीं थी। लोगों को मात्र एक काम करना था—कि वे कोई काम न करें! 'हड़ताल' नामक गांधी जी का हथियार कितना हसीन और सरल था! मात्र एक शब्द की योजना........ एक शब्द का जादू.......

ऐसा ही एक और शब्द गाँधी जी ने राष्ट्रव्यापी स्तर पर प्रचारित किया—'अहसयोग'

जो कुछ भी अंग्रेजी है, ब्रिटिश है; उसके साथ पूरे भारत का, हर भारतीय का—असहयोग।

भारतीय विद्यार्थी अंग्रेजी स्कूलों से अलग होने लगे। वकीलों ने अंग्रेज न्यायाधीशों के सामने बहस करने से मना कर दिया। जनता ने अंग्रेजों की नौकरियां छोड़नी शुरू कर दी। सिपाहियों ने अंग्रेजों द्वारा दिए गए पदक लौटा दिए।

गांधी जी को बॉएर युद्ध में, एम्बुलेन्स बिग्रेड के तहत, शानदार काम करने के लिए अंग्रजों ने जो पदक दिए थे, जिन्हें उन्होंने वायसराय के सामने जाकर वापस कर दिया।

भारतीय कपास को मिट्टी के मोल खरीदकर अंग्रेज इंग्लैण्ड पहुंचाते। उसी कपास को कपड़ों का रूप देकर वे भारत लाते और सोने के मोल बेचते। आर्थिक शोषण की यह एक अति उत्तम मिसाल थी। गांधी जी ने भी इस शोषण का मुकाबला करने का एक अति उत्तम तरीका ढूंढ़ा। उन्होंने कहा, 'चरखे को प्यार करो।'

घर-घर में चरखे की स्थापना के लिए, आगामी चौथाई शताब्दी तक, महात्मा गांधी तीव्र संघर्ष करने वाले थे।

स्वयं अपने उदाहरण द्वारा जनता को प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने नियम बनाया कि वह रोज साथियों-समेत आधा घण्टा चरखा कातेंगे। स्वावलम्बन के इस उद्यम को उन्होंने प्रार्थना और ध्यान के साथ जोड़ दिया। चरखे की प्रत्येक क्लिक के साथ वह कहते, 'राम!'

क्लिक। क्लिक। क्लिक।

राम! राम! राम!

सितम्बर, 1921 में गांधी जी ने खादी की केवल एक धोती और शाल को अपनी दैनिक पोशाक के रूप में स्वीकार किया। इससे खादी की प्रतिष्ठा, पूरे देश में, आसमान पर पहुंच गई। खादी का अर्थ ही हो गया—आजादी का आन्दोलन। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सब खादी पहन कर भाई-भाई हो गए।

जहां भी अवसर मिलता, वह जनता से ललकार कर कहते, "पहनो स्वदेशी फेंको विदेशी। अभी फेंकों। इसी समय फेंको। हम उसे जलाएंगे।"

लोग इतने विह्वल हो जाते कि वहीं खड़े-खड़े अपने बदन के सारे विदेशी कपड़े उतार फेंकते। गांधी जी के सामने विदेशी कपड़ों का आननफानन में ढेर लग जाता। कइयों की दशा ऐसी हो जाती कि यदि शरीर पर सारे कपड़े विदेशी हैं, जूते और मोजे भी विदेशी हैं, तो सभी-कुछ उतार कर खड़े हो गए—जैसे कि अभी-अभी पैदा हुए हों। गांधी जी मुस्कराते। उस ढेर में आग लगा देते।

ऐसा नहीं कि अंग्रेजों पर इसकी कोई प्रतिक्रिया न हुई। गांधी जी को गिरफ्तार करने से वे इसलिए हिचक रहे थे कि इससे कहीं उन्हें बेवजा प्रसिद्धि न मिल जाए, किन्तु उनके अनुयायियों पर अंग्रेजों ने पूरी बेरहमी से वार किए।

1 फरवरी, 1922 के दिन गांधी जी ने वायसराय को पूर्व सूचित कर दिया कि मैं अपने आन्दोलन को और भी तीव्र करने जा रहा हूँ। आन्दोलन को कुचलने की तैयारी, अंग्रेजों की ओर से भी, उतने ही बड़े पैमाने पर हुई। हजारों भारतीयों को जेल में ठूंस दिया गया। बम्बई के गर्वनर ने बौखला कर कहा—

"दुनिया के इतिहास में इतना बड़ा और ऐसा मौलिक प्रयोग पहली बार हुआ ...... और इस आन्दोलन के सफल हो जाने में कसर ही क्या रह गई थी!"

कसर केवल इतनी रह गई कि स्वयं गांधी जी ने आन्दोलन वापस ले लिया, हालांकि कांग्रेस का एक-एक व्यक्ति आन्दोलन चलाए जाने के पक्ष में था। असहकार का कोमल आन्दोलन नागरिक अवज्ञा का पैनापन प्राप्त कर चुका था, लेकिन......

दिल्ली के उत्तर पूर्व के एक गांव में अचानक हिंसा फूट पड़ी। गांधी जी ने कहा, "मेरे अहिंसक आन्दोलन में हिंसा के लिए कोई जगह नहीं। मैं आन्दोलन वापस लेता हूँ, क्योंकि .... मुझे नहीं लगता कि लोगों ने अभी भी अहिंसा का अर्थ पूरी तरह समझा है।"

अंग्रेजों ने सोचा कि गांधी जी की गिरफ्तारी अब की जा सकती है। अदालत ने उन पर विद्रोह भड़काने का आरोप लगया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। उन्हें छह वर्ष की सजा दे कर, पूना के पास, यरवदा जेल में रखा गया।

जेल में उनका स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता गया। आखिर सजा पूरी होने से पहले ही अंग्रेजों ने उन्हें छोड़ दिया।

अब, गांधी जी तीन वर्ष तक सारे देश की यात्रा करते रहे, ताकि जनता को समझा सकें कि अहिंसा का वास्तविक अर्थ क्या है। लाहौर के कांग्रेस-अधिवेशन में उन्होंने पूर्ण स्वराज्य लेकर रहने के लिए, कांग्रेस को कटिबद्ध किया।

अंग्रेजों और गांधी जी के बीच अब नया संघर्ष होने से बचाया नहीं जा सकता था। गांधी जी अनेक दिनों तक सोचते और उस 'अंदरूनी आवाज' का इन्तजार करते रहे। जो उन्हें हमेशा बता दिया करती थी कि सही मोर्चा क्या है। 'अंदरूनी आवाज' ने उन्हें आखिर एक ऐसा तरीका बताया, जो उनके अपूर्व कल्पना शक्तिवान दिमाग की सबसे सरल और सबसे तीखी सूझ मानी जाती है।

वह इतनी नाटकीय और रोमांचक थी कि उसने गांधी जी को एक रात में सारी दुनिया में प्रसिद्ध कर दिया। मजा यह कि वह सूझ एक ऐसी चीज पर आधारित थी, जिसे अपने ब्रह्मचर्य के तहत गाँधी जी बरसों पहले हमेशा के लिए छोड़ चुके थे; लेकिन जो भारतीय आदमी की दैनिक आवश्यकता है—तीनों जून की।

नमक!

सरकार ने नमक के उत्पादन और बिक्री को पूर्णत: अपने अधिकार में ले रखा था। बिक्री पर उसने एक मामूली-सा कर भी जारी किया था। कर चाहे कितना ही मामूली क्यों न हो, उसने जनता को भावनात्मक चोट पहुंचाई थी।

गांधी जी ने कहा, "समुद्र हमारा है नमक भी हमारा। अपनी चीज हम खुद तैयार न कर सकें? बेच न सकें? खरीदें भी, तो कर अदा करके? यह कानून मैं नहीं मानूंगा। मैं खुद नमक तैयार करुंगा। सरकार जो चाहे करे।"

12 मार्च, 1931 की सुबह साढ़े छह बजे गांधी जी 79 अनुयायियों को साथ लेकर अपने आश्रम से चले और 241 मील दूर स्थित समुद्र की ओर बढ़ने लगे। हजारों श्रद्धालु उनके

दर्शनार्थ पूरे रास्ते पर खड़े थे। हरी पत्तियां और घास बिछाकर उन्होंने रास्ते की कठोरता कम करने का प्रयास किया था। सारी दुनिया के अखबारों ने, इस अद्‌भुत आदमी के विचित्र जुलूस के समाचार एकत्र करने के लिए, अपने प्रतिनिधि भेजे। गांधी जी का पैदल जुलूस जिस गांव से गुजरता। गांव का एक-एक बन्दा झुक कर, लेटकर, जमीन चूमकर उनका स्वागत करता। गांधी जी ने जानबूझ कर ऐसा चक्करदार रास्ता चुना था, जिससे उनका जुलूस अधिक से अधिक गांवों और बस्तियों पर अपने प्रभाव की किरणें छोड़ता हुआ समुद्र की ओर बढ़े।

अखबार नवीसों के लिए गांधी जी की धीमी गति अत्यन्त रोमांचक थी। उसी धीमी गति के कारण गोरे शासकों की तीव्रतर बौखलाहट हो रही थी।

5 अप्रैल की शाम 6 बजे गांधी जी, अपने अनुयायियों के साथ, दांडी नामक एक गाँव में पहुंचे, जो समुद्र के ऐन किनारे स्थित है। रात भर भजन-कीर्तन चला। सुबह, सूर्योदय से पहले, सबने समुद्र में स्नान किया।

फिर गांधी जी, हजारों दर्शकों की गवाही में, बढ़ने लगे समुद्री किनारे के उस हिस्से की तरफ, जिधर नमक तैयार होता था। झुककर उन्होंने नमक की मुट्‌ठी भर ली। घूमकर उन्होंने सब दर्शकों को वह मुट्ठी दिखाई। गम्भीरता के साथ हाथ उठाकर उन्होंने मुट्‌ठी खोल दी। नमक के सफेद रवे बिखर गए। भारतीय आजादी का नया सम्बल—नमक!

अब, सभी दर्शक दौड़-दौड़कर नमक के पास पहुंचने और मुट्ठियां भरने लगे।

पुलिस टूट पड़ी।

हफ्ता बीता-न-बीता कि पूरे भारत में उबाल आ गया। गांधी जी के अनुयायी जगह-जगह नमक बनाने, एकत्र करने और बांटने लगे। कोने-कोने पर, नुक्कड़-नुक्कड़ पर, इश्तहार लगे—'नमक कैसे तैयार किया जाए।'

अंग्रेजों ने इतने बड़े पैमाने पर हिन्दुस्तानियों को हिरासत में लिया, जिसकी भारतीय इतिहास में पहले कोई मिसाल नहीं थी। गांधी जी को भी गिरफ्तार कर, फिर से, यरवदा जेल के हवाले कर दिया गया।

लन्दन; 18 फरवरी, 1947

भारत को चर्चिल ने हमेशा इतनी तीव्र भावुकता से प्यार किया कि वैसी भावुकता में व्यक्ति का विवेक प्राय: सो जाता है।

पहली बार चर्चिल जब भारत आया था, तो पूरी एक रेजीमेण्ट उसके हाथों के नीचे थी। भारत के धूलिए मैदानों में उसने पोलो खेला। सूअर और शेर के शिकार का शौक उसने भारत में ही पूरा किया। उसने खैबर दर्रा पार किया, उत्तर-पश्चिम सीमान्त पर पठानों से लोहा लिया।

आज भी, जब भारत को छोड़े हुए इकतालीस साल गुजर चुके थे, चर्चिल हर महीने दो पौण्ड की रकम उस भारतीय के नाम भेज रहा था, जिस ने वहां दो वर्षों तक चर्चिल के बैरे की हैसियत से अपनी सेवाएं दी थी।

इसी से जाहिर है कि भारत चर्चिल की कितनी बड़ी कमजोरी थी। भारत को चर्चिल ने दो तरह से प्यार किया। अव्वल तो .... चर्चिल की जवानी के उल्लासपूर्ण संस्मरण भारत के साथ जुड़े हुए थे। इसके अलावा, यह दृश्य ही उसे बेहद पसन्द था कि इतने बड़े देश को, अंग्रेज, उतनी दृढ़ता के साथ संचालित किए जा रहे हैं।

चर्चिल का दृढ़ विश्वास था कि जब तक भारत में अंग्रेजों का राज्य है तब तक दुनिया में इंग्लैण्ड की साख पर कोई आँच नहीं आ सकती। विक्टोरिया के जमाने का यह पूर्वाग्रह चर्चिल के मन में भी जड़ें जमाए बैठा था कि भारत के देहाती लोग, जिन्हें कानून-वानून का कोई होश नहीं, देशी राजाओं के हाथ के नीचे उतने सुखी और समझदार हो ही नहीं सकते, जितने अंग्रेजों के हाथ के नीचे। स्वयं भारतीयों को इस बात का पता है। इसीलिए वे अपने अंग्रेज शासकों के आभारी हैं और उन्हें तहेदिल से प्यार करते हैं। जो नेता आजादी की लड़ाई के बहाने जनता को उकसा रहे हैं, वे तंगदिल, अनपढ़ और स्वार्थी हैं। जनता की अंग्रेज भक्ति का उन्हें गुमान ही नहीं। भारत में अंग्रेज सदा-सदा के लिए बने रहें, इसी में भारतीयों की सुरक्षा है।

इस प्रकार, विश्व का जो प्रसिद्ध नेता अपनी समझदारी और दूरदर्शिता के कारण सभी जगह इज्जतदार बना हुआ था, उसी विन्स्टन चर्चिल की आंखें भारत का सवाल सामने आते ही खट से बन्द हो जाती थीं।

1910 से ही चर्चिल ने ऐसी हर सम्भव कोशिश की थी, जिससे आजादी की डगर पर आगे बढ़ने की भारतीय गतिविधियों को धक्का पहुँचे। गांधी जी और उनके अनुयायियों को वह हमेशा 'फालतू लोग' समझता रहा।

मुश्किल यह थी कि 1945 के चुनाव में चर्चिल और उसकी कंजर्वेटिव पार्टी को पराजय का मुंह देखना पड़ा। 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में चर्चिल को अब वहां बैठना पड़ रहा था, जहां कभी उसके विरोधी बैठा करते थे।

इसके बावजूद

'हाउस ऑफ लॉर्डस' में अभी भी चर्चिल की कन्जर्वेटिव पार्टी का पूर्ण बहुमत था। फलस्वरूप, चर्चिल के पास वह शक्ति थी कि अगर वह उसका प्रयोग करने की ठान लेता, तो भारत की आजादी को कम-से-कम दो साल परे ठेल सकता था।

उस दिन ....

'हाउस ऑफ कॉमन्स' का कोई व्यक्ति उतना दुःखी नहीं था, जितना विन्स्टन चर्चिल। उसे मालूम था कि उसके उत्तराधिकारी के रूप में 10, डाउनिंग स्ट्रीट का पद जिस समाजवादी

नेता ने हासिल कर लिया है, वह आज एक ऐसा प्रस्ताव सदन के सामने रखने जा रहा है, जिस पर विचार करने से ही चर्चिल ने हमेशा इन्कार किया-ब्रिटिश साम्राज्य के विघटन का प्रारम्भ .... भारत से अंग्रेजों की विदाई ....

प्रधानमंत्री की हैसियत से जब क्लिमेण्ट एटली बोलने के लिए उठा, तो चर्चिल ने अपने मुंह का स्वाद बिगड़ता महसूस किया।

एटली के हाथ में प्रस्ताव की जो संक्षिप्त रूपरेखा थी, वह अधिकांशत: उस एडमिरल द्वारा तैयार की गई थी, जिसे भारत के अन्तिम वायसराय की हैसियत से शीघ्र ही नई दिल्ली रवाना किया जाना था, ताकि वहां वह अंग्रेजों की विदाई का कोई ऐसा तरीका ढूंढे, जो न्यूनतम पीड़ाजनक हो।

प्रस्ताव में जो-जो बातें थीं, उनकी स्वीकृति के लिए लुई माउण्टबेटन ने पूरे छह हफ्तों तक एटली के साथ बहस जारी रखी थी। अब, वह प्रस्ताव, आखिर, सदन के सामने रखा जाने वाला था .... चर्चिल ने गहरी सांस ली।

एटली ने वह ऐतिहासिक घोषणा जब पढ़कर सुनाई, तो सदन के ठण्डे वातावरण में और भी ज्यादा ठण्डक आ गई, ''महामना सम्राट की सरकार यह स्पष्ट करने को प्रस्तुत है कि भारत का प्रशासन वहीं के किन्हीं योग्य हाथों में सौंप देने का निश्चित निर्णय सरकार ने ले लिया है और वह उन सभी आवश्यक कदमों को उठाना चाहती है; जिनसे जून, 1948 तक शक्तियों का स्थानान्तरण अवश्य हो जाए।''

सन्नाटा खिंच गया।

मुश्किल से चौदह महीने बच रहे थे....... फिर सदियों पुराने सम्बन्ध टूटेंगे और सोने की चिड़िया आजाद हो जाएगी....... अंग्रेजों के जीवन में जो पूरा एक युग था, वह एकाएक आखिरी सांसें गिनेगा, और फिर ....

विरोधियों की बेन्च पर से चर्चिल का भारी शरीर उठा और सामने आने लगा। 'साम्राज्य को हर सूरत में टिकाए रखना चाहिए'—अपने इस विचार के पक्ष में जो कुछ भी अधिकतम प्रभावशाली ढंग से कहा जा सकता था, उसने कहा। सदन में व्याप्त ठण्डक के अलावा, चर्चिल अपनी भावुकता और आक्रोश के भी कारण, जरा-जरा कांपने लगा था।

उसने कहा कि आजादी देने का समय निश्चित करके, प्रधानमंत्री एटली ने, दरअसल, मोहनदास गांधी की ही एक ऐसी सलाह मान ली है, जो सिर्फ गांधी जैसा सठियाया हुआ आदमी दे सकता है—'भारत को भगवान भरोसे छोड़ दो।'

उस वक्त भी चर्चिल को गुमान नहीं था कि चढ़ते सूरज के खिलाफ जाने में कोई तुक नहीं हुआ करती।

आखिर जब सदन की राय ली गई, तो जून 1948 तक भारत को अवश्य आजाद कर देने का यह प्रस्ताव, भारी बहुमत से, पारित हो गया।

प्रायश्चित की प्रगति (ख)

गांधी जी अपनी नन्ही-सी टुकड़ी के साथ, नोआखाली क्षेत्र में, ज्यों-ज्यों अन्दर घुसते गए, त्यों-त्यों रास्तों की दुर्गमता बढ़ती गई। पहले गांव में उन्हें जो सफलता मिली थी, उसने आगामी गांवों के मुखियाओं को चौंका दिया था। मुखियाओं ने गांव के लोगों को गांधी जी के विरुद्ध भड़काना शुरू कर दिया था।

गांधी जी बांस के जिस पुल पर से गुजरने वाले थे, उसके आधार को किसी ने काट डाला। सौभाग्यवश, इस तोड़फोड़ का पता पहले से चल गया, अन्यथा गांधी जी अपनी टुकड़ी-समेत दस फीट नीचे जा गिरते, जहां तेज पानी बह रहा था।

अगले दिन, उनका रास्ता बांस के जंगल के बीच से था। हर दूसरे-तीसरे बांस पर धमकियों के इश्तहार लगे हुए थे—'आगे न बढ़ना ....' ''कहना नहीं कि हमने चेतावनी नहीं दी'', 'पाकिस्तान को स्वीकार करो।' जाओ, वरना मरोगे.........।

इन धमकियों ने गांधी जी को रंचमात्र भी न हिलाया। शारीरिक नुकसान पहुँचने का खतरा अहिंसक व्यक्ति को महसूस होता ही नहीं। बिना किसी भय अथवा विरोध के बड़े-से-बड़े शारीरिक कष्ट को झेलने की तैयारी—गांधी जी इसे अपनी अहिंसा का पहला सूत्र मानते थे। पुलिस के हाथों पिटाई का पहला अनुभव उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में लिया था। उस दिन से वह जान गए थे, अहिंसक व्यक्ति कितना शक्तिशाली और हिंसक कितना कमजोर होता है।

मगर उन धमकियों ने गांधी जी को एक गम्भीर उदासी से अवश्य घेर लिया था। दृढ़ता के साथ वह और उनके साथी अगले गांव की ओर बढ़े जा रहे थे। चिकना रास्ता ओस के कारण और भी फिसलन पूर्ण हो गया था।

वह नन्हा जुलूस, अचानक, रुक गया।

जिस रास्ते से गांधी जी नंगे पांव गुजरने वाले थे, उस पर न जाने किसने, जगह-जगह विष्ठा फैला दी थी। शान्ति और गम्भीरता से गांधी जी ने एक नारियल वृक्ष से पत्ता तोड़ा। वह आगे आए, झुके, उस पत्ते से उन्होंने सब की नजरों के सामने, वह किया; जो किसी भी उच्च-वर्ण हिन्दू को सर्वाधिक घृणास्पद लगता है। उस 77 वर्षीय बुढ़ऊ ने, अपने प्रायश्चित के एक हिस्से के रूप में, सारे रास्ते की विष्ठा साफ की, ताकि आगे बढ़ा जा सके।

आगे बढ़ने के लिए रास्ते की विष्ठा साफ करने से भी न हिचकने वाले उस बूढ़े नेता का जो जिद्दी अंग्रेज दुश्मन था, उसे 'हाउस ऑफ कॉमन्स' का उस्ताद बहसबाज माना जाता था। विन्स्टन चर्चिल ने राजनीति के अपने लम्बे कैरियर के दौरान, ऐसी अनेक अविस्मरणीय बातें कहीं थीं; जिन्हें अगर लिपिबद्ध किया जाता, तो मोटा ग्रन्थ तैयार हो जाता; लेकिन उन अनेक बातों में से कुछेक अवश्य ऐसी थीं, जिन्हें 'राजनीतिक अमरत्व' पाने के लिए लिपिबद्ध होने की जरूरत नहीं थी।

ऐसी ही एक बात थी—महात्मा गांधी का वर्णन, जो चर्चिल के मुंह से सोलह साल पहले निकला था, ''वह अधनंगा फकीर!''

यह खीझपूर्ण नखशिख वर्णन 17 फरवरी, 1931 के दिन मानवता को उपहार-स्वरूप मिला। इस दिन महात्मा गांधी ने तत्कालीन वायसराय लॉर्ड इर्विन से मुलाकात की थी।

नमक की मात्र एक मुट्ठी भरकर और अपनी लाठी के सहारे पैदल यात्राएं करके महात्मा गांधी ने जो जन-आन्दोलन चलाया था, उस की प्रतिध्वनि दुनिया भर में सुनाई दी थी। वायसराय को मजबूर होकर गांधी जी को जेल से छोड़ देना पड़ा था। न केवल इतना, बल्कि वायसराय लॉर्ड इर्विन ने उन्हें स्वयं के साथ वार्ता के लिए भी सहर्ष आमंत्रण दिया।

केवल एक सफेद धोती, शॉल और लाठी लिए हुए गांधी जी ने, नई दिल्ली में, 17 फरवरी, 1931 के दिन, वायसराय के बंगले की लाल सीढ़िया चढ़ीं।

तीन सप्ताह में वायसराय ने महात्मा के साथ आठ बैठकें कीं। फलस्वरूप जो संयुक्त वक्तव्य सामने आया। उसकी संरचना ऐसी थी, गोया बराबरी की दो महान् शक्तियों के बीच, आपसी हितों की रक्षा के लिए, सन्धि की गई हो। वह वक्तव्य 'गांधी इर्विन करार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

समझौते के अनुसार—

लॉर्ड इर्विन ने गांधी जी के तमाम अनुयायियों को जेल से रिहा कर दिया। यहां तक कि फांसी की सजा पाए अनुयायी भी मुक्ति पा गए। दूसरी तरफ गांधी जी ने भी स्वीकार कर लिया। कि वह अपना जन-आन्दोलन वापस में ले लेंगे और भारत के भविष्य को लेकर शासकों से सीधी वार्ता करने के लिए लन्दन की गोल मेज सम्मेलन में भाग लेंगे।

छह महीने बाद, वह अधनंगा फकीर जब दनदनाता हुआ बंकिंघम पैलेस में घुसा, ताकि महामना सम्राट के साथ खाए-पीए और बहस करे, तो स्तब्ध अंग्रेजों को अपनी आंखों पर यकीन न हो सका। वही सिर्फ एक धोती, शॉल और खड़ांउ! बाद में जब किसी ने गांधी जी से पूछा कि क्या सम्राट के सामने ऐसी पोशाक में जाना उचित था, तो वह हंस कर बोले, ''सम्राट ने इतना पहन रखा था कि वही हम दोनों की पोशाक के बराबर हो गया।''

गोल मेज सम्मेलन सफल नहीं हो सका। भारत को आजादी देने की मानसिक तैयारी लन्दन में अभी नहीं थी। भारत लौटने पर गांधी जी का स्वागत भारी जनसमूह ने किया। वह बोले, ''मुझे दुःख है, मैं खाली हाथ वापस आया हूँ। भारत को नागरिक अवज्ञा का आन्दोलन पुनः शुरू करना ही होगा।..........''

इसे मुश्किल से हफ्ता बीता होगा कि जो व्यक्ति लन्दन में महामना सम्राट के साथ बराबरी के स्तर पर बातें कर रहा था, वह एक बार फिर सम्राट का मेहमान बना—यरवदा जेल के कैदी के रूप में।

अगले तीन वर्षों तक—

भारत में गांधी जी बार-बार जेल जाते और मुक्त होते रहे, उधर लन्दन में, चर्चिल की गर्जनाएं लगातार गूँजती रहीं, "गांधी और उसके विचारों को हमेशा के लिए कुचल डालो!"

चर्चिल के ऐसे दुराग्रह के बावजूद भारत के प्रति इंग्लैण्ड के रजानीतिज्ञों के रुख में परिवर्तन आ रहा था। उन्होंने 1935 के 'गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' के तहत, भारतीय प्रदेशों को, स्थानीय स्तर पर, थोड़ी आजादी दे दी।

गांधी जी, आखिर, जब जेल-यात्राओं से मुक्त हएु, तो उन्होंने दो ऐसे कार्यक्रम हाथ में लिए, जो उन्हें अत्यन्त महत्वपूर्ण लगते थे। छूआछूत की समस्या एवं गांवों का उद्धार। तीन वर्षों तक वह इन्हीं में जुटे रहे।

द्वितीय विश्व-युद्ध ज्यों-ज्यों नजदीक आया, त्यों-त्यों उनका विश्वास अपनी अहिंसा पर और भी अडिग होता गया।

भारत के प्रति चर्चिल का रुख, अब भी, ज्यों-का-त्यों था।

मार्च, 1942 में जापान की शाही फौज भारत के इतने नजदीक आ गई कि उसका आक्रमण कभी भी शुरू हो सकता था। यह आक्रमण, दरअसल, भारत पर नहीं, भारत में डटे अंग्रेजों पर था। अंग्रेजों के हाथ-पांव फूल गए, क्योंकि वे जानते थे कि भारत में यदि स्वयं भारतीयों का सहयोग न मिला, तो जापानियों के सामने टिकना असम्भव हो जाएगा।

चर्चिल ने पहली बार नर्म रुख अपनाया। कांग्रेस के नेताओं से उस ने सक्रिय सहयोग मांगा और वचन दिया कि जापानियों को हराने के बाद भारत को आजाद कर दिया जाएगा, और उस समय मुस्लिम लीग की मांग को भी स्वीकार कर लिया जाएगा कि मुसलमानों को उनका स्वतंत्र देश, भारत-भूमि में से ही काट कर अलग मिल जाना चाहिए।

गांधी जी ने चर्चिल का प्रस्ताव यह कह कर ठुकरा दिया कि जिस योजना में भारत के विभाजन को पहले ही से शामिल किया गया है, उसे स्वीकार करना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जैसा होगा। इस के अलावा, भारत जैसे अहिंसक देश से यह आशा क्यों की जा रही है कि वह युद्ध में, याने हिंसा में अंग्रेजों का साथ देगा?

गांधी जी ने शब्दों का, मात्र दो ही शब्दों का मन्त्र देश में फूंका, "भारत छोड़ो!"

देश के कोने-कोने से नारे उठने लगे—अंग्रेजो! भारत छोड़ो! क्विट इण्डिया!

गांधी जी ने साफ कहा कि अगर इस देश से अंग्रेज चले गए, तो जापानियों को यहां आक्रमण करने की जरूरत ही क्या होगी? जापानियों की दुश्मनी अंग्रेजों से है, न कि भारतवासियों से।

लेकिन अंग्रेज भी आमादा हो गए कि 'भारत छोड़ो' आन्दोलन को सफल न होने देंगे। अद्‌भुत तेजी के साथ उन्होंने गांधी जी सहित कांग्रेस के सभी नेताओं को हिरासत में ले लिया। ऐसे कदम के विरोध में जनता जब आन्दोलन करने लगी, तो उसे भी पूरी दृढ़ता से दबा दिया।

गाँधी जी के 'भारत छोड़ो', आन्दोलन का सबसे ज्यादा लाभ मुस्लिम लीग को मिला। वह यों कि आन्दोलन के पुरस्कार-स्वरूप कांग्रेस का तो हर प्रमुख नेता जेल में झोंक दिया गया, जबकि मुस्लिम लीग के नेता न केवल स्वतन्त्र रहे, बल्कि अंग्रेजों के युद्ध प्रयास में सक्रिय सहयोग का वचन देकर उन्होंने उन की सहानुभूति जीत ली; ताकि मुसलमानों को अलग पाकिस्तान देने का जो इरादा अंग्रेज पहले ही से दिखा रहे थे, वह और पक्का हो जाए।

गांधी जी की वह जेल यात्रा अन्तिम साबित होने वाली थी। उसके समापन पर उन्होंने अपनी कुल जेल यात्राओं के 2338 दिन पूरे किए—दक्षिण अफ्रीका में 249 और भारत में 2089 दिन, इस बार गांधी जी को आगा खान के महल में कैद किया गया था, जहाँ उन्होंने पांच महीनों तक सजा भुगतने के बाद ऐलान किया कि वह 21 दिनों का उपवास करेंगे।

उपवास का कारण क्या है, गांधी जी ने विशेष स्पष्ट न किया, किन्तु अंग्रेजों का मानस इस बार बिल्कुल भी झुकने का नहीं था। चर्चिल ने वायसराय को सूचित कर दिया कि यदि बुढ़ऊ का विचार भूखे रहकर आत्महत्या करने का है तो इस महत्वाकांक्षा को पूरा करने की छूट उसे अवश्य और सहर्ष दी जानी चाहिए।

उपवास अभी आधे ही हुए थे कि गांधी जी ने डूबना शुरू कर दिया, अंग्रेजों ने चुपके-चुपके उनकी मृत्यु के स्वागत की तैयारी की। दो ब्राह्मण महल में पहले से ही बिठा लिए गए, ताकि अग्निदाह के समय व्यर्थ की हड़बड़ी न हो। रात के अन्धकार में छिपाकर चन्दन की लकड़ी महल में जमा कर ली गई, ताकि सुगन्धित चिता का आननफानन में निर्माण हो सके।

गांधी जी की मृत्यु के लिए सब तैयार थे—फिर स्वयं गांधी जी, जो तब तक 74 वसन्त देख चुके थे। उपवास जब शुरु हुए तभी उनका वजन 110 पौण्ड से कम था। इसके बावजूद, 21 दिनों का उपवास झेलने की शक्ति उन के मन में थी, और तन में भी आ गई।

उपवास ने उन के मन को शक्ति और शुद्धता से भर दिया, किन्तु उसी मन को एकदम तोड़ देने वाली एक घटना शीघ्र ही घटने वाली थी।

22 फरवरी, 1944 के दिन गांधी जी की पत्नी कस्तूर बाई का निधन हो गया, गांधी जी का मन ऐसा टूटा कि उन की सेहत दिनोंदिन गिरती चली गई आशा नहीं थी कि वह ज्यादा दिनों तक टिक सकेंगे। अनिच्छा के बावजूद, चर्चिल ने आखिर सहमति दर्शाई कि बुढ़ऊ की मौत ब्रिटिश कैद में हो इससे बेहतर है कि उसे खुला छोड़ दिया जाए।

लेकिन ब्रिटिश कैद तो दूर, ब्रिटिश राज्य में ही मरना बुढ़ऊ को मंजूर नहीं था। एक धनी अनुयायी ने, बम्बई के निकट उनके उपचार का समुचित प्रबन्ध किया। वह धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगे।

नार्थ ओल्ट हवाई अड्डा; 20 मार्च, 1947

नार्थ ओल्ट हवाई अड्डे की उड़ान पट्टी पर, सुबह की कच्ची धूप में, माउण्टबेटन का प्रिय हवाई जहाज 'यार्क एम.डब्ल्यू 102' तैयार खड़ा था। माउण्टबेटन का सारा सामान कुल 66 नग, उसमें चढ़ाया जा चुका था।

नए वासयराय की पत्नी ने, विशेष चिन्तित हुए बिना, जूतों के पुराने डिब्बे जैसा दिखाई पड़ता एक नग हवाई जहाज के किसी रैक पर रख दिया था।

उड़ान शुरू होने से पहले सहसा जांच की गई कि वह खास नग कहीं पीछे तो नहीं छूटा जा रहा? वायसराय की पत्नी को एकाएक याद न आया कि जूतों के पुराने डिब्बे जैसा वह नग उसने कहां रख दिया है।

नग की खोज में हवाई जहाज के भीतर हंगामा सा मच गया। गनीमत रही कि रैक पर रखे उस डिब्बे पर शीघ्र ही किसी की नजर पड़ गई।

उसमें, दरअसल वह हीरों-जड़ा मुकुट था, जिसे लेडी माउण्टबेटन उस वक्त पहनने वाली थी, जब भारत में उसके पति को वायसराय की शपथ दिलाई जाएगी।

एक तरफ वे सारे तमाम दस्तावेज पड़े थे, जो आगामी अत्यन्त दुष्कर महीनों में, वायसराय का मार्ग निर्देशन करने वाले थे। जो दस्तावेज सबसे महत्वपूर्ण था, वह मात्र दो पृष्ठों पर फैला हुआ था और उस पर क्लिमेण्ट एटली के हस्ताक्षर थे। लुई माउण्टबेटन ने अपना भारत अभियान किन-किन शर्तों पर स्वीकार किया है, उसका तेज तर्रार वर्णन उसमें किया गया था। आज तक किसी वायसराय को उतनी शक्तियां नहीं दी गई थीं, जितनी इस अन्तिम वायसराय को।

इसके बावजूद—

यह वायसराय अपने हवाई जहाज के नजदीक टहलता हुआ, बुदबुदा रहा था, 'याने ..... आखिर हम भारत जा रहे हैं। मैं जाना नहीं चाहता। वहां कोई मुझे बुलाना नहीं चाहता। शायद हमें जल्दी ही लौटना पड़े। तब कहीं हमारी पीठें गोलियों से छलनी हो न चुकी हों।'

'यार्क एम.डब्ल्यू 102' की पूरी जांच जब हो गई, तो माउण्टबेटन ने उसमें प्रवेश किया। युद्ध के दिनों के दो खास, दोस्त, व्यक्तिगत कर्मचारियों में, उसके साथ भारत जा रहे थे। 'यार्क में प्रवेश से पहले ही माउण्टबेटन की बुदबुदाहट उन दोनों ने सुनी थी। जवाब किसी के पास नहीं था।'

माउण्टबेटन उस महान् अभियान की पूर्णाहुति के लिए चल पड़ा था, जिसका प्रारम्भ लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष पहले केप्टन हॉकिन्स नामक एक अंग्रेज ने उस वक्त किया था, जब उसके जहाज 'हेक्टर' ने भारत पहुंचकर सूरत के बन्दरगाह में लंगर डाला था।

❑❑❑

4

'मरते साम्राज्य की मारक समस्याएं'

प्रायश्चित की प्रगति (ग)

दुनिया की कोई ताकत बुढ़ऊ को आगे बढ़ने से रोक नहीं सकती थी। अपनी असीम आध्यात्मिक शक्ति के साथ, नंगे और दुखते पांवों के जोर पर गांधी जी एक गांव से दूसरे गांव पहुंचते जा रहे थे—दु:ख दर्द के घावों पर प्रेम का मरहम लगाते हुए।

घाव, धीरे-धीरे भरने लगे। गांधी जी की दुर्बल व ओजस्वी काया के दूर से दिखाई देते ही लोगों का क्रोध शान्त पड़ने लगता। कुछ अनिश्चय व अनिच्छा से, नोआखाली के दलदली क्षेत्रों में, शान्ति की छाया आखिर फैलनी शुरु हुई।

नोआखाली के खतरनाक क्षेत्रों में भी मनु ने महात्मा का साथ नहीं छोड़ा था। मनु तब उन्नीस वर्ष की युवती थी। गांधी जी की वह दूर की पोती लगती थी। गांधीजी और उनकी पत्नी ने उसे अपनी सगी पोती की तरह पाला था। कस्तूर बाई गांधी ने जब अन्तिम सांसें ली थीं, तब उस की सेवा मनु ने ही की थी। मरने से पहले कस्तूर बाई ने मनु का पूरा उत्तरदायित्व महात्मा गांधी को सौंपा था।

'न जाने कितने लोग हैं, जो मुझे बापू कहते हैं.........?' गांधी जी ने मनु को वचन दिया था, 'लेकिन तुम्हारे लिए मैं मां बनूंगा।' मां की तरह ही गांधी जी उस के भोजन, रहन-सहन शिक्षा और धार्मिक संस्कार का ध्यान रखते थे।

मनु ने विवाह न करने का फैसला किया था; क्योंकि जैसा कि उस ने गांधी जी के सामने स्वीकार कर लिया था, उसके मन में अभी तक उस यौन भावना का अंकुर फूटा ही नहीं था जो उस की उम्र की हर औसत युवती में होता है। गांधी जी ब्रह्मचर्य के अनन्य भक्त थे ही। मन के निर्णय का उन्होंने हार्दिक स्वागत किया।

मनु गांधी जी के प्रति इतनी समर्पित थी कि एक क्षण के लिए भी उनसे अलग न होना चाहती। मुसलमानों की हिंसा जिस नोआखाली में धू-धू कर जल रही थी, वहां जाते समय गांधी जी मनु को साथ न रखें; ऐसा आग्रह सभी ने किया था; किन्तु न गांधी जी माने थें, न मनु। मनु के जीवन का क्षण-क्षण गांधी जी की सेवा के लिए समर्पित था। गांधी जी भी अपनी धर्म-पुत्री को पल भर के लिए भी अलग नहीं करना चाहते थे।

नोआखाली में यदि मुसलमानों ने हिन्दुओं की हत्या की थी, तो इस की प्रतिहिंसा में बिहार के हिन्दू, मुसलमानों पर टूट पड़े थे। घृणा की लपटें वहाँ भी आसमान छू रही थीं। नोआखाली में शान्ति स्थापना के बाद गांधी जी अपने थके पैरों से बिहार की ओर चल दिए।

नई दिल्ली, मार्च-अप्रैल, 1947

माउण्टबेटन की बग्घी वायसराय के निवास की ओर बढ़ी जा रही थी। नौसेना के सफेद यूनिफार्म में माउण्टबेटन इतने स्वच्छ और सुन्दर लग रहे थे, जैसे कोई फिल्मी सितारा। उनके शान्त चेहरे पर आत्मीय मुस्कान खिली हुई थी। लेडी माउण्टबेटन बगल में, बड़ी प्रसन्न मुद्रा में, बैठी थीं।

माउण्टबेटन के अंगरक्षक ज्यों ही बंगले की सीढ़ियों तक पहुंचे, त्यों ही शाही बिगुलवादकों की टुकड़ी ने नए वायसराय के स्वागत में अपने बैगपाइपों के स्वर गुंजा दिए।

लार्ड वैवल, जिन्हें अब वायसराय का पद छोड़कर चले जाना था, सीढ़ियों के शीर्ष पर खड़े थे। उन के होठों पर फीकी और उदास मुस्कान थी।

नई दिल्ली में दो-दो वायसरायों की मौजूदगी परम्परा के अनुकूल तो नहीं ही थी। परम्परा यह थी कि जाने वाला वायसराय जब भारत भूमि छोड़ चुका हो, तभी नया वायसराय इस देश में कदम रखे। माउण्टबेटन की जिद थी कि यह परम्परा तोड़ी जाए, क्योंकि जा रहे वायसराय लॉर्ड वैवेल के साथ लॉर्ड माउण्टबेटन को आमने-सामने बातचीत करनी थी। सीढ़ियां चढ़ रहे माउण्टबेटन ने, वैवेल की नजरों से नजरें मिलाए रख कर सम्मानसूचक सिर हिलाया।

दोनों वायसरायों ने सीढ़ियों के शीर्ष पर, औपचारिक बातचीत में, कुछ मिनट गुजारे, जिस दौरान अनेकानेक कैमरों की फ्लैश-गनें चौंधती रहीं।

जहाँ तक बाहरी व्यक्तित्व का सवाल था, दोनों वायसरायों में जमीन आसमान का अन्तर दिखाई पड़ रहा था। माउण्टबेटन फिल्मी सितारों जैसे आकर्षण, आत्मविश्वास और सक्रियता की मूर्ति। वैवेल-हारा हुआ उदास सिपाही, दुनिया के तमाशे को अपनी एक आंख से देखता हुआ......

माउण्टबेटन को साथ लेकर वैवेल ने टीक-वुड के उन भारी दरवाजों की ओर बढ़ना शुरू किया, जिनके उस पार वायसराय का अध्ययन-कक्ष था और जहां अनेक अजब मारक समस्याएं नए वायसराय की प्रतीक्षा में बैठी थी।

'मुझे दु:ख है कि आप को मेरी जगह पर बैठना पड़ रहा है।' वैवेल ने शुरू किया।

सुन कर माउण्टबेटन को हल्का आघात पहुंचा। 'आप का मतलब यह तो नहीं कि मैं .... इस पद के योग्य नहीं हूँ?'

'ओह नो, नो! वैवेल ने तुरन्त स्पष्ट किया, "आप की क्षमताओं से मैं खूब परिचित हूँ। दरअसल, मुझे आप के साथ सहानुभूति हो रही है, क्योंकि......... जो काम सौंप कर आप को यहां भेजा गया है, वह ऐसा है कि ...... उसे हम 'लगभग असम्भव' कह सकते हैं। गुत्थियां सुलझाने की मैंने अधिकतम चेष्टा कर देखी है। कोई परिणाम नहीं। 'व्हाइट हाल' की तरफ से नाम-मात्र भी सहायता नहीं मिलती। यहां हालात वहां पहुंच चुके हैं, जहां से वापसी की कोई सम्भावना नहीं हुआ करती।"

शान्तिपूर्वक वैवेल ने बताना शुरू किया कि गुत्थियां सुलझाने के लिए क्या-क्या कोशिशें वह कर चुके हैं। फिर वह उठे और अपनी तिजौरी तक पहुंचे।

तिजौरी में केवल दो चीजें थीं—वे चीजें, जिन के अलावा नए वायसराय को देने के लिए पुराने वायसराय के पास कुछ भी नहीं था।

पहली चीज एक लकड़ी के बक्से में रखी थी। चटख रंग के मखमल पर वह जोरों से चमक रही थी। वह था हीरों-जड़ा एक पदक—'ग्रैण्ड मास्टर ऑफ दि ऑर्डर ऑफ दि स्टार ऑफ इण्डिया' माउण्टबेटन के नए कार्यालय का प्रतीक। अड़तालीस घण्टों के बाद, नए वायसराय का जब शपथ-समारोह होगा, तो इसी पदक को अपने गले में पहन कर माउण्टबेटन आगे आएंगे।

दूसरी चीज थी एक सुन्दर-सी मजबूत फाइल; जिस पर ये शब्द लिखे हुए थे—'ऑपरेशन मैड हाउस' पागल खाने का अभियान! भारत की समस्या सुलझाने का जो एक मात्र उपाय उस सिपाही वायसराय को सूझ सका था, उसका प्रस्ताव इसी फाइल में था। वैवेल ने उदासी के साथ वह फाइल तिजौरी से निकाली और मेज पर रख दी।

'मैंने इस पर 'मैड हाउस' लिख रखा है। लॉर्ड वैवेल बोले, "सचमुच आज के भारत और किसी पागलखाने की समस्याओं में कोई अन्तर नहीं। काश! मैं बता सकता कि इस पागलखाने में बुद्धि की रोशनी फैलाने का उपाय क्या है।"

माउण्टबेटन ने फाइल खोलकर पढ़ना शुरू किया।

वैवेल के प्रस्ताव के अनुसार चलने का तो यही एक अर्थ निकलता कि मोहनदास गांधी की राय अंग्रेजों ने मान ली है और भारत को भगवान भरोसे छोड़कर वे खिसक रहे हैं।

प्रस्ताव था कि—

भारत के प्रान्तों को अंग्रेज एक-एक कर छोड़ना शुरू करें। पहले स्त्रियां और बच्चे निकल जाएं। फिर नागरिक निकलें और अन्त में सैनिक।

"मैं जानता हूँ, यह प्रस्ताव घटिया और भयंकर है, लेकिन इसके अतिरिक्त मैं कोई और सलाह नहीं दे सकता।" वैवेल गहरी सांस लेकर बोले, "मुझे बेहद खेद है। मैं ही जानता हूं, मुझे कितना खेद है। काश! मैं आप के सामने इस के अलावा कुछ और भी रख सकता।"

वैवेल के अध्ययन-कक्ष में लॉर्ड माउण्टबेटन को आभास मिलता जा रहा था कि नए वायसराय का पद सम्भालने के साथ उन का जीवन क्या से क्या हो जाएगा।

उस अध्ययन-कक्ष के ठीक ऊपर के कमरे में, लेडी माउण्टबेटन को भी, बड़े अविस्मरणीय ढंग से, आभास मिल गया कि उनके नए जीवन की रूपरेखा क्या होने जा रही है।

निजी कमरे में पहुंचने के साथ एडविना माउण्टबेटन ने एक नौकर को आदेश दिया कि मिसेन और जिव नामक दो , नन्हे कुत्ते हमारे साथ आए हैं। इन्हें भूख लगी होगी। इन के लिए कुछ ले आओ।

उस समय एडविना माउण्टबेटन की आंखें फैली-की-फैली रह गईं, जब आधे घण्टे बाद दो नौकरों ने उनके शयन-कक्ष में बड़ी गम्भीरतापूर्वक प्रवेश किया। दोनों नौकर शानदार पग्गड़ लगाए हुए थे। दोनों के हाथ में चांदी की एक-एक ट्रे। हर ट्रे में चीनी मिट्टी की एक-एक प्लेट में अभी-अभी भूना गया मुर्ग! शानदार, स्वादिष्ट स्लाइसों में कटा-कटाया!

लेडी माउण्टबेटन मुर्ग की उन स्लाइसों को देखती रह गईं। पिछले अनेक हफ्तों से, भागदौड़ में फंसी लेडी माउण्टबेटन ने, उतना स्वादिष्ट भोजन चखा तो दूर सूंघा भी नहीं था। दोनों नन्हे कुत्ते उन के पैरों के पास खड़े भौंक रहे थे। उन्होंने कुत्तों की ओर उड़ती नजर से देख लिया। 'हर बात की एक हद होती है।' लेडी माउण्टबेटन ने सोचा, इतना पौष्टिक भोजन कुत्तों को कैसे दिया जा सकता है?

"प्लेटें इधर लाओ।" उन्होंने हाथ बढ़ाया।

नौकर प्लेटें दे कर चले गए।

लेडी माउण्टबेटन, दोनों प्लेटें उठाकर, स्थिर चाल से स्नानागार में घुसीं और दरवाजा बन्द कर लिया। जो महिला आगामी कुछ महीनों में, वायसराय के मेहमान बनने वाले पच्चीस हजार लोगों को खिलाने-पिलाने वाली थीं, उसी महिला लेडी माउण्टबेटन ने बन्द स्नानागार में छिप कर उन भुने हुए मुर्गों को झटपट खा डाला? जो मूलत: उन्हीं के कुत्तों के लिए तैयार किए गए थे।

साम्राज्य विस्तार की उस महान् कहानी का अन्तिम परिच्छेद शुरू होने ही वाला था। गिनती के मिनटों के बाद, 24 मार्च, 1947 के उस दिन, भारत पर राज्य करने वाला अन्तिम अंग्रेज वायसराय के सुनहरे सिंहासन पर आरूढ़ होने जा रहा था। इंग्लैंड के महामना सम्राट का बीसवां और अन्तिम प्रतिनिधि।

वह समारोह आयोजित हो रहा था दरबार हाल में, जिस की भव्यता का मुकाबला कर सकें, ऐसे कक्ष दुनिया में बहुत कम हैं।

लॉर्ड माउण्टबेटन ने, घुटनों तक पहुंच रहा। अपना ट्यूनिक, जब पहनना शुरू किया; तो उनकी आंखों के सामने से भूतकाल के कुछ दृश्य गुजर गए।

लगभग पच्चीस वर्ष पहले, शाही राजकुमार के साथ, माउण्टबेटन भारत आए थे। तब यहां के वायसराय का ठाठ देखकर राजकुमार के मुंह से बरबस निकल पड़ा था, ''मुझे पहली बार पता चल रहा है कि एक राजा को कैसे रहना चाहिए।''

वायसराय के ठाठ से माउण्टबेटन की आंखें भी खुली रह गई थी। उस दिन क्या किसी ने सपने में भी ख्याल किया होगा कि वायसराय का वही सिंहासन, चौथाई शताब्दी बाद, स्वयं माउण्टबेटन के अधिकार में होगा?

दरवाजे पर हुई एक धीमी खटखटाहट ने लॉर्ड माउण्टबेटन के विचारों में खलल पहुंचाया। उन्होंने पलट कर देखा। शयन कक्ष के दरवाजे पर जो था, उस पर से आंखें हटाना मुश्किल हो गया, उन के लिए। अपने भूरे बालों पर हीरों-जड़ा मुकुट पहने हुए लेडी माउण्टबेटन, दरवाजे के सुन्दर फ्रेम में, स्थिर खड़ी मुस्करा रही थीं। रेशम के सफेद गाउन में उन का इकहरा बदन उतना ही लोचदार और भव्य लग रहा था; जितना कि उस दिन, जब विवाह के बाद लॉर्ड माउण्टबेटन को बांह में बांह डाले, वह गिरजाघर से बाहर निकली थीं।

कुछ मामलों में लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन का चरित्र उत्तर-दक्षिण था। गहरे से गहरे तनाव में भी लॉर्ड माउण्टबेटन इतने विह्वल नहीं हो जाते थे कि रात को चैन की नींद न ले सकें। ठीक विपरीत, एडविना माउण्टबेटन की अधिकांश रातें नींद की गोली के खुमार में व्यतीत होतीं।

अपने नाना की अतुल सम्पत्ति एडविना ने उत्तराधिकार में पाई थी। लॉर्ड माउण्टबेटन से विवाह होने से पहले ही, एडविना के अनेक छोटे-बड़े पारिवारिक रिश्ते, इंग्लैण्ड के राजघराने के साथ जुड़े हुए थे।

एडविना की मां की मृत्यु बचपन में हो गई थी। उस कोमल वय में एडविना को ऐसे अनेक कड़वे अनुभव हुए, जिन से उनका स्वभाव अन्तर्मुखी हो गया। जरा सी बात उन्हें भारी चोट पहुंचा सकती थी। किसी भी कटु अनुभव को भूलना उन के लिए सम्भव नहीं था। कड़वी यादें घुन की तरह उनके व्यक्तित्व को खाए जातीं।

लॉर्ड माउण्टबेटन आसानी से आलोचना करते थे और स्वयं की आलोचना को आसानी से सुनते भी थे। लेडी माउण्टबेटन हर शब्द को जैसे तौलकर बोला करतीं। इसी तरह उनके साथ बातचीत करने वाले को भी, एक-एक शब्द सम्भल कर सामने रखना होता।

ऐसे विरोधाभास के बावजूद, लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन में एक बात अवश्य मिलती-जुलती थी—कि वे मानवता के सम्मानकर्त्ता थे। मानवता की रक्षा के लिए जान पर खेल जाना भी उनके लिए मुश्किल नहीं था।

युद्ध के दिनों में, एडविना माउण्टबेटन ने सेण्ट जॉन एम्बूलेन्स ब्रिगेड का संचालन किया था, जिसमें 60,000 कार्यकर्त्ता थे। जब जापान ने हथियार छोड़े, तो लॉर्ड माउण्टबेटन ने एडविना से कहा कि वह तुरन्त जापान के युद्ध बन्दियों के कैम्प का दौरा करें। मित्र-सेनाओं के हजारों सैनिक उन शिविरों में अटके पड़े थे और उन की खैर-खबर पूछने वाला भी कोई नहीं था।

पति के कमाण्ड का एक भी सिपाही मलय भूमि पर कदम रखता, इससे पहले लेडी माउण्टबेटन वहां पहुंच गई—बिना इस बात की पहरवाह किए कि वहां अभी भी जापानियों का नियंत्रण है और अंग्रेजों के प्रति वे तीव्र घृणा से उबल रहे होंगे। एडविना माउण्टबेटन के पास आत्मरक्षा का यदि कोई हथियार था तो मात्र अपने पति का पत्र। उनके कर्मचारियों में मात्र पांच व्यक्ति थे—एक सचिव पति द्वारा साथ भेजे गए तीन अधिकारी और एक भारतीय ए.डी.सी.। उन्होंने बिना किसी भय के बालिक्पान, मनीला और हांगकांग तक यात्राएं कीं। मित्र-राष्ट्रों के हजारों सैनिक भोजन और दवाओं के अभाव में, जापानियों के युद्ध-बन्दी शिविरों में, मरे जा रहे थे। एडविना ने जापानियों से बहसें और झडपें कर उन सब को भोजन व दवाएं दिलाईं।

इस प्रकार एडविना ने कुल कितने हजार लोगों की जीवन रक्षा की, हिसाब लगाना मुश्किल है। आभारी मित्र-राष्ट्रों ने युद्धकाल के अनेक पदक एडविना माउण्टबेटन पर न्यौछावर किए।

अब, एडविना को नई दिल्ली में अपने पति के कन्धे-से-कन्धा मिला कर, फिर एक बार, अत्यन्त महत्वपूर्ण गतिविधियों में भाग लेना था।

लेडी माउण्टबेटन अपने पति की सर्वप्रथम सलाहकार और हमराज थी। विपत्ति के क्षणों में पति के मनोबल को टूटने से बचाने की जिम्मेदारी, नई दिल्ली में, उन्हीं को सर्वाधिक निभानी थी। जिद्दी और भावुक भारतीय नेताओं को, जो किसी भी तरह उन के पति के प्रभाव को ग्रहण न कर रहे हों, समझा-बुझा कर विवेकशील बनाने का दुष्कर कार्य लेडी माउण्टबेटन के अलावा भला कौन करता?

ठीक् अपने पति की तरह, लेडी माउण्टबेटन भी भारत से विदा लेते समय अपने चरित्र और माधुर्य की अमिट छाप छोड़ जाने वाली थीं। भारतीयों ने आज तक जितना सम्मान किसी भी अंग्रेज महिला का नहीं किया, उतना सम्मान वह लेडी माउण्टबेटन का करने वाले थे।

दरवाजे की सुन्दर चौखट को पीछे छोड़ कर एडविना माउण्टबेटन ने अपने पति की ओर बढ़ना शुरू किया।

फिर से, लॉर्ड माउण्टबेटन को पुराने दिन याद आ गए।

वे दोनों अभी जहां खड़े थे, वहां से वह जगह मुश्किल से एक मील दूर थी, जहां लुई माउण्टबेटन ने लगभग चौथाई शताब्दी पहले एडविना एशले से थरथराते स्वर में पूछा था, ''मुझ से शादी करोगी?'' वह तारीख थी 14 फरवरी 1922 और लुई माउण्टबेटन अपने दूर के भाई शाही राजकुमार के साथ भारत की सैर करने आया था। राजकुमार के सम्मान में वायसराय की ओर से 'बाल' का आयोजन हुआ था। 'बाल' का जब पांचवां डान्स चल रहा था, तब लुई और एडविना चुपके से एक तरफ खिसक गए थे.... उसी शाम जब उन लोगों ने 'बाल' की आयोजिका, वायसरीन, लेडी रीडिंग के सामने अपने निर्णय का समाचार रखा था; तो ..... लेडी रीडिग को विशेष प्रसन्नता नहीं हुई थी। लेडी रीडिंग ने एडविना की एक आण्टी के नाम पत्र लिखते समय अंकित किया था—'लुई माउण्टबेटन जिन्दगी में कोई खास तरक्की कर सके, ऐसा नौजवान नहीं है।'

लॉर्ड लुई माउण्टबेटन को, लेडी रीडिंग के वे शब्द, आज सहसा याद आए बिना न रह सके। लॉर्ड माउण्टबेटन ने अपनी पत्नी का हाथ थाम लिया। उसे लेडी रीडिंग के सुनहरे सिंहासन पर बिठाने के लिए वह सहर्ष खींच ले चले.......

दरबार हाल में आयोजित उस अत्यन्त भव्य शपथ-समारोह ने लॉर्ड माउण्टबेटन को भारत का अन्तिम वायसराय बना दिया। गिनती के मिनटों के उस समारोह ने उन्हें दुनिया के सर्वाधिक शक्तिशाली मनुष्यों के बीच ला बिठाया।

समारोह के बाद; परम्परा के विरुद्ध जा कर, सलाहकारों की राय का सम्मान न करते हुए, लॉर्ड माउण्टबेटन दरबार हाल के माइक्रोफोन की ओर बढ़ गए। समारोह के मेहमानों के समक्ष उन्होंने एक संक्षिप्त भाषण दिया—

''मुझे अच्छी तरह मालूम है कि यहां मुझे कितना कठिन कार्य कर दिखाना है। बड़ी-से-बड़ी संख्या में लोग मेरे प्रति अधिक से अधिक शुभ कामना रखें, तभी यह कार्य पूरा हो सकता है। आज मैं इसी शुभ कामना के लिए सम्पूर्ण भारत के सामने हाथ फैला रहा हूँ।''

इसके पैंतालीस मिनट बाद, धूमधाम की भारी पोशाक से छुटकारा पाकर, अपनी सामान्य पोशाक में लॉर्ड माउण्टबेटन मेज के सामने आ बैठे। अगले ही क्षण चपरासी ने गम्भीरतापूर्वक एक ट्रे उनके सम्मुख रखी। ट्रे में चमड़े का बना, हरे रंग का 'डिस्पैच बाक्स' था, जिसे नए वायसराय ने खोला। भीतर एक दस्तावेज था। सहसा, कितनी अधिक शक्तियां लॉर्ड माउण्टबेटन को मिल गई हैं और उन शक्तियों को वह किस सीमा तक बेलगाम उपयोगी कर सकते हैं—इसका साक्षात प्रमाण था वह दस्तावेज।

फांसी की सजा पाए एक मर्द ने जीवन-दान के लिए आवेदन किया था।

रोमांच और आतंक के साथ माउण्टबेटन उस ब्यौरे को पढ़ने लगे कि उस व्यक्ति को फांसी क्यों दी गई। उसने, पूरी एक भीड़ के सामने, अपनी पत्नी को इतनी बुरी तरह मारा-पीटा था कि वह मर गई। प्रत्यक्षदर्शी इतने अधिक थे और हर साक्ष्य इतना ठोस कि फांसी की सजा यदि दी गई, तो उसमें अन्याय या अजूबे जैसा कुछ नहीं था। अनेक क्षणों तक लॉर्ड माउण्टबेटन अनिश्चय के भंवर में फंसे बैठे रह गए।

आखिर उन्होंने कलम उठाई। वायसराय का पद सम्भालने के बाद, अपने प्रथम कार्यालधीन उत्तरदायित्व को, इन शब्दों के साथ उन्होंने पूरा किया।

ऐसा कोई आधार नहीं कि जिस से जीवनदान देने का विशिष्ट शाही अधिकार यहां प्रयोग में लाया जा सके।

लॉर्ड लुई माउण्टबेटन ने महसूस किया कि अपने विचारों को भारतीय नेताओं पर थोपने से पहले, स्वयं के व्यक्तित्व में दिव्यता लाना अत्यन्त आवश्यक है। उनका पक्का विश्वास था कि जब तक शानदार, चमचमाता शो सामने न रखा जाए, तब तक कोई वायसराय, वायसराय नहीं बन सकता।

ऐसे अनेक खर्च थे, जिन्हें युद्ध के दिनों में मितव्ययिता के नाम पर रोक दिया गया था। माउण्टबेटन ने उन सब को फिर से शुरू करवाया। सभी ए.डी.सी. शानदार पूरी पोशाक पहनने लगे। बैण्ड-बाजों का शोर आसमान तक उठने लगा। तलवारें चमचमाने लगीं। 'गार्ड माउण्टिंग' के रुके हुए समारोह फिर जारी हो गए।

रौब-रुतबे के इन क्षणों को माउण्टबेटन ने बहुत पसन्द किया, लेकिन व्यक्तिगत पसन्द की पर्त के नीचे, वास्तव में, दूरदर्शिता का पैंतरा रचा जा रहा था। लॉर्ड माउण्टबेटन अपने आसपास की हर चीज को ग्लैमर से भर देना चाहते थे, ताकि भविष्य में वह जब भी कुछ कहें, तो हर शब्द का अपना वजन हो।

पिछले वायसराय ने समस्याओं को 'ऑपरेशन मैड हाउस' नाम दिया था, जबकि माउण्टबेटन उन्हीं समस्याओं की फाइल पर लिखना चाहते थे—'ऑपरेशन सिडक्शन' .....' वशीकरण अभियान! ....

लॉर्ड माउण्टबेटन शासन करने का बिल्कुल नया तरीका अपनाना चाहते थे। एक ओर तो रौब-रुतबे का खुला प्रदर्शन। दूसरी ओर, कोमलतम उदारता और स्नेह का हार्दिक परिचय! जब तक अभियान को इन दो चरम बिन्दुओं के बीच नहीं फैलाया जाएगा, तब तक भारतीय नेताओं और जनता पर नए वायसराय का वशीकरण चलने वाला नहीं। इस वशीकरण का उद्देश्य व्यक्तिगत सन्तोष या आनन्द नहीं था। लॉर्ड माउण्टबेटन इसे इस प्रकार उपयोगी करने के प्रयास में थे, जिससे अंग्रेज सही-सलातम भारत त्याग कर सकें और उस त्याग के बावजूद भारत सही-सलामत भारत खड़ा रह जाए—जातीय दंगों के बोझ-तले चरमरा कर बैठने न लगे।

माउण्टबेटन से पहले, वायसराय के कार्यालय में हर काम शाही आनन्द से होता था। इस लाक्षणिक अलाली को माउण्टबेटन ने एक झटके में दूर कर दिया। उनका कार्यालय, शीघ्र ही, ऐसे खटाखट कार्य करने लगा; जैसे वह शाही महल न हो, सैन्य मुख्यालय हो। माउण्टबेटन ने स्वयं इतना ज्यादा काम रोज करना शुरू किया कि अधीनस्थों के छक्के छूटने लगे।

भारत के वायसरायों की हत्या की कोशिशें दो बार हो चुकी थीं। फलस्वरूप वायसराय जनता से एकदम कट कर छिपा-छिपा रहने लगा था। सुरक्षा के नाम पर उसके और जनता के बीच इतनी गहरी खाई खोद दी गई कि उसकी तली पाताल को छूने लगे।

माउण्टबेटन ने निर्णय किया कि इस खाई को पाट कर रहेंगे। सबसे पहली घोषणा उन्होंने यह की कि हर सुबह जब वह अपनी पत्नी या बेटी को साथ लेकर घूमने निकलेंगे, तो अंग रक्षकों से घिरे हुए न होंगे। सहयोगियों ने उनके इस कदम का तीव्र विरोध किया, लेकिन जो उन्होंने ठान लिया, सो ठान लिया।

इसके बाद, उन्होंने सपत्नीक एक ऐसा काम किया, जो पिछले दो सौ वर्षों के इतिहास में किसी वायसरराय ने सपने में भी नहीं किया था। वे एक ऐसे भारतीय के घर जा पहुंचे, जो किसी मामूली रजवाड़े तक का शासक नहीं था। जवाहरलाल नेहरू ने नई दिल्ली स्थित अपने सादा मकान में जो गार्डन-पार्टी दी, उसमें एकाएक सबने आंखें फाड़ कर देखा कि वायसराय और वायसरीन, मन्द मन्द मुस्कान बिखेरते, पैदल चले आ रहे हैं। लोगों की तो बोलती बन्द हो गई, लेकिन लॉर्ड माउण्टबेटन ने बड़े आराम से, सरेआम, जवाहरलाल नेहरू की बाँह-में-बाँह डाली और बातें करते हुए इधर-उधर घूम रहे हैं। इसका हाल पूछ रहे और उससे हाथ मिला रहे हैं।

इस सौजन्य से सब को सम्मोहित कर लिया। नेहरू ने उसी शाम अपनी बहन से कहा, 'गनीमत है। इस बार का वायसराय, कम-से-कम, मनुष्य जैसा तो लगता है; वरना ...... अब तक जो आते रहे हैं, उनका हाल क्या था?'

भारतीय सेना के बीस लाख जवानों ने माउण्टबेटन के हाथ के नीचे उस समय काम किया था, जब वह दक्षिण-पूर्वी एशिया का कमाण्ड सम्भाल रहे थे। भारतीय वीरों ने, माउण्टबेटन को खुश कर दिया था। वह खुशी, लॉर्ड माउण्टबेटन ने, अब जाहिर की अपने ए.डी.सी. कर्मियों में तीन भारतीय अधिकारियों की नियुक्ति करके।

अब तक; गिनती के ही भारतीय, वायसराय के निवासस्थान में प्रवेश करने का सौभाग्य पा सके थे—विशेष अवसर पर, विशेष आमन्त्रण पर। माउण्टबेटन ने आदेश दिया कि वायसराय का दरवाजा, अब, सभी भारतीयों के लिए खुला रखा जाए। कोई पार्टी ऐसी न हो, जिसमें भारतीय आमन्त्रित न किये गये हों। रस्म अदाई के लिए इक्के-दुक्के भारतीयों को बुला लेने से काम नहीं चलेगा। कम-से-कम पचास प्रतिशत मेहमान भारतीय होने चाहिये।

लेडी माउण्टबेटन, भोजन की मेज पर, एक और क्रान्ति ले आई। जो आज तक किसी वायसराय के रसोई घर में नहीं हुआ था, वह एडविना माउन्टबेटन के मात्र एक इशारे पर होने लगा। भारतीय मेहमानों के लिए खास शाकाहारी भोजन पकना शुरू न केवल इतना, बल्कि छुरी काँटे की अपेक्षा हाथ से खाने और भोजन के अन्त में शोर मय कुल्ले करने की भी छूट भारतीयों को दी गई।

सौजन्य का प्रमाण देने वाली ऐसी तो अनेक बातें थीं—छोटी और बड़ी बातें। जिस देश में उनका प्रणय शुरू हुआ था, उस देश पर लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन स्नेह की वर्षा कर रहे थे। गिनती के ही सप्ताहों में, 'वशीकरण अभियान' इतना आगे बढ़ गया कि जवाहरलाल नेहरू ने एक दिन मजाक में माउण्टबेटन से कहा, "यदि इसी तरह आपकी लोकप्रियता बढ़ती रही, तब तो .... आपके साथ सलाह और सौदेबाजी करना बड़ा असम्भव हो जाएगा।"

नेहरू के शब्द इतने विद्युतमय थे कि लॉर्ड माउण्टबेटन को एकबारगी यकीन ही न हो सका था अपने कानों पर।

उतने ही अविश्वसनीय, उतने ही विद्युतमय शब्द थे जार्ज एबेल के; जो भारत की आन्तरिक स्थिति के बारे में नये वायसराय को सावधान करने आया था। जार्ज एबेल, पिछले वायसराय का, अत्यन्त आत्मीय और अनुभवी सलाहकार था। भारतीय जनता के मानस को जितनी गहराई से वह पहचानता था, उतनी गहराई से वायसराय के स्टॉफ का अन्य कोई व्यक्ति नहीं। पिछले वायसराय की तरह नये वायसराय ने भी हमेशा उसकी पैनी नजर का सम्मान किया था।

माउण्टबेटन को इंग्लैण्ड में ही सावधान कर दिया गया था कि भारत तेजी से गृह-युद्ध की ओर बढ़ रहा है, किन्तु जार्ज एबेल जो डरावना दृश्य सामने रख रहा था, उसके अनुसार तो गृह-युद्ध शुरू होने में मात्र इक्की-दुक्की चिन्गारियों की कसर थी। "तर्क-वितर्क, सोच-विचार, बहस-मुबाहिसे का समय गुजर चुका है।" जार्ज एबेल की राय थी, "यदि देश को जलजले से बचाना है, तो आज मात्र एक चीज की जरूरत है, स्पीड। गति। तीव्रता .... एक क्षण भी खोए बिना, जो करना है, तत्काल कर लिया जाए.........."

एक और व्यक्ति था, जिसके शब्दों का माउण्टबेटन सर्वाधिक सम्मान करते थे—लार्ड इसमे। वह 1940 से 1945 के बीच, विन्स्टन चर्चिल का चीफ-ऑफ-स्टॉफ रह चुका था और अब माउण्टबेटन के चीफ-ऑफ-स्टॉफ के रूप में भारत आया था। उसकी पैनी नजर ने भी वही विश्लेषण किया था, जो जार्ज एबेल ने सामने रखा—

'भारत की वर्तमान दशा उस जहाज जैसी है, जिसमें से आग की लपटें धू-धू कर उठ रही हों और जिसके गर्भ में बारूद भरा हुआ हो। सारी लड़ाई इसी की है कि आग बारूद तक पहले पहुंचेगी या उससे पहले हम उसे काबू में कर चुके होंगे।'

भारत का संचालन करने का जो सबसे बड़ा शासकीय यन्त्र था, वह बैठा जा रहा था—आई.सी.एस....... इण्डियन सिविल सर्विस! युद्ध के दिनों में अंग्रेज अधिकारियों के भारी अभाव के कारण आई.सी.एस. में अनेक अयोग्य कर्मचारी ऊंचे पदों पर जा बैठे थे। शासन चलाना उनके बस का रोग था ही नहीं। हिन्दू-मुसलमान हिंसा इस सीमा तक बढ़ चुकी थी कि उसकी आग में आई.सी.एस. का अन्तिम अवशेष भी भस्म हो सकता था।

हर दूसरे-तीसरे दिन, गांवों, नगरों, महानगरों से समाचार आ रहे थे—हिन्दुओं ने मुसलमानों को, मुसलमानों ने हिन्दुओं को काट डाला, मार डाला, जला डाला, आग..... आग........ आग....... ।

माउण्टबेटन ने भारतीय पुलिस के सर्वोच्च अधिकारी को बुला कर पूछा, "क्या पुलिस में इतना दम-खम है कि अगर चुस्ती पैदा की जाए, तो वह इन जातीय दंगों को काबू में ला सके?"

"नो, योर एक्सिलेन्सी!" जवाब मिला, "हमारी पुलिस में इतना जोर नहीं।"

माउण्टबेटन ने भारतीय सेना के कमाण्डर-इन-चीफ सर क्लाड आकिनलेक को बुलाकर यही सवाल पूछा और यही जवाब पाया। जातीय दंगों की ताकत, सैन्य ताकत से भी आगे बढ़ चुकी थी।

माउन्टबेटन को शीघ्र ही पता चल गया कि जिन दो प्रमुख दलों कांग्रेस और मुस्लिम लीग के सहयोग से उन्हें भारत के गिरते ढांचे को फिर से खड़ा करना है, उन्हीं के बीच इतना जबर्दस्त मन-मुटाव है कि उनके सदस्य जब आमने-सामने हों; तो शायद ही कोई बातचीत करते हों।

याने, ऐसा अवसर किसी भी क्षण आ सकता था, जब कांग्रेस और मुस्लिम लीग का सहयोग अर्थहीन-सा हो जाने लगे और शासन का सारा भार माउण्टबेटन के कन्धों पर आ जाए, तब यह शासन माउण्टबेटन को उस प्रशासकीय संस्था के सहारे चलाना होगा, जो पहले ही से अपनी योग्यता के बोझतले बैठी जा रही है,—आई.सी.एस.।

सैन्य के भी पैरों तले से जमीन खिसकना शुरू कर चुकी है।

हड़बड़ी इतनी है कि भारत का जो भी भविष्य-निर्माण किया जाना है, उस के लिए वायसराय के पास कुछ महीनों का भी समय नहीं। केवल गिनती के हफ्ते हैं।

इंग्लैण्ड की एटली सरकार को 2 अप्रैल, 1947 के दिन लॉर्ड माउण्टबेटन ने अपनी जो पहली रिपोर्ट भेजी, उसमें स्पष्ट लिखा कि देश का आन्तरिक तनाव सीमा से बाहर जा चुका है। चाहे कितनी ही शीघ्रता से कार्य किया जाए, गृह-युद्ध शुरू हो जाने का पूरा खतरा है।

❑❑❑

5

''बुढ़ऊ और उसका टूटा सपना''

नई दिल्ली; अप्रैल, 1947

आधुनिक भारत के इतिहास में यह पहला अवसर था जब देश का भविष्य किसी सम्मेलन टेबल पर नहीं, बल्कि वायसराय के निजी कमरे में आत्मीयता के बीच तय हो रहा था।

लन्दन को भेजी गई पहली रिपोर्ट में वायसराय ने जिस भयानक गृह-युद्ध की सम्भावना का जिक्र किया था, उसे टालने के महत्वपूर्ण प्रयासों की शुरुआत उस आत्मीयता के बीच होने जा रही थी। निजी अन्तरंग गोष्ठियों का सिलसिला, जिसमें पांच व्यक्तियों को भाग लेना था। एक तो वायसराय स्वयं। शेष चार भारत के प्रमुख नेता।

ये चारों नेता प्रौढ़ावस्था प्राप्त कर चुके थे। पिछली चौथाई शताब्दी से वे अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष करते रहे थे। उन्होंने आपस में भी घनघोर बहसें की थीं। चारों ने लन्दन की 'इन्स ऑफ कोर्ट' से वकालत पास की थी। चारों वकील, बारी-बारी से, अपने जीवन की सबसे महत्वपूर्ण, नाजुक और सनसनीखेज बहस शुरू करने वाले थे—भारत के अन्तिम वायसराय के साथ।

बहस का अन्त कहां होना चाहिए, यह लॉर्ड माउण्टबेटन के दिमाग में पूर्णत: स्पष्ट था। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि भारत से विदा लेते समय इंग्लैण्ड इस जबर्दस्त देश की एकता की पक्की डोर से बांधकर जाए। यदि मुस्लिम लीग का, देश के टुकड़े करने का प्रस्ताव, स्वीकार कर लिया गया, तो यह एक अत्यन्त विडंबनापूर्ण बात होगी।

लेकिन भारत के टुकड़े होने से तभी बचाए जा सकते थे। जब देश के नेता एकमत होकर एक डोर से बंधना मंजूर करें। आपस में सिर-फुटव्वल करने से जिन नेताओं को फुरसत

नहीं थी। उन्हें एकमत करने का हर प्रयास, अब तक, असम्भव रहा था। इसीलिए, वायसराय ने उन सबसे अलग-अलग मिलने का निर्णय किया था—दोस्ताना माहौल में।

नये वायसराय को, केवल कुछ हफ्तों में, वह काम करके दिखा देना था, जिसे पिछले अनेक वायसराय अनेक वर्षों में भी सम्पन्न नहीं कर सके थे—भारतीय नेताओं में एकता की स्थापना।

क्या वह दुष्कर कार्य माउण्टबेटन जैसे मधुर, आकर्षक और आत्मविश्वासी व्यक्ति के लिए भी सम्भव हो सकेगा?

जो नेता, माउण्टबेटन के सामने, सबसे पहले प्रस्तुत हुआ, वह भारत के प्रसिद्ध और जनप्रिय नेताओं में से एक था। गंजे होते जा रहे सिर पर वह खादी की सफेद टोपी लगाता था। जैकेट के तीसरे काज में वह ताजा गुलाब पिरोता था। उसका सौन्दर्य-सना व्यक्तित्व भारत के नये वायसराय की तुलना में किसी तरह कम नहीं बैठता था। माउण्टबेटन का चेहरा हमेशा एक जैसा शान्त बना रहता, लेकिन जवाहरलाल नेहरू के गोरे, सुन्दर चेहरे पर क्षण-क्षण नये भाव आते जाते रहते थें। उनका मानस, उनका हास्य, उनकी जिन्दादिली, उनकी महत्वाकाक्षाएँ—उनका सब-कुछ चेहरे की रेखाओं में प्रकट हो सकता था, होता भी था।

जवाहरलाल नेहरू ऐसे एकमात्र नेता थे, जिनका माउण्टबेटन के साथ पूर्व परिचय था। युद्ध के बाद नेहरू जब सिंगापुर गए थे, तब माउण्टबेटन भी वहीं थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अपने कमाण्ड का संचालन माउण्टबेटन वहीं से किया करते थे। मुलाकात होते ही दोनों के बीच ऐसी दोस्ती पनप गई कि सलाहकारों की राय को एकदम ठुकराते हुए माउण्टबेटन ने नेहरू को एक बगल में बिठाकर सिंगापुर की सड़कों पर, खुली कार में सैर की थी।

जबकि सलाहकारों ने माउण्टबेटन से कहा था "जिस राजद्रोही नेता के जूतों पर से ब्रिटिश जेल की धूल भी अभी नहीं झड़ी है, उसे साथ लेकर खुली कार में, खुली सड़कों पर घूमना राजद्रोह का महत्व बढ़ा देगा।"

"महत्व मैं उनका बढ़ाऊंगा या वह मेरा? मैं जानता हूँ, एक दिन वह व्यक्ति भारत का प्रधानमंत्री बनेगा।" माउण्टबेटन ने तपाक से जवाब दिया था।

कितनी सच निकली थी वह भविष्यवाणी! भारत की अन्तरिम सरकार के प्रधान-मंत्री की हैसियत से ही जवाहरलाल नेहरू ने लॉर्ड माउण्टबेटन के निजी कक्ष में प्रवेश किया था।

उस दिन, जवाहरलाल नेहरू और नये वायसराय के बीच जो संवाद शुरू होने वाला था, वह बहुत महत्वपूर्ण होने के बावजूद उन अनेक संवादों में से सिर्फ एक था, जिनके पीछे जवाहरलाल नेहरू का अब तक का अधिकांश जीवन खप गया था—देश के विदेशी शासकों के सामने भारत की आत्मा उजागर करने वाल संवाद। इंग्लैण्ड में ही, जवाहरलाल का आना-जाना बहत ऊंचे घरानों में होने वाला था। बंकिंघम पैलेस के सोने के पात्रों में वह भोजन कर

चुके थे और अब ब्रिटिश जेलों की टिन-प्लेटों में खाने-पीने के अनुभव भी बार-बार ले रहे थे। कैम्ब्रिज में उनके सहपाठियों की मण्डली इतनी ऊंची थी कि उनमें से आज कोई प्रधानमंत्री बना था, कोई वायसराय, कोई महामना सम्राट के पद तक पहुंचा था, तो कोई ..... जेल अधिकारी बना था।

कश्मीरी ब्राह्मणों के एक अत्यन्त उच्च परिवार में पैदा हुए जवाहरलाल नेहरू को सोलह वर्ष की उम्र में ही इंग्लैण्ड भेज दिया गया था, ताकि आगे की पढ़ाई-लिखाई वहीं हो सके। वहां वह सात वर्ष रहे। संस्कार, सुन्दरता और मृदुता के कारण जहां भी वह गए, उन्हें श्रेष्ठतम मित्र-मण्डली प्राप्त हुई। गुणग्राह्यी वह थे ही। उन सातों वर्षों में उन्होंने इंग्लैण्ड का इतना कुछ ग्रहण कर लिया कि जब वह भारत लौटे, तो यहां उनके रिश्तेदारों और दोस्तों ने देखा कि वह पूरी तरह अभारतीय हो चुके हैं।

किन्तु अभारतीयकरण के लाभ की सीमाएं भारत में बहुत जल्दी आ जाती हैं, यह बात जवाहरलाल नेहरू के सामने तेजी से प्रकट होने लगी। हैरो और कैम्ब्रिज की पढ़ाई-लिखाई के बावजूद आम अंग्रेज की नजर में वह एक आम हिन्दुस्तानी ही साबित हुए—उन्होंने जब एक स्थानीय ब्रिटिश क्लब की सदस्यता पाने के लिए जोर लगाया, तो खट से मनाही हो गई।

इस मनाही ने जवाहरलाल को स्तब्ध कर दिया। वर्षों तक यह स्तब्धता उनका पीछा करती रही और इसी कारण क्रमश: उन्होंने अपने जीवन की मंजिल पहचानी—भारतीय आजादी। इस मंजिल तक पहुंचने के लिए उन्होंने सचमुच अपना जीवन दांव पर लगा दिया।

वह कांग्रेस पार्टी में शामिल हुए। अपनी प्रतिभा के जोर पर वह अंग्रेजों द्वारा स्थापित श्रेष्ठतम राजनीति-प्रशिक्षण केन्द्रों में बड़ी आसानी से प्रवेश पाते गए—ब्रिटिश जेल! बड़ी ललक के साथ उन्होंने इन केन्द्रों में जीवन के नौ वर्ष व्यतीत किए। आगामी भारत के कर्णधार इन केन्द्रों में समाए नहीं समा रहे थे। उनके साथ मिल-बैठकर, अथवा आवश्यक होने पर, अपनी कोठरी के एकान्त का सेवन करके जवाहरलाल नेहरू ने मन ही मन वह साँचा तैयार कर लिया, जिसमें वह नये भारत को ढालना चाहते थे।

नये भारत के दो आधार स्तम्भ जवाहरलाल ने सोच रखे थे—इंग्लैण्ड का संसदीय लोकतंत्र और कार्ल-मार्क्स का आर्थिक समाजवाद। भारत पर केवल पूँजी-वाद का ही नहीं, गरीबी और अंध-विश्वासों का भी जो भार था, उसे उतारने के लिए जवाहरलाल नेहरू की रगें फड़क रही थीं। इसका जो उपाय उन्होंने मन ही मन तय किया था, वह था—औद्योगिक क्रान्ति, जो देश के विदेशी शासकों ने अजन्मी रहने दी थी।

जवाहरलाल नेहरू ने खादी पहनने को पहन तो ली थी, लेकिन अपनी सफेद टोपी के नीचे वह चुपचाप "इंगलिश जैण्टिलमैन" बने हुए थे। इस रहस्य को समझना आज भी मुश्किल है कि भारत जैसे नितान्त धार्मिक देश ने जवाहरलाल जैसे नितान्त अधार्मिक व्यक्ति

के हाथों में अपनी बागडोर सौंप कैसे दी। रहस्य और अन्धविश्वासों के देश भारत में जवाहरलाल एक अत्यन्त तर्क-प्रिय व्यक्ति थे। कैम्ब्रिज में उन्होंने विज्ञान की संभावनाएं टटोली थी। वह कभी इस बात को पचा नहीं सके कि भारत की लगभग शत-प्रतिशत जनता अपना हर कदम शगुन-अशगुन का विचार करके ही उठाती है और जन्म से मृत्यु तक बल्कि मृत्यु के बाद भी, लोक-परलोक के चक्कर में फंस कर अपने वर्तमान को नरक बना डालती है।

दुनिया के सर्वाधिक धार्मिक क्षेत्र भारत में जवाहरलाल ने एक नहीं, अनेक बार सरे आम कहा कि मैं आस्तिक नहीं हूँ और 'धर्म' का नाम सुनते ही मुझे एक वीभत्स सी अनुभूति होती है। मेरे अनुसार, भारत के साधु-सन्तों ने देश की प्रगति में कोई सहायता नहीं की, बल्कि, रोड़े ही अटकाए हैं। भारतीयों के बीच फूट, छूआ-छूत और ऊंच-नीच को बढ़ावा देकर उन्होंने, वास्तव में विदेशियों को ही इस देश में अपने शासन की जड़ें जमाने में सहायता दी है।

इसके बावजूद—

इतने अधार्मिक और साफगो आदमी को भारत ने न केवल स्वीकार किया, अपना ज्यादा-से-ज्यादा स्नेह भी दिया। तीस वर्षों तक जवाहरलाल ने भारत के कोने-कोने की यात्राएं की थीं—आजादी की खोज में।

और अब आजादी मिल गई, तो भारत के कोने-कोने में जनता ने यात्राएं कीं—उस अधार्मिक नेता के दर्शन करने और उसके दो शब्द सुन लेने के लिए। आजाद भारत में जब भी और जहां भी जवाहरलाल का भाषण हुआ, लोग पैदल चल कर आए, बैलगाड़ियों और ऊंटगाड़ियों में बैठकर आए, बसों में ठूंस कर और ट्रेनों से लटक कर आए। उस भीड़ में न जाने कितने लोग ऐसे होते, जिन्हें इतनी तक समझ नहीं थी कि हमारा यह नेता कह क्या रहा है, कैसा सपना रख रहा है हमारे सामने?

इसके बावजूद वे आते थे, समुद्र की तरह उमड़ पड़ते थे। उनके लिए इतना ही पर्याप्त था कि वे जवाहरलाल की सभा में जा रहे हैं। लाखों की भीड़ में खोया एक आम हिन्दुस्तानी केवल इतना देख पाता था कि दूर, बहुत दूर, मंच पर, उधर वह जो छरहरासा आदमी खड़ा है, वह हमारा जवाहरलाल है। न जाने क्या कह रहा है, लेकिन कहने वाला जवाहरलाल है। उस पक्के नास्तिक के दर्शन करने के लिए लोग घोर आस्तिक तरीके से एकत्र होते थे। महात्मा गांधी की भी उपलब्धि ऐसी नहीं थी।

जवाहरलाल नेहरू एक श्रेष्ठ वक्ता और लेखक थे। शब्दों की उनके लिए वही कीमत थी, जो जौहरी के लिए हीरों की होती है। जवाहर के जवाहर को महात्मा गांधी ने बहुत पहले से पहचान रखा था। महात्मा के राजनीतिक प्रशिक्षण से जवाहर लाल तेजी से आगे बढ़ते गए। तीन-तीन कांग्रेस अधिवेशनों की अध्यक्षता उन्होंने की। गांधी जी ने धड़ल्ले से कह रखा था कि वह जवाहरलाल ही है, जिसके कन्धों पर मैं देश का भार रखना चाहता हूं।

नेहरू की नजर में गांधी जी एक पक्के जीनियस थे। इतने सम्मान के बावजूद, गांधी जी के प्राय: सभी महान् अभियानों के साथ जवाहरलाल नेहरू की सहमति नहीं थी—नागरिक अवज्ञा, डांडी-कूच, भारत छोड़ो आन्दोलन.....

असहमति के बावजूद, जवाहरलाल के दिल के न जाने किस कोने से आवाज उठती थी कि वही करो, जो महात्मा जी कहते हैं। जैसा कि जवाहरलाल ने बाद में स्वीकार किया, महात्मा जी सही निकले।

महात्मा गांधी को जवाहरलाल नेहरू का गुरु कहना अनुचित न होगा। जवाहरलाल का ''अभारतीयकरण'' दूर करने का काम उन्हीं ने किया। उन्हीं के आग्रह के कारण जवाहर ने भारत के देहात से साक्षात्कार किया और मिट्टी की सोंधी गन्ध पहली बार सूंघी। गांधी और नेहरू जब भी साथ-साथ कहीं जाते नेहरू प्रतिदिन आधा घण्टा बापू के चरणों पर बैठ कर जरूर बिताते। बातें करते, या केवल सुनते, सोचते, समझते, देखते। नेहरू जैसे नास्तिक के जीवन में आस्तिकता और श्रद्धा के क्षण यदि कभी आए, तो इन्हीं अवसरों पर आए।

फिर भी; उन दोनों के बीच कितनी सारी बातें उत्तर-दक्षिण थीं। गुस्सैल स्वभाव के कारण जवाहरलाल अहिंसा धर्म के आदर्श सिपाही नहीं बन सकते थे। धर्म और ईश्वर से उन्हें चिढ़ थी। विज्ञान और उद्योगों के विकास में वह देश का विकास देखते थे। ठीक विपरीत, महात्मा गांधी धीर-गम्भीर स्वभाव के व्यक्ति थे—अहिंसा के सर्वश्रेष्ठ सिपाही। धर्म और ईश्वर पर गहन आस्था रख कर ही वह अपना अस्तित्व टिकाए हुए थे। वह मानकर चलते थे कि विज्ञान और औद्योगीकरण ने मानवीय गुणों का हनन किया है।

फिर भी गांधी और नेहरू के बीच जो पिता-पुत्र जैसा स्नेह था, वह दिनों दिन बढ़ता गया।

गांधी जी को जवाहरलाल नेहरू इस सीमा तक सर्वेसर्वा मानते थे कि पिता-पुत्र जैसे उनके स्नेह सम्बन्ध के बीच क्रमश: परिवर्तन आना कब शुरू हुआ, जवाहरलाल को शायद पता भी न चला हो.....

पुत्र अब पिता का साया छोड़कर आगे निकलने की सोच रहा था। अपने सामने पुत्र एक ऐसा दरवाजा देख रहा था, जिसे पार करते ही कोई नई दुनिया चमचमा उठने वाली हो। नई दुनिया में पुत्र को किसी नये ढंग से गुरु की आवश्यकता होगी, या शायद उसे बिना गुरु के ही काम चलाना पड़े...... जो भी हो, इतना निश्चित था कि जवाहरलाल की मानसिकता में स्पष्ट परिवर्तन आना शुरु हो गया था। उस परिवर्तन का अहसास जवाहरलाल को था या नहीं, यह एक अलग प्रश्न है।

लॉर्ड माउण्टबेटन और जवाहरलाल नेहरू की पहली मुलाकात से लेकर उस दिन के बीच हालात बहुत बदल चुके थे। फिर भी उन दोनों में आपसी सहानुभूति का जो नाता चुपके-चुपके चला आ रहा था, वह इस नई मुलाकात में जल्द ही जाहिर हो गया।

जवाहरलाल नेहरू दार्शनिकों की तरह, अमूर्त विचारों में खो सकते थे। माउण्टबेटन की व्यावहारिक तीव्रता, जो उनके सैनिक गुणों में से एक थी, जवाहरलाल को पसन्द आ गई।

लॉर्ड माउण्टबेटन को जवाहरलाल की सांस्कारिता और मृदुता तुरन्त भा गई। ''जवाहरलाल अन्तर्राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं का व्यक्ति है।'' नये वायसराय ने सोचा, आजादी के बाद भी इंग्लैण्ड और भारत के बीच एक अन्तर्राष्ट्रीय संवाद कायम रखना चाहिए। यह विचार जवाहरलाल के मन में बिठाया जा सकता है। शायद जवाहरलाल ऐसा एकमात्र भारतीय नेता है, जो मेरी इस हार्दिक इच्छा के साथ सहमत होगा कि भारत को, आजाद होने के बाद, 'कॉमनवेल्थ' की सदस्यता ग्रहण करनी चाहिए।

दोनों नेताओं को दो प्रमुख निष्कर्षों तक पहुंचने में देर न लगी। देश को रक्त-स्नान से बचाने के लिए अत्यधिक तीव्रता से राजनीतिक निर्णय करने होंगे; और ..... भारत का विभाजन करना दु:खद रहेगा।

फिर, नेहरू के साथ उस नेता के कार्यों और विचारों की बात छिड़ गई, जो नये वायसराय से चर्चा करने के लिए आने वाला अगला भारतीय होगा—प्रायश्चित में डूबा वह बूढ़ा, जो नोआखाली और बिहार की आग बुझाता भटक रहा था......

''ठीक है, वह भटक रहे हैं।'' जवाहरलाल नेहरू कहे बिना न रह सके, ''लेकिन क्या इसी तरह किसी बीमारी का सही उपचार किया जाता है ? एक घाव से दूसरे घाव तक पहुँच कर महात्माजी मरहम लगा तो रहे हैं, लेकिन क्या यह मात्र ऊपरी उपचार नहीं ? समस्या तब हल होगी, जब हर घाव का अलग उपचार करने की अपेक्षा पूरे शरीर के सम्पूर्ण स्वास्थ्य का उपचार किया जाए। हमें समस्या की जड़ तक पहुंचने का कोई वैज्ञानिक तरीका सोचना चाहिए। महात्माजी अपनी भावुकता में मात्र फुनगियों का उपचार कर रहे हैं।''

भारत को परतंत्रता के बन्धनों से मुक्त करने वाला महात्मा और उसके निकटतम सहयोगियों के बीच जो वैचारिक मतभेद था, उसकी झलक नेहरू के उन शब्दों से माउण्टबेटन को मिल गई। माउण्टबेटन के मस्तिष्क के चक्र घूमने लगे...... नई दिल्ली में किसी व्यक्ति को क्या और कैसे समझाना चाहिए, नये वायसराय के सामने स्पष्ट होने लगा।

वायसराय का पहला प्रयास यही होगा कि भारत के नेता एकता का परिचय दें और देश के टुकड़े होने से बचाएं, लेकिन यदि वे एक नहीं हो पाते हैं, तो उन्हें सदैव के लिए छोड़ कर अंग्रेज इस देश से पलायन नहीं कर सकते। ऐसी सूरत में, वायसराय का धर्म होगा कि वह देश के टुकड़े जरूर कर दे, ताकि हिन्दुओं और मुसलमानों के झगड़े अनन्त काल तक जारी न रहें। जन्म से मृत्यु तक एक दूसरे के सिर तोड़ने से अच्छा होगा अलग हो जाना और जिन्दगी को अपने-अपने ढंग से जीना!

यदि देश के विभाजन का फैसला करना पड़ गया, तो इसमें सबसे बड़ी बाधा बनेंगे महात्मा गांधी। उनकी शक्ति को नाथने का सिर्फ एक तरीका होगा—कांग्रेस के नेताओं का

उनके साथ तीव्र मतभेद कर दिया जाए। यदि इस सीमा तक जाना ही पड़ गया, तो जवाहरलाल नेहरू से अमूल्य सहायता मिलने की पूरी सम्भावना है।

लॉर्ड माउण्टबेटन को जवाहर लाल 'अपने आदमी' जैसे महसूस हो रहे थे। कांग्रेस पार्टी में कम से कम एक आदमी तो अपना होना ही चाहिए। जवाहरलाल का व्यक्तित्व अवश्य ऐसा है कि उन्हें महात्मा के विरुद्ध खड़ा किया जा सके।

'वशीकरण अभियान' का जादू सर्वाधिक यदि किसी पर चल सकता है, तो जवाहरलाल नेहरू पर। लॉर्ड माउण्टबेटन ने उस कश्मीरी ब्राह्मण को वश में करने के लिए अपनी अधिकतम क्षमताओं को काम पर लगा दिया। उन दोनों की दोस्ती, उस झुकती दोपहर, एक नया मोड़ ले रही थी।

फिर एक बार—

चर्चिल का 'अधनंगा फकीर' वायसराय के आमने-सामने बैठा था, महामना सम्राट के प्रतिनिधि से, बराबरी के धरातल पर, शर्तें तय करने!

फकीर और वायसराय की जोड़ी अजब लग रही थी। एक था पक्का नौसैनिक, जो अपनी शानदार पोशाक पर नन्हा सा भी एक दाग गवारा नहीं कर सकता था। दूसरा था एक बुजुर्ग हिन्दुस्तानी, जो खादी की धोती और शॉल के अलावा तीसरी किसी भी पोशाक को फालतू समझता था। माउण्टबेटन : सुन्दर, कसरती बदन का स्वामी। गांधी : इतने संक्षिप्त और बदसूरत बदन का व्यक्ति कि उस बड़ी-सी, सुन्दर कुर्सी में वह गुम हुआ जा रहा था। एक वह, जो व्यवसाय से हिंसा का पुजारी था। दूसरा वह, जो धर्म से अहिंसा का भक्त था। एक वह, जिसे अपने रौब-रुतबे के प्रदर्शन का खासा शौक हो। दूसरा वह, जिसने खुद अपनी इच्छा से अति की सीमा की गरीबी स्वीकार की हो। एक वह, जिसे अपने साथियों से बात करने के लिए नवीनतम इलेक्ट्रॉनिक साधनों की जरूरत पड़ती हो। दूसरा वह, जो विज्ञान के तकनीकी जंजाल में न फंस कर भी अपने देश के हर वाशिन्दे से इतनी खूबी के साथ बात कर सकता हो, जितनी खूबी उस शताब्दी के बहुत कम व्यक्तियों में दिखाई दे सकी हो।

न केवल ये, बल्कि दूसरे भी कई नुक्ते ऐसे थे, जिन पर से तुरन्त झलक आता था कि ये दो व्यक्ति जिन्दगी में कभी किसी बात पर सहमत नहीं हो पाएंगे।

तो भी, कुछ महीनों बाद, शान्तिप्रिय गांधी युद्ध के उस खिलाड़ी के बारे में यह कहने वाले थे, "जीवन का कोई-न-कोई मूल्य ऐसा अवश्य है, जो उनके मन में बैठा है और मेरे मन में भी।" लॉर्ड माउण्टबेटन भी महात्मा गांधी पर ऐसे विमोहित हो जाने वाले थे कि उनकी हत्या की खबर पा कर कह उठते, "इतिहास बताएगा कि एक दिन महात्मा गांधी की जगह वही होगी, जो ईसा या बुद्ध को मिली।"

उस महापुरुष के साथ पहली मुलाकात को महत्वपूर्ण एवं अंतरंग बनाने के लिए, लॉर्ड माउण्टबेटन ने, अपनी पत्नी को भी मौजूद रहने के लिए कहा था।

अब, जब हड्डियों का वह प्रसिद्ध ढांचा आमने-सामने आ बैठा था, तो लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन को सहसा चिन्ता होने लगी। उन्हें साफ-साफ अहसास मिल रहा था कि जरूर कोई ऐसी बात है जो महात्मा के दिल को खाए जा रही है। क्या उन से कोई भूल हो गई? मुंह से कोई गलत बात निकल गई?

माउण्टबेटन ने आशंकित नजरों से अपनी पत्नी की ओर देखा! 'आह!' उन्होंने सोचा, ''बातचीत की शुरुआत ही कितने गलत ढंग से हो रही है।''

अधिकतम नम्रता से उन्होंने गांधी जी से पूछा कि आज आप इतने परेशान से क्यों हैं।

धीमे, दर्दभरे नि:श्वास के साथ उस भारतीय नेता ने कहा, ''दक्षिण अफ्रीका में जब से मैंने नया जीवन शुरू किया, तब से आज तक हमेशा यही कोशिश की है कि .... भौतिक चीजों का स्वामी न बनूं। मेरे पास है ही क्या? गीता है। कुछेक और किताबें हैं। टिन के टूटे-फूटे एक-दो बर्तन हैं, जिन्हें मैं यरवदा जेल से वहां के दिनों की याद में ले आया हूं। तीन गुरु है। एक पुरानी घड़ी है, मुश्किल से आठ शिलिंग की। उसे हमेशा कमर से बांधे रखता हूं। एक-एक क्षण भगवान का दिया है। घड़ी तो हमेशा पास होनी ही चाहिए, ताकि पता चलता रहे कि भगवान का दिया कौन-सा क्षण कब बीत गया.........

लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन उस महात्मा के कांपते स्वर को सुनते रहे।

''जानते हैं, आज क्या हुआ?'' महात्मा ने कहा, 'मेरी घड़ी चोरी चली गई। आपसे मिलने के लिए मैं बिहार से रवाना हुआ। तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठा। भीड़ बहुत थी। उसमें कब किसने घड़ी चुरा ली, पता न चला।'

उस बड़ी-सी कुर्सी में गुम हुए जा रहे हड्डियों के ढांचे ने जब यह कहा, तो उस की आंखें नम होकर चमकने लगीं।

लॉर्ड माउण्टबेटन का भी दिल दहल गया। क्षण मात्र में वह समझ गए कि गांधी जी का दु:ख यह नहीं है कि घड़ी की चोरी हो गई। उनका दु:ख तो यह है कि लोगों ने अब तक उनकी बातों को समझा नहीं। भीड़ भरे डिब्बे में, किसी नादान अजनबी ने, घड़ी क्या चुराई थी, उनके सिद्धान्तों और विश्वास का ही एक हिस्सा चुरा लिया था।

लगभग छह मास बाद, सितम्बर, 1947 में, जब गांधी नई दिल्ली के बिड़ला हाउस में ठहरे हुए थे, झुकती दोपहरी को एक आदमी आया और कहने लगा कि मुझे महात्मा जी से मिलना है। उसने अपना नाम बताने से इन्कार किया। गांधी जी के सचिव को वह यह भी नहीं बताना चाहता था कि मुलाकात वह क्यों करना चाहता है।

आखिर उसने स्वीकार किया कि गांधी जी की घड़ी उसी ने चुराई थी। घड़ी वापस करने आया था वह और चाहता था कि गांधी जी उसे क्षमा कर दें।

"क्षमा कर दें?" सचिव ने तपाक से कहा, 'अरे, वह तो तुम्हें गले से लगा लेंगे।'

सचिव उस आदमी को तुरन्त गांधी जी के पास ले गया। आदमी गांधी जी के चरण छूता हुआ बैठ गया। सचिव सुन न पाया कि उसने गांधी जी से क्या कहा। गांधी जी ने अचानक उसे बांहों में भर लिया। गांधी जी ऐसे हंसते जा रहे थे, जैसे किसी बच्चे को उसका खोया हुआ कोई प्यारा खिलौना अचानक वापस मिल गया हो। उन्होंने अनुयायियों को बुला-बुला कर उस आदमी से मिलवाया।

लेकिन, उस दिन, वायसराय के सामने बैठे गांधी जी को पूर्वाभास नहीं हो सकता था कि उनकी घड़ी थोड़े महीनों में वापस मिलने वाली है। लम्बी खामोशी के बाद गांधी जी ने वार्ता शुरू की। माउण्टबेटन ने गम्भीर मुद्दों पर सीधे आने की अपेक्षा, सामान्य चर्चा से शुरू करना ज्यादा पसन्द किया। दक्षिण अफ्रीका में सत्य, अहिंसा के जो प्रयोग गांधी जी ने किए थे, उनके बारे में उन्होंने कौतूहल दर्शाया। ट्रिक काम कर गई। गांधी जी एकाएक खुल गए। बोलते गए, बोलते गए।

यह सामान्य चर्चा दो घण्टों तक जारी रही। फिर, वायसराय और वायसरीन के साथ मुगल गार्डन्स में जा कर गांधी जी ने फोटो खिंचवाए।

वायसराय के निजी कमरे में वापस लौटने पर, अब जो चर्चा शुरू हुई, वह गम्भीर मुद्दों पर थीं। माउण्टबेटन लगातार सावधान रहे कि चर्चा बोझिल न हो जाए।

टेरेस में जलपान की तैयारियां पूरी हो चुकी थीं।

"आइए, चाय पिएं।" और माउण्टबेटन गांधी जी को टेरेस में ले आए।

नौकरों की पूरी टुकड़ी ने माउण्टबेटन के सामने, वायसराय की छाप लगी हुई शानदार क्राकरी में, चाय-नाश्ता रखा। मनु ने, जो गांधी जी के साथ आई थी, मेज पर वे सादा चीजें रखना शुरू किया, जिन्हें वह उस महात्मा के लिए लेती आई थी—खजूर, नींबू का रस, बकरी के दूध से बना दही।

गांधी जी ने इन चीजों को एक ऐसे चम्मच से खाना शुरू किया, जिसका हैण्डिल टूट चुका था। हैण्डिल की जगह बांस का एक टुकड़ा बंधा हुआ था। प्लेटें टिन की थीं, और वे भी खस्ता हाल। उन टिन प्लेटों को भी उसी तरह 'इंग्लिश माल' कहा जा सकता था, जिस तरह स्वयं वायसराय की कीमती क्राकरी को, क्योंकि वे एक ब्रिटिश जेल का ही माल थीं—यरवदा जेल।

मुस्कराते हुए गांधी जी ने बकरी के दूध से बना दही माउण्टबेटन की ओर बढ़ा दिया, "चखिए। शुद्ध है। पौष्टिक।

माउण्टबेटन हिचक गए। उस पीली-सी, जमी हुई चीज को उन्होंने अनिच्छा से देखा और बुदबुदाकर कहा, "लेकिन....मैंने यह चीज पहले कभी खाई नहीं है.......... इसलिए ..... "

मगर गांधी जी यों आसानी से पिंड छोड़ने वाले नहीं थे, ''लीजिए, लीजिए ..... आखिर हर चीज, कभी-न-कभी तो, पहली बार खायी ही जाती है।''

माउण्टबेटन ने, फर्ज अदा करने के लिए, पूरा एक चम्मच स्वीकार किया। स्वाद उन्हें 'अजीब-सा' और 'भयंकर' लगा।

इस प्रकार के 'घरेलू आदान-प्रदान' को यहां समाप्त करके लॉर्ड माउण्टबेटन ने उस कार्य का शुभारम्भ किया, जिसने उनसे पहले के अनेक वायसरायों के धैर्य और सौजन्य की कठोरतम परीक्षा ली थी—गांधी जी के साथ राजनीतिक बहस और सौदेबाजी।

अंग्रेजों की पटरी महात्मा के साथ बैठती नहीं थी। सत्य का पुजारी वह व्यक्ति उन्हें बार-बार झूठा महसूस होता था। दरअसल गांधी जी के सत्य के दो पहलू थे। एक 'परम' दूसरा 'सापेक्ष'। उनका कहना था कि मनुष्य जिसके संवेदों की सीमा बड़ी जल्दी आ जाती है, 'परम सत्य' की केवल उड़ती झांकी ही देख सकता है। मनुष्य को अपने दैनिक जीवन में जिस सत्य से आमना-सामना करना पड़ता है, वह 'सापेक्ष है।'

लेकिन यह 'सापेक्ष सत्य' क्या है।

महात्मा जी इसका एक दृष्टांत दिया करते। बर्फ जैसे ठंडे पानी में हाथ डुबाइये। फिर, उसी हाथ को कुनकुने पानी में डालिए। कुनकुना पानी काफी गर्म महसूस होगा।

अब, दूसरे हाथ को गर्म पानी में डुबाइये। फिर उसे उसी कुनकुने पानी में डालिए। कुनकुना पानी काफी ठंडा लगेगा।

कुनकुने पानी का तापमान, दोनों बार एक जैसा था। यह परम 'सत्य' है। समान तापमान पर होने के बावजूद, कुनकुना पानी एक हाथ पर गर्म महसूस हुआ और दूसरे हाथ पर ठंडा। यही है 'सापेक्ष सत्य'।

जैसा कि इस दृष्टांत से प्रकट है, गांधी जी का सापेक्ष सत्य कोई अपरिवर्तनशील चीज नहीं था। परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ उनके सापेक्ष सत्य में भी परिवर्तन आ जाता। फलस्वरूप, जो गांधी जी उनके अनुयायियों को उदार और व्यावहारिक मालूम पड़ते थे, वहीं गांधी जी अंग्रेजों को चालाक, झूठे और बेईमान लगते।

नये वायसराय को भली-भांति बताया जा चुका था कि बुढ़ऊ का स्वभाव कैसा है। माउण्टबेटन जानते थे कि मोहनदास करमचन्द गांधी से किसी भी प्रकार की सहायता पाने की आशा उन्हें नहीं रखनी चाहिए, लेकिन साथ-साथ वह यह भी जानते थे कि गांधी जी सहायता दें चाहे न दें, वायसराय के तमाम कार्यक्रमों को वह धूल में अवश्य मिला सकते थे।

एक नहीं, अनेक अंग्रेज शासकों को महात्मा के अविश्वसनीय व्यक्तित्व का शिकार होना पड़ा था। क्रिप्स को खाली हाथ लन्दन वापस क्यों जाना पड़ा? भारत की गुत्थी सुलझाने की वैवेल की हर कोशिश नाकामयाब क्यों रहीं?

अभी; कल-परसों ही, प्रार्थना-सभा में गांधी जी ने कहा था, "जब तक मैं जिन्दा हूं। भारत का विभाजन नहीं होने दूंगा।"

विभाजन की इच्छा वायसराय की भी नहीं, लेकिन अगर मजबूरी में वैसा निर्णय करना ही पड़ा, तो? महात्मा की जिद के कारण कहीं सारा गुड़ गोबर न हो जाए......

ऐसी सूरत में, माउण्टबेटन को अपनी इच्छा गांधी जी पर लादनी होगी। इस से महात्मा के शरीर पर नहीं, दिल पर चोट पहुंचेगी।

उस वार्ता में भी गांधी जी बार-बार यही कह रहे थे, "भारत को तोड़िएगा नहीं। काटिएगा नहीं। खून की नदियां यदि बहती हैं, तो बहें।"

माउण्टबेटन ने उन्हें विश्वास दिलाया कि अंग्रेजों के मन में, विभाजन करने की कोई जिद, पहले से बैठी हुई नहीं है। इस के बावजूद, इस प्रश्न पर सोच-विचार तो करना ही होगा कि विभाजन के अलावा अन्य कौन-कौन से उपाय आजमाए जा सकते हैं। क्या आप के पास कोई उपाय है?

हां।

गांधी जी के पास था एक उपाय।

विभाजन को रोकने के लिए वह इस सीमा तक आतुर थे कि उन्होंने वही सोच रखा था, जो कभी राजा सोलोमन ने सोचा था। बच्चे को काट कर आधा-आधा न बांटो। पूरा बच्चा ही मुसलमानों को दे दो।

जिन्ना अपनी मुस्लिम लीग के साथ सामने आएं, सरकार बनाएं, देश के तीस करोड़ हिन्दुओं पर राज्य करें। भारत का मात्र एक टुकड़ा जिन्ना को क्यों दिया जाए? क्यों न पूरा भारत ही दे दिया जाए?

माउण्टबेटन चकित हो कर देखते रह गए महात्मा की ओर। सुझाव अजब था। ऐसी बातें मात्र बच्चों की कहानियों में सम्भव हो सकती हैं। दूसरी ओर; गांधी जी के अनेकानेक विचार ऐसे रहे थे, जो बच्चों की कहानियों में से सीधे-सीधे उठाए हुए लगे थे—लेकिन हर विचार क्लिक हुआ था।

"आप का प्रस्ताव इतना अजब है कि .... क्या कांग्रेस पार्टी इसे स्वीकार कर सकेगी?" माउण्टबेटन ने पूछा।

गांधी जी का उत्तर था, "कांग्रेस की केवल एक इच्छा है—विभाजन न हो—चाहे इस के लिए कुछ भी करना पड़े।"

"इस प्रस्ताव पर जिन्ना क्या सोचेंगे?"

"यदि उन्हें पता चल गया कि प्रस्ताव गांधी ने रखा है, तो वह निश्चित रूप से यही कहेंगे, "हद है गांधी की मक्कारी की!" और महात्मा जी खुल कर हंस पड़े।"

किन्तु यह प्रस्ताव माउण्टबेटन को बेहद हवाई लग रहा था। इसके साथ वह अपनी सहमति नहीं जोड़ सकते थे। दूसरी ओर, किसी भी प्रस्ताव को वह ताबड़तोड़ खारिज भी नहीं कर सकते थे, जिस में से भारत को बांधे रखने की कोई तरकीब निकलने की संभावना हो।

वह बोले, ''यदि आप इस प्रस्ताव पर कांग्रेस की औपचारिक स्वीकृति ला कर दे सकें, तो .... मैं भी विचार करने को राजी हूं।''

गांधी जी उछल पड़े, ''सच?''

''हां।''

''यदि जरूरत पड़ी, तो मैं भारत के कोने-काने में जाकर एक-एक आदमी से बात करूंगा, एक-एक की स्वीकृति ला कर आपको दूंगा।''

कुछ घण्टों बाद, जब महात्मा जी अपनी शाम की प्रार्थना-सभा में जा रहे थे, तो एक पत्रकार ने जिज्ञासा की कि आज आप इस कदर खुश क्यों हैं? महात्मा जी ने हंस कर धीमे स्वर में, तपाक से कहा, ''क्योंकि शायद मैंने ऊंट किसी ओर करवट बिठा दिया है।''

'कमाल है!' यह आदमी तो मुझ पर हावी होना चाहता है। लार्ड माउण्टबेटन ने आश्चर्य और विश्वास से सोचा। हिमालय जैसा अटल वह व्यक्ति ज्यों ही सामने की कुर्सी पर आ कर बैठा था, त्यों ही 'वशीकरण अभियान' एकदम रुक गया था।

उस व्यक्ति ने खदी की धोती का एक छोर घुमाकर कन्धे पर डाल रखा था। उसका गंजा सिर चमक रहा था। होंठों पर ऐसी मुस्कान, मानों वायसरराय को वह भुंनगा समझता हो। व्यक्तित्व ऐसा कि वह भारतीय राजनीतिज्ञ कम और रोमन-सीनेटर ज्यादा लगता था।

वल्लभभाई पटेल की गणना भारत के 'खालिस' राजनीतिज्ञों में होती थी कांग्रेस पार्टी का संचालन वह अत्यन्त दृढ़ता और निर्दयता से किया करते। माउण्टबेटन को उन के साथ बात करने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए थी, क्योंकि दोनों के स्वभाव में बड़ी समानता थी। दोनों व्यावहारिक, न्यायकुशल, परिश्रमी, दूरदर्शी और अटल थे। इसके बावजूद, दोनों के बीच उस समय ज्यादा तनाव था, जिस की कोई सीमा नहीं। माउण्टबेटन को लगा कि हाथ बढ़ा कर वह उस तनाव को बाकायदा छू सकते हैं।

जो बड़ी-बड़ी समस्याएं भारत के सामने खड़ी थीं, उनके साथ उस तनाव का कोई सम्बन्ध नहीं था। बात कुल इतनी थी कि वल्लभभाई के गृह-मन्त्रालय से एक सरकारी स्मृति-पत्र वायसराय को भेजा गया था, जिसका सम्बन्ध किसी की नियुक्ति के साथ था। स्मृति-पत्र की भाषा कुछ ऐसी थी कि वायसराय को नागवार गुजरी।

रूखे व्यवहार और अक्खड़ भाषा के लिए पटेल कम बदनाम नहीं थे। उनकी आदत थी जब भी कोई नया प्रशासक सामने आता, वह किसी-न-किसी उपाय से उसकी जांच कर लिया करते कि इस आदमी को ज्यादा-से-ज्यादा कितना दबाया जा सकता है।

माउण्टबेटन ने भांप लिया था कि वह स्मृति-पत्र केवल स्मृति-पत्र नहीं, बल्कि एक जांच-पत्र भी है। उसकी भाषा जान-बूझकर ऐसी रखी गई है कि वायसराय को नागवार गुजरे। लॉर्ड माउण्टबेटन को समझते देर न लगी कि यदि उन्होंने वल्लभभाई की कठोर भाषा को उदारतावश सह लिया, तो इस आदमी की जुबान आगे और खुलती जाएगी।

वल्लभभाई किस सीमा तक कठोर और कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति थे, इसका एक सटीक उदाहरण है।

उन दिनों वह फौजदारी वकील थे और जज के सामने किसी खून के मामले में ज़िरह कर रहे थे। एकाएक उन्हें तार मिला कि उनकी पत्नी का देहान्त हो गया है। तार को उन्होंने उड़ती नजर से पढ़ा और मोड़ कर जेब में ऐसे रख लिया, जैसे कुछ हुआ ही न हो, जब तक जिरह खत्म न हो गई, वह बोलते रहे।

किन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि वल्लभभाई को भावनाएं छूती नहीं थीं। अन्दर से वह कम भावुक नहीं थे, लेकिन भावना के बड़े-से-बड़े तूफान को भी दबा कर रखना उन्हें आता था। उनका आत्म-नियन्त्रण इतना अद्‌भुत था कि उनके चेहरे से मन की बात कभी नहीं भांपी जा सकती थी।

वह बहुत कम बोलते थे, उन की बेटी, जो पत्नी की मृत्यु के बाद, निरन्तर उनके साथ रही, दिन भर में मुश्किल से दस वाक्यों का आदान-प्रदान उन से कर पाती थी।

लेकिन वल्लभभाई जब भी बोलते, उनके हर शब्द को लोग गौर से सुना करते।

इंग्लैण्ड से बैरिस्टरी पास करने के बाद उन्होंने अहमदाबाद में बड़ी जोरदार वकालत जमाई थी। अफ्रीका से लौटकर गांधी जी भी अहमदाबाद में जमे। गुजरात क्लब, अहमदाबाद में जब गांधी जी ने पहला भाषण दिया, तो वल्लभभाई ने इतना भी आवश्यक न समझा कि अपना ब्रिज का खेल एक मिनट को रोकें, और गांधी जी के ज्यादा नहीं तो केवल दो ही शब्दों को सुन लें।

बाद में किसी ने गांधी जी का भाषण, लिखित रूप में ला कर, उनके सामने रखा। उन्होंने पढ़ा। पढ़ते ही वह गांधी जी के हो गए। उनकी गांधी-भक्ति दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ती चली गई। आजादी की लड़ाई में जिन दो व्यक्तियों के नाम, गांधी जी के बाद, सबसे ऊपर आते थे, वे थे जवाहरलाल नेहरू और वल्लभभाई पटेल।

नेहरू के साथ पटेल ने अपना मतभेद कभी नहीं छिपाया। नेहरू की 'नये समाज की रचना' वाली बात में पटेल को पोलम्पोल नजर आती थी। नेहरू जी ने जब भी 'नई और शौर्यपूर्ण समाजवादी दुनिया' की चर्चा की, पटेल की प्रतिक्रिया हमेशा यह रही कि एक तोता, बिना कुछ जाने-बूझे, विदेशी वाक्यों को दोहरा रहा है।

पटेल का कहना था—

'पूंजीवादी समाज समर्थ और कार्यकुशल होता है। जरूरत कुल इतनी है कि पूंजीवादी सिद्धान्तों का भारतीयकरण किया जाए। तब वे सिद्धान्त भारत के लिए और भी उपयोगी हो जाएंगे। समाजवाद का आदर्श हमारे लिए अव्यवहारिक है। व्यावहारिक पूंजीवाद को अव्यावहारिक समाजवाद के लिए छोड़ देने में क्या तुक?'

वल्लभभाई के एक सहयोगी ने ठीक ही लिखा है—

'वल्लभभाई थे अहमदाबाद की उपज, जो एक औद्योगिक नगर है, पुतलीघरों, कारखानों और मशीनों से लदा शहर...... जबकि जवाहरलाल एक ऐसी जगह से आए, जहां फलों की खेती होती है और फूल उगाए जाते हैं।'

दुनिया की घटनाओं पर जरूरत से ज्यादा नजर रखने और अपने ही देश को दूसरे श्रेणी का महत्त्व देने के लिए पटेल ने जवाहरलाल नेहरू की हमेशा भर्त्सना की।

जिन्ना के साथ पटेल के सम्बन्ध अच्छे थे। जिन्ना की ही तरह पटेल का भी सही मूल्यांकन न हो सका, क्योंकि उन दिनों दुनिया की नजरें केवल गांधी और नेहरू पर टिकी हुई थीं।

वल्लभभाई पटेल के उस स्मृति-पत्र को, जिसकी भाषा व्यर्थ ही उतनी कड़ी थी, वायसराय ने उड़ती नजर ने देखा। फिर उसे पटेल की ओर सरकाते हुए कहा कि इसे वापस लीजिए।

पटेल ने साफ इंकार कर दिया।

माउण्टबेटन की गहरी नजरों ने उस भारतीय नेता के भीतर उतरने की कोशिश की। कांग्रेस का सहयोग यदि पाना है, तो इस नेता को वश में लाना ही होगा। दूसरी ओर, यह भी सही है कि यदि ऐन इस समय मुकाबला न हो सका, तो आगे यह नेता कभी कन्धे पर हाथ नहीं रखने देगा।

"ठीक है; मत लीजिए वापस।" माउण्टबेटन ने कहा, "जानते हैं, अब मैं क्या करूंगा? मैं फौरन अपना हवाई-जहाज बुलाने वाला हूँ।"

"हवाई-जहाज" पटेल ने पूछा 'क्यों?'

"क्योंकि मैं अपने देश को वापस जा रहा हूं।" माउण्टबेटन ने उत्तर दिया, "मैंने इस पद पर आना चाहा ही कब था? मुझे जबरन भेजा गया है। मैं आप जैसे ही किसी आदमी की तलाश में था, जिसकी जिद का बहाना बना कर मैं सब छोड़छाड़ दूं और इस जानलेवा जंजाल में से निकल भागूं।"

"क्या कहते हैं आप!" वल्लभभाई को आश्चर्य हुआ।

"बिल्कुल सच कह रहा हूँ।" माउण्टबेटन ने आगे चलाया, "क्या आप सोचते हैं, मैं इसी कुर्सी से चिपका रहूंगा, ताकि आप जैसों की ढिठाई का आनन्द ले सकूं ? आप मुझे

धकियाते रहें, सींग मारते रहें और मैं उजबक-सा बैठा रहूं? आप अपने इस 'ज्ञापन' को इसी समय वापस लीजिए, अन्यथा हम दो में से किसी एक को जरूर त्यागपत्र देना होगा। त्यागपत्र यदि मैंने दिया, तो याद रखिएगा, जाने से पहले मैं आपके प्रधानमंत्री नेहरू से, और मिस्टर जिन्ना से भी मिलूंगा और उन्हें बाकायदा बताऊंगा कि मैं क्यों जा रहा हूं। मेरे जाने के फ़लस्वरूप यदि हिन्दुस्तान में जातीय दंगे फूट पड़े, यदि खून की नदियाँ बह चलीं, तो ...... उसकी सारी जिम्मेदारी आपकी और केवल आपकी होगी।''

पटेल ने माउण्टबेटन की ओर अविश्वास से देखा।

''रहने भी दीजिए........'' पटेल ने कहना शुरू किया, ''वायसराय का पद इतना छोटा नहीं कि केवल एक महीने में आप त्यागपत्र........''

''मिस्टर पटेल!'' माउण्टबेटन ने बीच में ही टोक दिया, ''आप मुझे पहचानते नहीं हैं, इसीलिए ऐसा कह रहे हैं। अपने शब्दों को यहीं और इसी समय वापस लीजिए, अन्यथा मैं प्रधानमंत्री को इसी समय बुलाकर इस्तीफा थमाता हूँ।''

लम्बा सन्नाटा खिंच गया।

आखिर पटेल ने एक गहरी सांस ली और कहा, ''बड़ी मुश्किल है! न जाने क्यों, खटका-सा हो रहा है कि ...... कहीं सचमुच आप इस्तीफा न दे दें।''

''मैं केवल धमकी नहीं दे रहा, मिस्टर पटेल! आप आजमा सकते हैं।''

पटेल ने हाथ बढ़ाया। माउण्टबेटन की मेज से उन्होंने वह स्मृति-पत्र उठा लिया और धीमे-धीमे फाड़ना शुरू किया।

गांधी जी अछूतों की बस्ती में आ बसे थे। अछूत, जिन्हें उन्होंने बड़े लाड़ से 'हरिजन' नाम दिया था। दिल्ली की वह हरिजन बस्ती गर्मी और उमस से उबली पड़ रही थी। गांधी जी का एयर-कन्डीशन चालू था—गीला तौलिया, गंजे सिर पर पग्गड़ की तरह लपेटा हुआ।

कुछ महीनों बाद, या शायद कुछ हफ्तों बाद ही, महात्मा गांधी के आसपास के अधिकांश लोग सरकार के बड़े-बड़े कार्यालयों की दमदार कुर्सियों पर जा बैठे होंगे। आज जो पैदल भटक रहे हैं, वे ही कल विदेशी कारों में घूमेंगे। तब क्या उन्हें याद भी रहेगा कि इस देश में हरिजनों की समस्या कितनी बड़ी है?

इसीलिए गांधी जी हरिजनों की बस्ती में जा बसे थे; जैसा कि उन्होंने पहले भी अनेक बार किया था। आज के नेताओं और कल के शासकों को उनसे मिलने के लिए, मजबूरन, हरिजनों के बीच आना पड़ेगा। इससे उनकी आंखों के सामने भारत की सही तस्वीर अपने-आप आ जाएगी।

गांधी जी ने अपना 'एयर कन्डीशनर' चालू तो कर रखा था, लेकिन गर्मी आज केवल वातावरण में नहीं थी। उससे अनेक गुना गर्मी आज उन नेताओं में थी, जो गांधी जी को

घेर कर बैठे थे और एक ऐसी बहस कर रहे थे, जो उन सबके जीवन में अपनी तरह की पहली थी।

वे सब-के-सब आज गांधी जी के खिलाफ बोल रहे थे।

थोड़े दिन पहले, जब महात्मा गांधी ने लॉर्ड माउण्टबेटन को पूरे दम-खम के साथ विश्वास दिलाया था कि देश का विभाजन रोकने के लिए कांग्रेस पार्टी किसी भी सीमा तक समझौता करने को तैयार हो जाएगी, तब उनसे भूल हो गई थी।

वह पहचान नहीं सके थे कि उनके आस-पास के कार्यकर्ताओं में; ज्यों-ज्यों आजादी नजदीक आ रही है, त्यों-त्यों नई महत्त्वकांक्षाएँ बलवती हो रही हैं। चुपके-चुपके वे चाहने लगे हैं कि महात्माजी के साए से जरा अलग हटने का भी प्रयोग कर देखें। महात्माजी के प्रति उनका स्नेह सम्मान ज्यों-का-त्यों होते हुए भी, क्रमशः एक गुप्त खाई पैदा हो रही है........

चौथाई शताब्दी से वे नेता, गांधी जी के पीछे, आंखें मूंद कर चलते आ रहे थे। उन्होंने घरबार छोड़ा था, पुलिस की लाठियां सही थीं, कैद भुगती थी, गोलियां खाई थीं, महात्मा की कई योजनाओं पर उनका पूरा विश्वास नहीं जम पाया था, तो भी उन्होंने उन योजनाओं के लिये जान लड़ा दी थी। उन्होंने एक ऐसी मंजिल का पीछा किया था, जो मिल सकेगी या नहीं, यही एक बहुत बड़ा प्रश्न था। उसी असम्भव-सी मंजिल को उन्होंने अंग्रेजों से छीन लिया था—लगभग-और.......यह सब, महात्मा की अहिंसा के जोर पर।

एक नहीं, अनेक कारण थे; जिन से महात्मा गांधी के पीछे-पीछे चलते रहे थे; लेकिन सबसे बड़ा कारण था स्वार्थ। उन्हें एक ऐसे नेता की जरूरत थी, जिसकी आवाज को भारत के ज्यादा-से-ज्यादा आदमी सुनें। गांधी जी इस मामले में श्रेष्ठ थे। उन्हें साथ रखने से उन नेताओं की ताकत बढ़ती थी। इसी स्वार्थ के कारण उन्होंने महात्मा को साथ रखा। महात्मा के साथ मतभेदों को वे थोड़े दिनों के लिए भूल गए, क्योंकि भूलकर ही वे अपने उस स्वार्थ को साध सकते थे। उन सब का संघर्ष वही था, जो महात्मा का था—अंग्रेजों को हटाना और आजादी पाना।

अब, जब अंग्रेज हटने को तैयार थे और आजादी मिलने ही वाली थी, महात्मा के साथ उनके मतभेद सिर उठाने लगे थे। 'जिन्ना को प्रधानमंत्री बना दिया जाए।' गांधी जी की इस योजना पर वे गरमागरम बहस कर रहे थे।

'यदि आप लोग इस योजना पर अपनी सहमति नहीं देंगे, तो वायसराय को देश के टुकड़े करने पर मजबूर होना पड़ेगा।' गांधी जी का तर्क था, 'टुकड़े होते ही देश में भयानक अराजकता आएगी। खून की नदियां बहेंगी। नरसंहार होंगे। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो नफरत है, टुकड़े होते ही वह दबने की अपेक्षा एकदम फूट पड़ेगी।'

कातर स्वर में गांधी जी अपने साथियों से भीख मांग रहे थे कि उनकी योजना को वे स्वीकार कर लें। अच्छी या बुरी, जैसी भी योजना है, यह एकमात्र है। यदि भारत को एकत

की डोर में बांध कर रखना है, तो इसी योजना को स्वीकार करते हुए प्रधानमंत्री का पद जिन्ना को दे देना चाहिए।

किन्तु, नेहरू और पटेल के तर्कों के सामने महात्मा जी टिक नहीं पा रहे थे। नेहरू और पटेल दोनों ने कहा कि एकता के लिए भी त्याग एक सीमा तक किया जा सकता है—और प्रधानमंत्री का पद जिन्ना को देना उस सीमा का अतिक्रमण करना ही होगा। गांधी जी के इस दावे के साथ भी दोनों नेता सहमत नहीं थे कि यदि विभाजन किया गया, तो खून की नदियां बह चलेंगी। दरअसल, दोनों में से किसी ने नोआखाली और बिहार के उन क्षेत्रों का दौरा नहीं किया था, जहां जातीय दंगों के नंगे नाच हुए थे। केवल गांधी जी, जो उन क्षेत्रों में बाकायदा रह कर लौटे थे, जानते थे कि जातीय दंगे कहते किसे हैं।

इसीलिए उन का पक्का दावा था कि यदि विभाजन स्वीकार किया गया, तो लोगों की आंखों की शर्म मर जाएगी और वे पूरी बेशर्मी से खून-खराबा करेंगे।

नेहरू और पटेल की असहमति ने उनका दिल तोड़ दिया। वह जान गए कि अब उन्हें वायसराय के पास जाकर स्वीकार करना होगा, 'कांग्रेस पार्टी मेरा साथ निभाने को तैयार नहीं है।'

कांग्रेस के प्रमुख नेताओं के साथ गांधी जी की असहमति की वह केवल शुरुआत ही थी। उस दिन, किसी को अहसास नहीं था कि गांधी जी के अहिंसक आन्दोलनों का अन्त नजदीक है। वे आन्दोलन जहां से शुरू हुए थे, खत्म भी वहीं होंगे—महात्मा की आत्मा की शान्ति में।

अप्रेल की वह झुकती दोपहरी कम गर्म नहीं थी, किन्तु वायसराय के अध्ययनकक्ष में लगे एयर-कण्डीशनर की सेवाएं अचानक फालतू महसूस होने लगीं। एयर कंडीशनर यदि बन्द कर दिया जाता, तो भी कमरे की ठंडक में कोई कमी नहीं होने वाली थी—मुस्लिम लीग का जो नेता वायसराय के आमने-सामने बैठा हुआ था, उसके व्यक्तित्व में से उस सीमा तक ठंडक फूट रही थी! मोहम्मद अली जिन्ना ने जिस क्षण से कमरे में कदम रखे थे, उसी क्षण से लॉर्ड माउण्टबेटन ने पाया था कि वह व्यक्ति बेहद बिगड़ैल, ठंडी और निर्दय मनस्थिति में है।

प्रमुख भरतीय नेताओं के साथ मुलाकातों का सिलसिला जिन्ना पर खत्म होने जा रहा था। जिन्ना के स्वर का आक्रोश ऐसा था कि चौथाई शताब्दी बाद भी, माउण्टबेटन को याद रह जाए और उनके मुंह से सहसा ये शब्द निकल पड़े, "भारत में मुझे कितना असम्भव-सा कार्य सौंपा गया है, इसका सही अन्दाजा तब तक नहीं था, जब तक मोहम्मद अली जिन्ना से पहली मुलाकात न हुई।"

उनकी मुलाकात एक गलत मजाक से शुरू हुई थी—ऐसा मजाक, जिससे पता चलता है कि जिन्ना छोटी-छोटी बातों का भी हिसाब कितना पहले से लगा रखते थे। अगर

कोई हिसाब ऐन मौके पर बिगड़ने लगता, तो वह दयनीय ढंग से चारों खाने चित्त हो जाते। उस दिन उन्होंने पहले से हिसाब लगा रखा था कि लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन के साथ मेरे फोटो खींचे जाएंगे। लेडी माउण्टबेटन बीच में खड़ी होंगी। उनके एक तरफ होंगे लॉर्ड माउण्टबेटन और दूसरी तरफ मैं। इस शुभ अवसर पर कोई बढ़िया सी बात कही जानी चाहिए। यदि वह बढ़िया सी बात आमने-सामने, आननफानन में सूझ न पाई; तो?

जिन्ना ने उस बात को, पहले ही से किसी कम्प्यूटर की तरह रट रखा था।

मसखरी यह रही कि फोटो खींचे जाते समय लेडी माउण्टबेटन की अपेक्षा स्वयं जिन्ना को बीच में खड़े होना पड़ा। जिन्ना का दिमाग सनसना गया। बढ़िया सी कोई नई बात उन्हें सूझ न पाई। जो बात वह पहले से रट कर आए थे, वही उनके होंठों पर फूट पड़ी। उनके एक तरफ लॉर्ड माउण्टबेटन खड़े थे और दूसरी तरफ लेडी माउण्टबेटन। जिन्ना ने मुस्करा कर तपाक से कहा, "आहा! दो कांटों के बीच एक गुलाब!"

अध्ययन-कक्ष में उन्होंने माउण्टबेटन को तत्काल बताना शुरू किया कि किन शर्तों को वह स्वीकार करेंगे और किन्हें अस्वीकार। माउण्टबेटन ने उन्हें सहसा रोक दिया और कहा, "मिस्टर जिन्ना! शर्तें-वर्तें तो सब तय होती रहेंगी। उससे पहले, क्यों न हम दोनों एक दूसरे से व्यक्तिगत रूप से परिचित हो जाएं? कुछ आप अपने बारे में बताएं। कुछ मैं अपने बारे में बताऊं।"

महात्मा गांधी से भी माउण्टबेटन ने बातचीत की शुरुआत इसी प्रकार की थी। इन शब्दों के साथ उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध सम्मोहन शक्ति के फोकस में उस मुसलमान नेता को खींचना शुरू किया। जिन्ना का पूरा बदन, एकाएक, जैसे पत्थर का हो गया। मोहम्मद अली जिन्ना एक निहायत अकेले और सूने आदमी थे। माउण्टबेटन जैसे अजनबी के सामने अपनी जिन्दगी के पन्ने यों अचानक खोल देना..... इस प्रस्ताव से वह चकरा गए।

अपने वेधक व्यक्तित्व और मीठी मुस्कान की चाशनी में लॉर्ड माउण्टबेटन ने जिन्ना को डुबाना शुरू किया। प्यारी-से-प्यारी बात के भी जवाब में जिन्ना जरा सा मुस्करा कर रह जाते। पल-पल पहाड़ होता चला। करीब दो घंटों तक माउण्टबेटन मुस्कराते और जिन्ना अ-मुस्कराते रहे। इसके बाद ही जिन्ना के पथरीलेपन में थोड़ी कमी आ सकी।

साक्षात्कार के बाद उस मुसलमान नेता ने जब अध्ययन-कक्ष से बाहर कदम रखे, तो माउण्टबेटन ने गहरी सांस ली और अपने प्रेस-अटैची की तरफ देखते हुए कहा, "माई गॉड! सारी ताकत तो उनके पथरीलेपन से लड़ने में लग गई।"

जिस व्यक्ति को एक दिन 'पाकिस्तान के पिता' की संज्ञा से विभूषित किया जाने वाला था, उसी मोहम्मद अली जिन्ना ने पाकिस्तान को 'एक असम्भव सपना' कह कर, 1933 में, रहमत अली का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था। पाकिस्तान के निर्माण का प्रस्ताव, कागज पर लिखकर पहली बार पेश करने वाला व्यक्ति रहमत अली ही था। वह एक स्नातक-विद्यार्थी

था, लन्दन में रहता था और अपना प्रस्ताव जिन्ना के सामने पेश करने के लिए उसने वाल्डोर्फ होटल में डिनर-पार्टी दी थी। भारत के मुसलमान राजनीतिज्ञों के बीच, जिन्ना की स्थिति, तब तक खासी अच्छी हो चुकी थी। रहमत अली अपने प्रस्ताव की बागडोर जिन्ना को सौंप देना चाहता था।

जिन्ना ने बागडोर सम्भालने से साफ मना किया, लेकिन मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग काटने का काम आखिर उन्हीं के हाथों सम्पन्न हुआ। वैसे अपने राजनीतिक कैरियर की शुरुआत उन्होंने हिन्दू-मुसलमान एकता के नारे लगाते हुए की थी। उनके परिवार की जड़ें उसी काठियावाड़ में थीं, जिसने गांधी को पैदा किया। किसी कारणवश, जिन्ना के प्रपिता ने यदि इस्लाम धर्म स्वीकार न कर लिया होता, तो महात्मा गांधी और मोहम्मद अली जिन्ना दोनों का जन्म एक ही जाति में हुआ होता। गांधी जी की तरह जिन्ना ने भी लन्दन की 'इन्स ऑफ कोर्ट' से बैरिस्ट्री पास की थी, लेकिन गांधी जी से ठीक विपरीत, जिन्ना जब भारत लौटे, तो अभारतीय बन कर लौटे। पक्के 'अंग्रेज।'

वह एक आंख पर चश्मा लगाते थे। उन के लिलेन-सूट बड़े शानदार ढंग से सिले होते। बम्बई के उमस-भरे वातावरण में हरदम तरोताजा दिखने के लिए वह दिन में तीन से चार बार सूट बदलते थे। बढ़िया शराब और बढ़िया खानपान के वह शौकीन थे। वह बेहद ईमानदार थे। आर्थिक मामलों में उन पर पूरा भरोसा किया जा सकता था। कानून और उसकी रक्षा के लिए वह जान लड़ा सकते थे। वकील के रूप में उनकी सफलता अद्‌भुत थी।

वह राजनीति में आए। दसेक साल तक उन्होंने कांग्रेस के हिन्दू-मुसलमान नेताओं के बीच एकता बनाए रखने के लिए कार्य किया, ताकि अंग्रेजों के विरुद्ध मिलजुल कर संघर्ष किया जा सके। कांग्रेस में जब गांधी जी की शक्ति का उदय हुआ, तो जिन्ना पीछे हटने लगे। पिद्दी सी टोपी लगाकर और खादी की धोती में अधनंगे रहकर वह व्यक्ति ब्रिटिश जेलों की हवा खाने के लिए कैसे जा सकता था, जिस के लिलेन-सूट में कभी हल्का-सा भी कोई दाग न लगा हो? ''नागरिक अवज्ञा का आन्दोलन केवल उनके लिए है, जो मोटी खाल और मोटे दिमाग वाले हों........'' उन्होंने गांधी जी से साफ कहा था।

जिन्ना के कैरियर में दोहराहा तब फूटा, जब 1937 के चुनावों में कांग्रेस पार्टी ने उन राज्यों में जिन्ना अथवा उनकी मुस्लिम लीग का सहयोग लेने से मना कर दिया, जहां मुसलमान निश्चित रूप से अल्प-संख्यक थे। बेहद स्वाभिमानी जिन्ना को, कांग्रेस का यह कदम, व्यक्तिगत आक्षेप जैसा लगा। उन्हें उसी दिन से हमेशा के लिए यकीन हो गया कि कांग्रेस-संचालित भारत में उन के साथ, अथवा उनकी मुस्लिम लीग के साथ, कभी न्याय नहीं किया जाएगा।

हिन्दू-मुसलमान एकता का वह हिमायती, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में बदल गया, जिसकी पथरीली जिद अपना अलग पाकिस्तान, लेकर रही-वही पाकिस्तान जिसे उसी व्यक्ति ने 'असम्भव सपना' कह कर कभी अस्वीकार रद्द कर दिया था।

भारतीय मुसलमानों ने कल्पना भी न की होगी कि उनका नेता कोई ऐसा व्यक्ति बनेगा, जिसमें केवल इतना मुसलमानपना होगा कि वह एक मुसलमान परिवार में पैदा हुआ।

—अन्यथा...... मोहम्मद अली जिन्ना शराब पीते और सूअर का मांस खाते थे, प्रतिदिन सुबह तबीयत से दाढ़ी बनाते और हर शुक्रवार को मस्जिद से दूर रहते थे। जिन्ना की दुनिया में खुदा और कुरान के लिए शायद ही कोई जगह थी। राजनीति में उन के दुश्मन माने जाते गांधी को, उनकी तुलना में, कुरान की ज्यादा ही आयतें याद रही होंगी। जिन्ना की सफलता बेमिसाल कही जाएगी, क्योंकि उन्होंने जिन भारतीय मुसलमानों के दिल जीत कर दिखा दिए, उनकी परम्परागत मातृ-भाषा, उर्दू, जिन्ना ठीक से बोल भी नहीं सकते थे।

जिन्ना को भीड़भाड़ पसन्द नहीं थी, हालांकि भारत भीड़भाड़ का देश है। धूल और धूप के नाम से जिन्ना की जान सूखती थी। गांधी जी हमेशा भीड़भाड़ और धूलधक्कड़ के बीच, तीसरे दर्जे के रेल डिब्बो में यात्रा किया करते, ताकि जनता से साक्षात्कार होता रहे। जिन्ना पहले दर्जे से चला करते, ताकि जनता उन्हें परेशान न करे।

गांधी जी सादगी और गरीबी के अवतार थे, जबकि जिन्ना शहजादों जैसे ठाठ से रहा करते। भारत के प्रमुख मुसलमान शहरों में उन्होंने जब अपना स्वागत करवाया, तो ऐसे जुलूस निकले जिनमें चांदी के हौदों वाले हाथी चले और चमचमाती कारों की कतारें लगीं। जुलूस शहर के सारे सदर दरवाजों के नीचे से गुजरे, ढोल-ढमक्के बजे और बैण्ड वालों ने यह धुन आकाश तक गुँजा दी, "गॉड सेव दी किंग! क्योंकि, जिन्ना के अनुसार यही एक मात्र ऐसी धुन थी, जिसे भारतीय जनता पहचान सकती थी।"

कानून और समय की पाबन्दी के बिना जिन्ना जिन्दा नहीं रह सकते थे। अखबार पढ़ने का उनका शौक अजब था। दुनिया भर के अखबार वह मंगवाया करते। उनके हाशियों पर न जाने क्या-क्या नोट करते, कतरनें, काटते चिपकाते।

अपने हिन्दू प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति, जिन्ना के मन में आक्रोश-ही-आक्रोश था। जवाहरलाल नेहरू के लिए वह कहा करते, "यहां, राजनीति में, नेहरू का क्या काम ? जाएं। अंग्रेजी के प्रोफेसर बनें। खिसकें। साहित्यकार हैं। राजनीति में घुसे आ रहे हैं। घमण्डी ब्राह्मण हैं। पश्चिमी पढ़ाई-लिखाई का बाना जरूर पहन लिया, लेकिन अन्दर से मक्कार हिन्दू हैं............"

गांधी जी को जिन्ना 'चालाक लोमड़ी' और "हर किसी से होड़ करने वाला हिन्दू" कहते थे। एक बार गांधी जी किसी वार्ता के लिए जिन्ना के निवास स्थान पर गए। मध्यान्तर हुआ, तो महात्मा जी जिन्ना के बहुमूल्य पर्शियन कालीन पर लेट गए और अपने पेट पर मिट्टी रख ली। इस दृश्य को जिन्ना कभी भूल नहीं सके, कभी माफ नहीं कर सके।

मुसलमानों के बीच जिन्ना का दोस्त कोई नहीं था, हां, साथी अवश्य थे। जिन्ना का शिष्य कोई नहीं बन सका। हां, सह-कर्मचारी कई बन गए। बहन को यदि अपवाद-स्वरूप

छोड़ दें, तो जिन्ना ने अपने परिवार की उपेक्षा ही की। दरअसल, जिन्ना के परिवार में मात्र दो सदस्य थे। एक तो उनकी बहन और दूसरा, पाकिस्तान का सपना।

जिन्ना लगभग छह फीट लम्बे थे, लेकिन वजन मुश्किल से एक सौ बीस पौण्ड। उनके चेहरे की त्वचा इतनी खिंची हुई रहती थी कि गालों की दोनों हड्डियां खूब उभर आई थीं। वहां की त्वचा में से अजब-सी चमक फूटती महसूस होती। उनके बाल सफेद-भूरे और घने थे।

जिन्ना ने अपने जीवन के सत्रह वर्ष एक दन्त चिकित्सक के साथ गुजारे थे, उनकी बहन दन्त चिकित्सक थी, तो भी उनके पीले दांतों में सड़ांध की कमी नहीं रही। जिन्ना हर क्षण इतने चौकन्ने और कठोर दिखते, जैसे वह हाड़-मांस के नहीं, इस्पात के बने हुए हों।

लेकिन वह इस्पाती व्यक्तित्व मात्र एक धोखा था। अन्दर से जिन्ना कमजोर, नाजुक और बीमार आदमी थे। उनके डॉक्टर ने एक बार कहा था, "जिन्दगी के आखिरी वर्ष उन्होंने केवल इच्छा शक्ति, मदिरा और सिगरेटों पर गुजारे।"

इस से काफी-कुछ समझा जा सकता है कि जिन्ना का चरित्र कैसा और उपलब्धियां क्या थीं। प्रतिद्वन्दी उनके पापों की कहानियां सुनाते थे और सहकारी उनकी लापरवाहियों की। जो भी हों, किसी माई के लाल में हिम्मत नहीं थी कि कह दे, "जिन्ना में इच्छा शक्ति की कमी थी।"

अप्रैल, 1947 के पहले पखवाड़े में माउण्टबेटन और जिन्ना के बीच छह बार नाजुक वार्ताओं के दौर चले। आखिर इन्हीं वार्ताओं ने तय किया कि भारत की गुत्थी किस प्रकार सुलझाई जानी है।

स्वयं माउण्टबेटन के शब्दों में:

"मुझे मालूम है कि मैं हर बात को सही रोशनी में पेश करने के फन का उस्ताद हूं और हमेशा चाहता हूं कि लोग कभी कोई गलत काम न करें। अपनी पूरी की पूरी उस्तादी काम पर लगा कर मैंने उन वार्ताओं में भाग लिया। देश का विभाजन करने पर जिन्ना इस कदर आमादा थे कि मेरे किसी शब्द ने उनके कानों में शायद प्रवेश ही न किया, हालांकि मैंने ऐसी हर चाल चली, जो मैं चल सकता था, ऐसी हर अपील मैंने की, जो मेरी कल्पना में आ सकती थी। पाकिस्तान को जन्म देने का सपना उन्हें घुन की तरह लग चुका था। कोई तर्क किसी काम न आया।"

दो कारणों से जिन्ना की ताकत बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उन्होंने स्वयं को मुस्लिम लीग का बादशाह बनाने में सफलता पा ली थी। लीग के अन्य सदस्य समझौते के लिए शायद तैयार हो भी जाते, लेकिन जब तक जिन्ना जिन्दा थे, उन सदस्यों की जुबान नहीं खुल सकती थी।

अगला कारण इससे कहीं ज्यदा महत्व का था। साल भर पहले नोआखाली और कलकत्ता में मुसलमानों ने हिन्दुओं का नरसंहार कर के, सड़कों और गलियों को, मानवीय रक्त से जिस प्रकार सान दिया था, उस की वीभत्स याद से देश मुक्त नहीं हुआ था। मुस्लिम लीग ने हमेशा के लिए सब को बता दिया था कि उसकी इच्छा का अनादर करने का नतीजा किस सीमा तक भयंकर हो सकता है।

जिन्ना से आखिरी मुलाकात के बाद, लॉर्ड माउण्टबेटन अपनी कुर्सी में बैठे सोचते रह गए। यदि इसी तरह सारा समय बातों-बातों में गुजरता गया, तो देश में गृह-युद्ध की आग धू-धू कर जल उठेगी और इंग्लैंड की सारी प्रतिष्ठा भस्मीभूत हो जाएगी। माउण्टबेटन को यहां किस ने भेजा है? इंग्लैण्ड ने ही न? उस की प्रतिष्ठा की चिन्ता माउण्टबेटन को सबसे पहले करनी चाहिए। नि:सन्देह उन की हार्दिक इच्छा थी कि भारत अखण्ड रहे, किन्तु इस इच्छा के पीछे अपने देश की, इंग्लैण्ड की, प्रतिष्ठा दांव पर नहीं लगाई जा सकती।

जो भी फैसला करना है, जल्द-से-जल्द करना है, हालांकि उस फैसले को ताकत के जोर पर मनवाया नहीं जा सकेगा। सेना में सब-कुछ कैसा शीघ्र होता है! इधर कहा, उधर हुआ! कुछ इसी तरह...... भारत का निर्णय भी झटपट करना होगा।

आगामी वर्षों में, माउण्टबेटन के आलोचक, साफ-साफ कहने जा रहे थे कि उन्होंने धैर्यवान राजनीतिज्ञ की अपेक्षा एक ऐसे नौसैनिक की तरह भारत की गुत्थी सुलझाई जिस के आवेश को सतह पर आने में जरा भी देर नहीं लगती।

किंतु उन आलोचकों को अनुमान नहीं हो सकता था कि लॉर्ड माउण्टबेटन स्वयं को किस बुरी तरह फंसा हुआ महसूस कर रहे थे और समय की कीमत क्षण-क्षण कितनी बढ़ रही थी। जिन्ना की जिद में जो उन्माद छिपा हुआ था, उसे माउण्टबेटन ने पहचान लिया था, बहस किए जाइए, किए जाइए, किए जाइए। जिन्ना कुछ सुनने वाले नहीं। जब सुनने वाले ही नहीं, फिर बहस के पीछे समय जाया करके, गृह-युद्ध के खतरे को और-और बढ़ाते जाने का क्या अर्थ?

लॉर्ड माउण्टबेटन पूरी दिलेरी के साथ यह स्वीकार करने को तैयार थे कि 'वशीकरण अभियान' ने उस मुसलमान नेता पर रंचमात्र भी असर नहीं डाला था। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था, भारत का विभाजन कर देना ही एकमात्र उपाय नजर आ रहा था। मुसलमान नेता ने वायसराय को वचन दिया था कि यदि पाकिस्तान अलग काट दिया गया, तो कोई हुल्लड़, कोई खून-खराबा नहीं होगा।

यह वचन निभे, चाहे न निभे, नेहरू और पटेल के सामने स्पष्ट करना ही होगा कि अब समय आ गया है, जब विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए। और मिल-बैठकर सोचा जाए कि शुरू कहां से करें आगे कैसे बढ़ें और अन्त में पहुंचे कहां।

उदास मुद्रा में लॉर्ड माउण्टबेटन ने अपने चीफ-ऑफ स्टाफ लॉर्ड इसमे की तरफ देखा और कहा कि जिस विभाजन को टालना असम्भव है, उस की पद्धति आदि की रूपरेखा खींचना क्यों न शुरू कर दिया जाए?

पद्धति चाहे कोई भी अपनाई जाए, विभाजन का अर्थ विभाजन होता है। एक महान् राष्ट्र अब अपंग होने से नहीं बच सकता था। मोहम्मद अली जिन्ना की जिद के कारण भारत के दो अत्यधिक महत्व के राज्यों को दो टुकड़ों में तोड़ना ही होगा—पंजाब और बंगाल। फलस्वरूप, जिस नए देश पाकिस्तान की रचना होगी, उसे दो सिरों वाला देश कहा जाएगा। एक सिर पूरब में। एक पश्चिम में। दोनों के बीच 970 मील का फासला, जिस में भारत के मैदान और हिमालय की चोटियां बिखरी होंगी। एक सिर से दूसरे सिर तक समुद्र यात्रा करने के लिए भारत की परिक्रमा अनिवार्य हो जाएगी। इसमें बीस दिन से कम समय नहीं लगेगा। करांची से मार्सेलीज के बीच समुद्र-यात्रा करने के लिए भी इतना समय नहीं चाहिए।

अगर दोनों सिरों के बीच सीधी हवाई उड़ान भरनी हो, तो चार एंजिनों वाले हवाई जहाज की जरूरत होगी। पाकिस्तान जैसे नए राष्ट्र के लिए ऐसे हवाई-जहाजों का खर्च वहन करना आसान नहीं रहेगा।

दोनों सिरों के बीच भौगोलिक अन्तर के अलावा, मानसिक अन्तर भी जबर्दस्त होगा। पंजाब और बंगाल के मुसलमानों में केवल एक समानता थी—उनका धर्म। शेष सभी मामलों में वे उतर-दक्षिण थे। भाषा, संस्कृति, इतिहास, किसी भी धरातल पर वे एक जैसे नहीं थे। बहुत बड़ा सवाल था कि दोनों सिरों के बीच संवाद किस प्रकार कायम रहेगा। जब भी एक सिर का व्यक्ति दूसरे सिर के किसी व्यक्ति से शादी करेगा, तो यह शादी एक ही देश में होने के बावजूद, हर दृष्टि से विदेश में की गई शादी के बराबर होगी।

1947 के उस अप्रेल मास में—

यदि महात्मा गांधी, माउण्टबेटन या जवाहरलाल नेहरू में से किसी को भी एक असाधारण रहस्य की जानकारी होती, तो भारत के विभाजन को अवश्य टाला जा सकता था। वह रहस्य एक फिल्म के टुकड़े की भूरी सतह पर अंकित था। फिल्म का वह टुकड़ा भारतीय राजनीति में किसी और ही तरह की उथल-पुथल ला सकता था। एशिया के इतिहास पर अपनी अमिट छाप छोड़ने का सामर्थ्य उसमें था।

फिर भी उस रहस्य को इतनी सावधानी से सुरक्षित रखा गया था कि ब्रिटिश सी.आई.डी. को भी, जो दुनिया के सबसे तेज-तर्रार जासूस-तन्त्रों में गिना जाता है, उस के अस्तित्व का कोई गुमान नहीं था।

फिल्म के उस टुकड़े पर, मानवीय फेफड़ों की अन्दरूनी हालत का एक्स-रे अंकित था। उस से साफ-साफ पता चलता था कि फेफड़ों का स्वामी, बुरी तरह, क्षय-ग्रस्त हो चुका है। हद-से-हद अब वह दो या तीन साल जीएगा

वह एक्स-रे फिल्म एक कोरे लिफाफे में बन्द थी। वह कोरा लिफाफा बम्बई के एक डाक्टर जे.ए.पटेल के दवाखाने में मजबूत आलमारी में बन्द था।

उस फिल्म में प्रदर्शित फेफड़ों का स्वामी था वह व्यक्ति, जिस की जिद ने लॉर्ड माउण्टबेटन जैसे शब्दों के जादूगर को भी हरा दिया था, कुण्ठित कर दिया था। मोहम्मद अली जिन्ना, जो नए वायसराय और भारत की अखण्डता के बीच सब से बड़ी दीवार थे, फांसी की सजा पा चुके व्यक्ति की तरह जी रहे थे।

नये वायसराय के भारत आगमन से नौ मास पहले; जून 1946 में, डॉ. पटेल ने वह एक्स-रे फिल्म प्रदर्शित की थी। पाकिस्तान के पिता कहलाने जा रहे मोहम्मद अली जिन्ना के दोनों फेफड़ों में क्षय का घुन लग चुका था; इस जानकारी ने डॉ. पटेल को सन्न कर दिया था। जिन्ना तब सत्तर साल के थे।

जन्म से ही जिन्ना एक नाजुक-सेहत आदमी थे—फेफड़ों की कमजोरी के कारण। युद्ध से काफी पहले, प्लूरिसी के आक्रमण के फलस्वरूप उन्हें बर्लिन में इलाज करवाना पड़ा था। उस के बाद से, ब्रांकाइटिस के हमले उन पर बार-बार होते रहे थे। इन हमलों ने उन की शक्तियों का इस सीमा तक हनन किया था कि अब यदि उन्हें बड़ा-सा एक भाषण भी देना पड़ जाता, तो फिर घण्टों तक हांफते रहना पड़ता।

मई 1946 में जिन्ना जब शिमला में थे, उन पर ब्रांकाइटिस का तेज हमला हुआ। बहन फातिमा ने उन्हें साथ लेकर तुरन्त बम्बई की ट्रेन पकड़ी। रास्ते में उनकी दशा इतनी बिगड़ गई कि फातिमा ने डॉ. पटेल को अरजेन्ट कॉल किया।

बम्बई से बाहर ही डॉ. पटेल ट्रेन में आ गए।

उन्हें समझते देर न लगी कि उन का सम्मानित मरीज कितने डरावने ढंग से मौत के करीब सरक चुका है। बम्बई के मुख्य रेलवे स्टेशन पर जिन्ना का स्वागत करने की जैसी तैयारियां थी, उन्हें सम्मानित मरीज झेल नहीं पाएगा। मुख्य स्टेशन आने से पहले ही डॉ. पटेल ने जिन्ना को ट्रेन से उतार कर एक अस्पताल में भर्ती करवा दिया। यही वह अवसर था, जब डॉ. पटेल ने जिन्ना के फेफड़ों का एक्स-रे लिया और उस रहस्य की खोज की, जो भारत के सर्वाधिक गुप्त रखे जाने वाले रहस्यों में से एक हो जाने वाला था।

यदि जिन्ना की हैसियत क्षय के किसी आम मरीज जैसी होती, तो उन्हें शेष सारा जीवन किसी सैनेटोरियम में बिताने की सलाह दी जाती; लेकिन जिन्ना की हैसियत आम मरीजों जैसी नहीं थी।

स्वास्थ्य लाभ के बाद जब उन्हें अस्पताल से छोड़ा गया, तो डॉ. पटेल उन्हें अपने एकान्त ऑफिस में ले गए। उदास स्वर में उन्होंने अपने दोस्त और मरीज को बताया कि कितनी घातक बीमारी उन्हें गिरफ्त में ले चुकी है। यदि उन्होंने तनावों से बचने की कोशिश

नहीं की, आराम का पूरा ध्यान न रखा, शराब और सिगरेट का त्याग नहीं किया, तो शायद वह एक-दो साल से ज्यादा न जी सकें।

एक समाचार से जिन्ना के चहरे पर शिकन भी पैदा न हुई। डॉ. पटेल से उन्होंने साफ कह दिया कि वर्तमान महत्वाकांक्षी जीवन के बदले सैनेटोरियम के पलंग का चुनाव वह कदापि नहीं कर सकेंगे। पाकिस्तान की रचना के लिए भारत के मुसलमानों का संघर्ष अभी नाजुक दौर से गुजर रहा है। ऐसे समय वक्त में खेल अधूरा नहीं छोड़ा जा सकता।

जिन्ना को भली-भांति मालूम था कि अगर उनकी बीमारी की खबर हिन्दुओं को मिल गई, तो उनका सम्पूर्ण राजनीतिक मोर्चा बदल जाएगा। वे जिन्ना की मौत का ठाठ से इन्तजार करेंगे और उसके बाद मुस्लिम लीग के मुलायम नेताओं को इस प्रकार प्रभाव में लेंगे कि पाकिस्तान का सपना हमेशा के लिए खत्म हो जाएगा।

डॉ. पटेल, हर दूसरे हफ्ते, जिन्ना को शक्ति-पूर्ति का इन्जेक्शन दिया करते—गुप्त रूप से और जिन्ना अपने फर्ज की अदायगी के लिए कूद पड़ते। डॉक्टर की सलाह मानने की उन्हें कोई परवाह नहीं थी। उन्हें मौत की नहीं, इतिहास की चिन्ता थी। माउण्टबेटन से जिन्ना ने कहा था, "बेहद स्पीड से काम किए बिना गुजारा नहीं।" दरअसल, जितनी स्पीड से मौत जिन्ना की ओर आ रही थी, उससे ज्यादा स्पीड से जिन्ना अपने सपने की ओर भागना चाहते थे.....भाग रहे थे........

कान्फरेन्स चैम्बर में वह ग्यारह व्यक्ति लॉर्ड माउण्टबेटन के इन्तजार में गम्भीरता से बैठे थे। ग्यारहों व्यक्ति, भारत में अंग्रेजी राज के, आधार-स्तम्भों की तरह थे। हर व्यक्ति एक-एक राज्य का गर्वनर था। उन में से केवल दो भारतीय थे। शेष अंग्रेज।

माउण्टबेटन के सामने उन्होंने अपने-अपने राज्य का ब्यौरा रखा। आठ राज्यों की स्थिति ऐसी थी, जो विस्फोटक होने के बावजूद किसी तरह काबू में लाई जा सकती थी। शेष तीन राज्य ऐसे थे, जहां के हालात पूरी तरह बेकाबू हो चुके थे। पंजाब, बंगाल, उत्तर-पश्चिमी सीमान्त।

इन तीनों राज्य का विवरण इतना डरावना था कि माउण्टबेटन की भोंहों पर बल पड़ गए।

पंजाब और बंगाल में हिन्दू-मुसलमान दंगों का जो खतरा था, वही खतरा उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त में भी था—लेकिन उस के अलावा भी, एक और बारूद वहां चिनगारी का इंतजार करने लगा था। अफगानिस्तान के पठान पूरी तैयारी कर चुके थे कि कब मौका मिले और कब सीमान्त प्रदेश की राजधानी पेशावर पर टूट पड़ें। शताब्दियों से उन्होंने पेशावर के आस-पास की विस्तृत भूमि पर अपना अधिकार माना था। उस अधिकार को पाने के लिए यदि वे आक्रमण कर बैठे, तो मामला पेचीदा हो जाएगा। बात, केवल घरेलू झगड़े की न रहकर, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले लेगी।

जब सभी गवर्नरों के ब्यौरे सामने रखे जा चुके, तो माउण्टबेटन ने प्रत्येक को एव महत्वपूर्ण प्रस्ताव की प्रतिलिपि दी। उस प्रस्ताव को, केवल राय जानने के लिए किया गय शोधकार्य, कहा गया।

हफ्ते भर पहले लॉर्ड माउण्टबेटन ने अपने चीफ-ऑफ-स्टाफ लॉर्ड इसमे को आदेश दिया था कि देश के विभाजन का कार्यक्रम वह लिखित रूप से तैयार करें। वह प्रस्ताव, उसी कार्यक्रम का पहला आलेख था।

गर्वनरों ने ज्यों ही उसे पढ़ना शुरू किया, सब की पहली प्रतिक्रिया आघात की रही। छोटे-छोटे रजवाड़ों को मिला कर, भारत के इतने बड़े शासन का निर्माण, अंग्रेजों ने किया था। इतने बड़े इस शासन को एकता की डोर में बांधे रखने का कार्य उन्होंने अपने गर्वनरों के ही माध्यम से सम्पन्न कर दिखाया था। वे ही गर्वनर, उसी एकता को छिन्न-भिन्न करने का प्रस्ताव, उस समय दिल थाम कर पढ़ रहे थे।

माउण्टबेटन ने उनसे कहा कि देश का विभाजन रोक सकने की आशा मैंने अभी तक नहीं छोड़ी है। इसीलिए, आखिरी फैसला मैंने देश की जनता पर छोड़ दिया है। अगर जनता चाहेगी, तो विभाजन अवश्य रुक जाएगा। मेरी इच्छा है कि अगर विभाजन करना पड़ता है, तो इसका दोष दुनिया अंग्रेजों के मत्थे न मढ़े। दुनिया के सामने स्पष्ट रहना चाहिए कि विभाजन का फैसला स्वयं भारतीयों ने किया है, न कि किसी और ने। जहां तक मेरी व्यक्तिगत राय है, पाकिस्तान के निर्माण की मांग काफी ठोस हो चुकी है—इतनी ठोस तो अवश्य ही की मुस्लिम लीग को पाकिस्तान का संचालन करने का अनुभव लेने दिया जाना चाहिए। इस प्रयोग में लीग यदि विफल रहती है, तो वह अपने देश को वापस भारत में मिला सकती है।

उन ग्यारहों गर्वनरों ने विभाजन किए जाने के प्रति कोई उत्साह न दिखाया। न उन्होंने विभाजन का विरोध ही किया। विरोध करने पर उनसे पूछा जाता, "फिर आपका क्या सुझाव है?" और उनके पास कोई सुझाव नहीं था।

"जिन्ना को पाकिस्तान कभी नहीं मिलेगा, जब तक कि अंग्रेज पाकिस्तान बना कर उसे दे न दें।" महात्मा गांधी अपने साथियों को समझा-समझा कर हार गए थे, "अंग्रेज ऐसा कभी नहीं करेंगे, जब तक कांग्रेस का बहुत इसके विरोध में खड़ा है। विभाजन का फैसला वायसराय के नहीं, कांग्रेस के हाथ में है। कांग्रेस चाहे तो इसे रोक सकती है। अंग्रेजों से कह दो कि वे चले जाएं। जो जैसा है, उसे वैसा ही छोड़ कर चले जाएं। उनके पीछे जो भी होगा; हम देख लेंगे। भुगत लेंगे। अगर देश भर में आग लग जाती है, तो लग जाने दो। देश इस आग में तप कर, कुन्दन की तरह निखर कर सामने आएगा, देश को अखण्ड रहने दो।"

मगर उनकी पुकार अरण्य रोदन जैसी साबित हो रही थी। यहां तक कि उनके सबसे नजदीकी दो साथी, नेहरू और पटेल भी जो उन के आदेशों का आंख मूंद कर पालन करना भी गलत नहीं समझते थे, आज उनके विरुद्ध अटल मुद्रा में खडे थे।

वल्लभभाई पटेल तो माउण्टबेटन के आगमन से पहले ही विभाजन स्वीकारने के लिए तैयार बैठे थे। दरअसल, पटेल दिल के दो-दो दौरे भुगत चुके थे और जान गए थे कि वह ज्यादा टिकने वाले नहीं। जो भी थोड़ी बहुत उम्र उनके पास शेष रह गई थी, उसे वह फालतू की बहस बाजी में लगाने की अपेक्षा नए भारत की नींव डालने में लगाना चाहते थे, उनका सीधा-सा तर्क था, "जिन्ना को दे दो पाकिस्तान! फर्क क्या पड़ेगा? पांच साल से ज्यादा यह पाकिस्तान टिकने वाला नहीं। मुस्लिम लीग खुद-ब-खुद भारत के दरवाजे पर आ कर खटखटाहट करेगी कि शासन की डोर आप ही लोग सम्भालिए।"

रहा प्रश्न नेहरू का, सो उनकी दशा बुरी थी। गांधी जी पर वह गहनतम श्रद्धा रखते थे, लेकिन लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन के साथ उनकी जो नई दोस्ती जम रही थी, वैचारिक सहमति का जो नया रिश्ता कायम हो रहा था, उसे एका-एक छोड़ कर अलग हो जाना..... यह भी, जवाहरलाल नेहरू को, असम्भव लग रहा था। गांधी के सिद्धान्त नेहरू के हृदय में बसे हुए थे, किन्तु मस्तिष्क लॉर्ड माउण्टबेटन का साथ देने को मचल रहा था। नेहरू का दिल कहता था कि विभाजन नहीं होना चाहिए, लेकिन मस्तिष्क बार-बार पूछ रहा था, "विभाजन नहीं, तो क्या? विभाजन नहीं तो क्या?"

लॉर्ड माउण्टबेटन ने आभास पा लिया था कि उन्हें नेहरू के मस्तिष्क में जगह मिल गई है बस, फिर क्या था! उस जगह को अधिकाधिक मजबूत बनाने के लिए उन्होंने अपने वशीकरण अभियान के चक्र तेजी से घुमाने शुरू कर दिए थे। उनके तर्कों को काटना नेहरू के लिए मुश्किल होता जा रहा था।

एक तर्क बहुत मार्के का था।

जिन्ना की विदा के बाद, बहु-संख्यक हिन्दुओं के देश भारत में शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना हो सकेगी। यदि केन्द्रीय सरकार ही शक्तिशाली न रही, तो जिस समाजवाद को भारत में प्रतिफलित करने का सपना नेहरू ने देख रखा है, वह कैसे पूरा होगा?

इस तर्क ने, आखिर नेहरू को भी उस व्यक्ति के विरुद्ध ला खड़ा किया, जिसके कदमों पर वह वर्षों से चलते आ रहे थे।

नेहरू और पटेल की सहमति पाने के बाद कांग्रेस के हाईकमान को अपनी ओर मिलाने में माउण्टबेटन को भला क्या दिक्कत होनी थी। नेहरू को यह अधिकार सौंपा गया कि वह जाकर वायसराय को सूचित करें—

पूरी हार्दिकता के साथ भारत की अखण्डता की आकांक्षी होते हुए भी कांग्रेस पार्टी देश के विभाजन को स्वीकार कर लेगी, बशर्ते पंजाब और बंगाल के गौरवमय प्रान्त किसी एक देश को समूचे न मिलकर दोनों देशों को आधे-आधे मिलें।

जिस बुढ़ऊ के सहारे वे सब नेता अपनी विजय तक पहुंचे थे, उसी को उन्होंने अकेला छोड़ दिया। अपनी कलंकित जीत और टूटे सपने को अकेले ही समेट रखने के लिए बुढ़ऊ अभिशप्त हो गया.........

वायसराय के विशेष हवाई जहाज 'यार्क एम.डब्ल्यू. 102' ने भारत की धरती को छूने के ठीक चालीस दिनों बाद, याने मई की दूसरी तारीख को, शाम छह बजे, पालम हवाई अड्डे से उड़ान भरी—वापस लन्दन की दिशा में। माउण्टबेटन के चीफ-ऑफ-स्टाफ, लॉर्ड इसमे को वह तीव्रता से इंग्लैण्ड ले जा रहा था, ताकि महामना सम्राट की सरकार के सामने भारत के विभाजन का प्रस्ताव पेश किया जा सके।

देश को अखण्ड बनाए रखने के लॉर्ड माउण्टबेटन के सारे प्रयास, जिन्ना रूपी चट्टान पर टकरा कर, हमेशा के लिए टूट गए थे। इस टूटन से पहले यदि उन्हें जिन्ना की घातक बीमारी की जानकारी मिल जाती, तो स्थितियां निश्चित रूप से कुछ-और ही होतीं। जिन्ना को रंच-मात्र भी प्रभावित न कर पाना...... इस दुखद अनुभव को लॉर्ड माउण्टबेटन जीवन भर याद रखने वाले थे—अपने कैरियर की एक मात्र जबर्दस्त निराशा के रूप में। भारत को टुकड़ों में तोड़ते समय, व्यक्तिगत स्तर पर भी, लॉर्ड माउण्टबेटन कितने दुःखी थे; इसका अन्दाजा उस दस्तावेज से लगाया जा सकता था, जिसे साथ लेकर लॉर्ड इसमे ने उड़ान भरी थी—एटली सरकार के नाम, माउण्टबेटन द्वारा प्रेषित, पांचवीं व्यक्तिगत रिपोर्ट। उसमें उन्होंने लिखा था—

"विभाजन केवल पागलपन है। अगर इन अविश्वसनीय कौमी दंगों ने एक-एक व्यक्ति को वहशी न बना दिया होता, अगर विभाजन का एक भी विकल्प ढूंढ़ सकने की स्थिति होती, तो दुनिया का कोई व्यक्ति मुझे इस पागलपन को स्वीकार करने के लिए बहका न सकता। विश्व के सामने स्पष्ट रहना चाहिए कि ऐसे दीवानगी भरे फैसले की पूरी जिम्मेदारी भारतीय कन्धों पर है, क्योंकि एक दिन ऐसा जरूर आएगा; जब स्वयं भारतीय, स्वयं अपने इस फैसले पर, बुरी तरह पछताएंगे।"

❑❑❑

6

''वह नन्हीं-सी, प्यारी-सी जगह''

शिमला; मई, 1947

लुई माउण्टबेटन को अब वातानुकूलन की आवश्यकता नहीं थी। उनके अध्ययन-कक्ष की खिड़की से जो दृश्य दिखाई दे रहा था, उसी में इतनी ठण्डक थी कि वातानुकूल अनावश्यक हो जाए। हिमालय! विश्व की सबसे ऊंची पर्वतमाला की बर्फ ढकी चोटियां, जो भारत को तिब्बत और चीन से अलग करती हैं।

हरियाली, हरियाली, हरियाली.......

रात-दिन के तनावपूर्ण कार्यक्रमों ने माउण्टबेटन को थका दिया था और उन्होंने अपने पूर्व-शासकों द्वारा स्थापित परम्परा को निभाते हुए दिल्ली छोड़ कर शिमला आ जाने में ही गनीमत देखी थी। लॉर्ड इसमे की, लन्दन के लिए रवानगी के तुरन्त बाद, लॉर्ड माउण्टबेटन ने शिमला की शरण स्वीकार कर ली थी। शिमला जो खास अंग्रेजों द्वारा रूपायित किया गया था। हिमालय के चरणों पर बैठी वह नन्ही सी नगरिया रहस्यमय ढंग से अव्यवस्थित होते हुए भी पूरे भारत की व्यवस्था का निश्चित केन्द्र बन जाया करती।

एक शताब्दी से भी ज्यादा समय बीत चुका था, जब अंग्रेजों ने पहली बार फैसला किया कि साल के बारह में से पांच महीने वे भारत की राजधानी शिमला ले जाया करेंगे; जो कि दुनिया की छत माने जाते तिब्बत के ठीक नीचे 7300 फीट की ऊंचाई पर आसन जमाए बैठा है। तब से शिमला ने उस शाही शिखर का रूप पा लिया था, जहां से अंग्रेज न केवल समूचे भारत पर, बल्कि रक्त-सागर से ब्रह्मदेश के बीच फैले अपने अनेक छोटे-बड़े भूखण्डों पर भी, गर्वीली नजरें फेरते रह सकते थे, शिमला एक नन्ही-सी, प्यारी सी जगह थी, जहां

विक्टोरियन स्टाइल की ईसाइयत खूब पनपी थी और जहां मानो कदम-कदम पर अदृश्य इश्तहार लगे हुए थे कि यह जगह अंग्रेजों ने खास अंग्रेजों के लिए विकसित की है। यह हरीभरी शीतल, पहाड़ी नगरी भारत के सूखे, गर्म और भीड़ के भार से दबे अन्य इलाकों को हमेशा हिकारत की नजर से ही देखेगी।

हर साल, अप्रेल के मध्य में, जब गर्मियां शुरू होती, वायसराय की सफेद सुनहरी ट्रेन शिमला की ओर चल पड़ती और उस पहाड़ी राजधानी की शान शुरू हो जाती। शान शुरू होने का अर्थ था इन सब का आगमन-वायसराय के अंगरक्षक, सचिव, ए.डी.सी.गण, जनरल, एम्बेसेडर और उनके स्टाफ के लोग, आई.सी.एस. के सभी प्रमुख पदाधिकारी। इनके अलावा—दर्जियों, नाइयों मोचियों, सुनारों, शराब व्यापारियों, मेम साहबों और उनके पालतू पशुओं का भी आगमन।

1903 तक, शिमला जाने की छोटी रेल लाइन कालका में खत्म हो जाती थी—मंजिल से 42 मील दूर। सारा ताम-झाम दो-दो घोड़ों वाले तांगों में लादकर, आठ-आठ घण्टों की यात्रा द्वारा, शिमला की पहाड़ियां पर पहुंचाया जाता। यात्री भी तांगों में जाते। अधिक भारी सामान बैलगाड़ी द्वारा और सबसे भारी सामान मनुष्य द्वारा अपनी पीठ पर लाद कर ढोया जाता। कुलियों की लम्बी कतारें, जिनकी रीढ़ की हड्डिया सामान के बोझ से कमान की तरह झुकी रहती; धीमे-धीमे शिमला की चढ़ाइयां पार करती, ताकि डिब्बा बन्द मांस, सॉस, शैम्पेन आदि के वे जबर्दस्त केस ऊपर पहुंचाए जा सकें, जिनके कारण शिमला की पार्टियों की शान बेमिसाल समझी जाती थी।

शिमला का काम कुलियों के बिना कदापि नहीं चल सकता था, क्योंकि वह एक ऐसी नगरी थी, जहां घोड़े की टापों अथवा कारों की गुर्राहटों के बदले मनुष्य के नंगे पैरों की मुलायम थप-थप सुनने को मिलती थी। पुरानी परम्परा चली आ रही थी कि शिमला में केवल तीन घोड़ागाड़ियों—और बाद में केवल तीन कारों—को नियमित आवागमन की अनुमति दी जाए। एक तो स्वयं वायसराय की गाड़ी। दूसरी गाड़ी भारतीय फौज के कमाण्डर इन चीफ की और तीसरी पंजाब के गर्वनर की। शिमला में यह चुटकुला काफी प्रख्यात था कि वहां एक बार स्वयं ईश्वर ने गाड़ी रखने की इजाजत मांगी, लेकिन उसे भी इन्कार कर दिया गया!

जब तक अंग्रेज भारत से गए नहीं, शिमला का अधिकांश आवागमन रिक्शा पर आधारित था। आकार में वे रिक्शे खासे बड़े हुआ करते। हर रिक्शा पांच आदमियों की टोली द्वारा संचालित होता। चार आदमी रिक्शे को खींचने में लग जाते और पांचवा सबके साथ-साथ अलग से दौड़ता, ताकि अगर कोई ज्यादा थक जाए, तो उसकी जगह वह खुद आ सके।

जैसी की परम्परा थी, ये कुली जूते नहीं पहनते थे। उनके मालिक, बड़े जोश-खरोश के साथ, उन्हें शानदार पोशाक पहनाया करते—मानों उनके पैरों का नंगापन ढकने का यही एक उपाय हो। ज्यादा-से-ज्यादा शानदार पोशाक सिलवाकर अपने कुलियों को पहनाने

की होड़ मची रहती। सुर्ख लाल रंग का पोशाक वायसराय के कुलियों की थी, लिहाजा अन्य कोई व्यक्ति अपने कुलियों को वह रंग नहीं दे सकता था। एक स्कॉट आदमी ने अपने कुलियों को धारियोंदार पोशाक पहनानी शुरू कर दी। एक और निवासी ने पोशाक के दो जोड़े सिलवाए। कुली एक जोड़ा दिन को पहनते और दूसरा शाम या रात को।

प्राय: सभी कुली अपने मालिकों के नाम का बिल्ला, अथवा कोई और संकेत चिन्ह पोशाक पर लगाया करते। इसी तरह; शिमला के प्राय: सभी कुली, तपेदिक के मरीज हुआ करते।

अपने मालिकों को वे जिन पार्टी-स्थलों की ओर ले जाते, उनकी चमक-दमक हमेशा आसमान छूती रहती। जैसा कि स्वाभाविक और आवश्यक था, वायसराय के लॉज की चमक दमक का मुकाबला कोई न कर सकता। बाल-डान्सों और गार्डन पार्टियों में आने-जाने के लिए वायसराय के निजी रास्ते थे। नगर के जिन गणमान्य व्यक्तियों को उन रास्तों का उपयोग करने की छूट मिल जाती। वे अपने रिक्शों पर लाल फीतों के फूल लगाया करते। आम रास्तों से आते-जाते व्यक्तियों के रिक्शों पर सफेद फीतों के फूल लगे रहते।

फूलों का रंग चाहे जो होता, उन रिक्शों में बैठी गोरी सवारियों को हमेशा एक तसल्ली रहा करती—वायसराय के लॉज में उन्होंने एक बार प्रवेश किया नहीं कि काले लोगों से आमने-सामने का खतरा फौरन टल जाता—बशर्ते, इक्के-दुक्के राजा महाराजाओं को अपवाद स्वरूप सह लिया जाए।

''वायसरीगल लॉज में आयोजित 'बॉल' की गरिमा का अन्दाजा लगाना आसान नहीं।'' एक महिला का कथन है, ''रात का वक्त ही...... रिक्शों की लम्बी कतारें धीमे-धीमे पहाड़ी पर चढ़ रही हों...... हर रिक्शे में एक छोटा-सा दीपक लगा हो—अन्धेरे में चमकता दीपक..... और उस सन्नाटे में सिर्फ एक आवाज सुनाई दे रही हो—सैकड़ों नंगे पैरों की कोमल थप-थप.....थप-थप......''

वायसरीगल लॉज के बाद, शिमला के सामाजिक जीवन की धड़कन का दूसरा केन्द्र था-- सीसिल्स होटल। मृदुता, चुस्ती और स्वच्छता आदि में उसकी गणना दुनिया के श्रेष्ठतम होटलों में की जा सकती थी। उसकी मेजों पर बिछा लिनेन आयरिशा था, चांदी के बर्तन खास ''मैपिन एण्ड वेब'' कम्पनी ने तैयार किए थे, चीनी मिट्टी और कांच के बर्तन जर्मनी से आए थे.........

लेकिन शिमला के दिल की जगह अगर किसी को दी जा सकती है, तो माल को। जिस पहाड़ी पर शिमला नामक शीतल नगरिया बसी है, उसके एक छोर से दूसरे छोर तक खिंची हुई लम्बी, चौड़ी सुन्दर, चिकनी सड़क-यही है 'माल'। जितनी सावधानी से वायसराय के चीनी मिट्टी के बर्तन स्वच्छ किये जाते, उतनी ही सावधानी से उस सड़क को स्वच्छ रखा

जाता। वहां जो कुछ था, सब इंगलिश था। दुकानें, बैंक रेस्तरां...... सब प्रथम विश्व-युद्ध तक, भारतीयों को, 'माल' पर चलने की मनाही थी।

इस मनाही में ही शिमला का सार छिपा हुआ है। हर साल अंग्रेज जब शिमला जाया करते, तो इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं था कि वे गर्मी से बचना चाहते हैं, बल्कि यह भी था कि देखो, हम अंग्रेज हैं, हम गोरे हैं, हम ऊंचे हैं, इतनी ऊंचाई पर जा कर हम राज्य करते हैं कि सारा हिन्दुस्तान हमारे चरणों पर आ गिरता है..... बिलबिलाती, काली जनता पर हमारा यह गोरा, सुन्दर शासन......

माउण्टबेटन ने मई, 1947 के प्रारम्भिक दिनों में जब शिमला में पदार्पण किया, तो वहां के शाही ठाठ डूब चुके थे और 'माल' पर चलने की इजाजत हिन्दुस्तानियों को दे दी गई थी—बशर्ते वे अपनी राष्ट्रीय पोषाक पहने हुए न हों।

भारतीय नेताओं के साथ बार-बार और लगातार बहस-मुबाहिसे कर के माउण्टबेटन को चाहे कितनी ही थकान क्यों न हो गई, उन के उत्साह और आत्मविश्वास में रंच-मात्र भी कमी नहीं आई थी। आखिर उन्होंने केवल छह मास में वह काम कर दिखाया था, जिसे उन के पूर्व शासक वर्षों से भी नहीं कर सके थे। 10 डाउनिंग स्ट्रीट के पते पर उन्होंने वह योजना भेज दी थी, जिसमें इंग्लैण्ड को एक ऐसा सम्मानजनक सुझाव दिया गया था, जिसे भारत त्याग के समय अपनाया जा सकता था, और जो भारतीयों के सामने भी एक ऐसा हल पेश करता था, जिससे उन की रजानीतिक गुत्थी सुलझ सकती थी—चाहे उस हल को स्वीकार करना कितना ही पीड़ाजनक क्यों न होता।

लन्दन से रवाना होने से पहले माउण्टबेटन ने एटली सरकार से जो अद्भुत विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए थे, उन के जोर पर उन्होंने अपनी योजना पर भारतीय नेताओं की राय अथवा सहमति लिए बिना ही, सारा मसौदा इंग्लैण्ड भेज दिया था। एटली सरकार को माउण्टबेटन ने अपनी ओर से विश्वास दिया था कि जब भी यह योजना भारतीय नेताओं के सामने रखी जाएगी, वे इसे स्वीकार कर लेंगे।

लेकिन शिमला के शान्त वातावरण में उन्होंने जब दुबारा विचार किया, तो अनेक आशंकाएं घुमड़ उठीं। क्या उन्होंने जरूरत से ज्यादा आत्म-विश्वासी ढंग से काम नहीं किया था? यदि वह योजना भारतीय नेताओं ने बिल्कुल ही अस्वीकार कर दी, तो? माउण्टबेटन को कैसी जग हंसाई का सामान करना पड़ेगा! मसौदा, भारतीय नेताओं को दिखाए बिना इंग्लैण्ड नहीं भेजा जाना चाहिए था।

अब?

सहसा उनके दिमाग में बिजली-सी कौंधी।

क्यों न इस मामले पर जवाहरलाल नेहरू से व्यक्तिगत रूप से बहस कर ली जाए? नेहरू की प्रतिक्रिया से अन्दाजा लग जाएगा कि भारतीय नेताओं को वह योजना, अन्दाजन, कितनी पसन्द आएगी—या कि नापसन्द।

पिछले दिनों, नेहरू और माउण्टबेटन के बीच दोस्ती काफी गहरी हो गई थी। सहयोगियों की पूर्ण असहमति की भी उपेक्षा कर के लॉर्ड माउण्टबेटन ने जवाहरलाल नेहरू को आमन्त्रित किया था कि आइए शिमला में छुट्टियां मेरे साथ बिताइए।

उस रात......

माउण्टबेटन ने नेहरू को अपने अध्ययन-कक्ष में आने और शराब का एकाध पेग स्वीकारने का आमन्त्रण दिया। नेहरू जी आए। सामान्य बातचीत के बीच माउण्टबेटन ने अपने प्रस्ताव का वह मसौदा उनकी तरफ बढ़ा दिया थोड़े बहुत संशोधनों के साथ लन्दन की सहमति मिल चुकी थी।

"रात को सोने से पहले इसे पढ़ जाइएगा।" माउण्टबेटन का स्वर था, "बात केवल मेरे और आप के बीच रहे। सुबह अपनी राय दीजिए...... कांग्रेस के अन्य नेताओं पर इस प्रस्ताव की क्या प्रतिक्रिया होगी?"

कुछ घंटों बाद—

नेहरू जी, अपने शयन-कक्ष में, उस मसौदे को ध्यानपूर्वक पढ़ रहे थे। एक ऐसी योजना उन के हाथ में थी, जिस पर उन के देश का भविष्य गढ़ा जाना था।

ज्यों-ज्यों उन्होंने पढ़ा वह स्तब्ध होते गए। यदि सचमुच उसी योजना पर अमल किया गया, तो देश का विभाजन दो नहीं, दर्जन भर टुकड़ों में हो जाएगा।

माउण्टबेटन ने प्रस्ताव रखा था कि यदि किसी प्रदेश की प्रजा चाहे, तो, भारत और पाकिस्तान, दोनों में से किसी के भी साथ मिलने से इंकार कर, अपने प्रदेश को स्वतंत्र राज्य भी बना सकती है।

इस प्रस्ताव के पीछे माउण्टबेटन की भावना केवल यह थी कि प्रजा पर न तो भारत थोपा जाए और न ही पाकिस्तान। प्रजा अपना निर्णय आप करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र रहे। जो प्रजा पाकिस्तान में मिलना चाहे, वह पाकिस्तान में मिले। जिसे भारत के साथ मिलना हो, वह भारत का अंग बने। जिसे दोनों से अलग रहना हो, वह सहर्ष अलग रहे।

बंगाल का विभाजन सुखद और व्यावहारिक नहीं रहेगा, यह माउण्टबेटन जानते थे। बंगाल की हर सड़क, हर रेलमार्ग कलकत्ता की ओर जाता है। कलकत्ता ही बंगाल का मन है और मस्तिष्क भी। जूट चावल की फसलें कलकत्ता आती हैं, वहीं उन का व्यापार होता है। विभाजन की कोई रेखा इस प्रकार नहीं खींची जा सकती थी, जिस से कलकत्ता को आधा-आधा तोड़ कर हिन्दू-मुसलमानों के बीच बांट दिया जाता। मुसलमानों की आबादी पूर्व बंगाल में केन्द्रित होने के कारण, उस हिस्से को ही, पाकिस्तान का रूप देना होता।

याने, समूचा कलकत्ता महानगर भारत के हिस्से में आएगा।

पूर्वी बंगाल का सारा व्यापार कलकत्ता में केन्द्रित होने के कारण, कलकत्ता ज्यों ही भारत में गया, त्यों ही व्यापार ठप।

कलकत्ता के सारे कल-कारखाने जिन फसलों पर आधारित हैं, उनका अधिकांश पूर्वा बंगाल में केन्द्रित होने के कारण, वह हिस्सा ज्यों ही पाकिस्तान में गया, त्यों ही आपूर्ति लाइन कटी। कल-कारखाने ठप।

वास्तव में, कलकत्ता को पूरे बंगाल से अलग काटा जा ही नहीं सकता था।

जबकि मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों द्वारा अनुमोदित विभाजन शर्त के अनुसार बंगाल का विभाजन करना ही होगा। याने कलकत्ता को बंगाल के पूर्वी हिस्से से अलग काटना ही होगा। यह न पूर्वी बंगाल के हित में रहेगा, न पश्चिमी बंगाल के।

तो........ क्यों न बंगाल की प्रजा को ऐसा अधिकार दिया जाए, जिस से वह कह सके कि राजनीति के गंदे खेल में पड़े बिना, भारत या पाकिस्तान में से किसी के भी साथ मिले बिना, हम अपने बंगाल को अखंड और स्वतंत्र बनाए रखना चाहते हैं। तभी पूर्वी बंगाल का व्यापार चलेगा और पश्चिमी बंगाल के कल-कारखाने।

किन्तु दूरदर्शी जवाहरलाल नेहरू तुरन्त समझ गए कि जो सुविधा केवल बंगाल की प्रजा को ध्यान में रखकर प्रस्ताव में शामिल की है, उस का लाभ (?) देश के तमाम रजवाड़े उठाना चाहेंगे और देश की एकता में जो अनेकानेक छिद्र पड़ जाएंगे, उनमें से भारत का रक्त रिस-रिस कर बहने लगेगा।

नेहरू ने तत्काल हिसाब लगा लिया कि अगर कलकत्ता का बन्दरगाह हाथ से चला गया, तो यह भारत के फेफड़े निकाल लेने जैसी बात होगी बड़े-से-बड़े महत्वपूर्ण कारखाने वहीं हैं। कश्मीर..... नेहरू जी का प्यारा कश्मीर.... अगर वह छिन गया तो? भारत का नन्दन वन चला जाएगा। अगर हैदराबाद ने पाकिस्तान में मिलने का फैसला किया, तो भारत के बीचों-बीच एक ऐसा देश पैदा होगा, जिसे भारत का उदर पचा नहीं सकेगा।

कश्मीर, बंगाल और हैदराबाद की देखादेखी और भी अनेक राज्य, भारत की अपेक्षा पाकिस्तान में मिलने या स्वतंत्र रहने का फैसला कर सकते हैं।

तबाही मच जाएगी।

भाषा, संस्कृति, जाति....... सभी धरातलों पर भारत में इतने भिन्न-भिन्न रंग फैले हुए हैं कि यह देश, आगा-पीछा सोचे बिना, तत्काल ही फूट का शिकार हो जाता है। नेहरू जी अपने देश के इस स्वभाव को भली-भांति पहचानते थे। एक दूसरे से खार खाने वाले और अन्दर ही अन्दर निहायत कमजोर छोटे-छोटे अनेक रजवाड़ों में सारा देश टूट जाएगा। देश का ढांचा एकदम लड़खड़ा कर गिरने लगेगा..... फूट ईर्ष्या और वैमनस्य की आग देश को भस्म कर देगी।

तीन शताब्दियों तक अंग्रेजों ने भारत पर राज्य किया था—"फूट डालो, राज्य करो" की नीति अपना कर। अब...... ऐसा लग रहा था, मानों जाते-जाते वे एक नई नीति को जन्म देने की सोच रहे हैं—"तोड़ो, बिखेरो; छोड़ो, चले जाओ।" नेहरू जी क्रोध से कांप गए। उनका चेहरा सफेद पड़ गया।

अपने गहरे दोस्त कृष्ण मेनन को वह शिमला साथ ले आए थे उत्तेजना से भरे हुए वह कृष्ण मेनन के कमरे में पहुंचे। मसौदे के कागजात पलंग पर फेंकते हुए नेहरू जी चिल्ला पड़े, "खत्म! सारा खेल खत्म! डूब गई लुटिया!"

अगली सुबह—

माउण्टबेटन को अपने दोस्त की तीखी प्रतिक्रिया की सूचना एक पत्र के रूप में मिली। आत्मविश्वास से झूमते वायसराय के लिए वह पत्र जैसे कोई बम ही था। पिछले छह सप्ताहों की उधेड़-बुन और मेहनत के बाद माउण्टबेटन् ने जो रूपरेखा खड़ी की थी, नेहरू जी के पत्र ने उसे ताश के महल की तरह गिरा दिया।

नेहरू जी ने स्पष्ट लिखा था कि यह योजना आन्तरिक संघर्ष, अव्यवस्था और फूट को जन्म देगी। इसका मसौदा पढ़ने में ही डरावना लगता है। यदि इसे कांग्रेस के सामने रखा गया, तो पार्टी का एक-एक व्यक्ति बुरी तरह बौखलाएगा और इसे सख्त नापसन्द करेगा।

माउण्टबेटन के आलोचकों ने उन्हें 'अनावश्यक रूप से आत्मविश्वासी' कहने में कभी संकोच का अनुभव नहीं किया है जबकि वह ऐसे व्यक्ति थे जो हमेशा दोनों पहलुओं पर विचार करके आगे बढ़ता है और हार के क्षणों में भी उपयोगिता ढूंढ़ लेता है। इसीलिए; नेहरू जी के उन तीखे शब्दों ने माउण्टबेटन को खिझाया नहीं।

उन्होंने तुरन्त दूसरे पहलू पर गौर किया कि अच्छा हुआ, जो मैंने सहयोगियों की अनिच्छा के बावजूद योजना का मसौदा जवाहरलाल को दिखा दिया। अगर दिखाए बिना ही यह योजना मैंने कांग्रेस के सामने रख दी होती तो? अभी तो अकेले जवाहरलाल रुष्ट हैं। उस सूरत में पूरी कांग्रेस पार्टी रुष्ट हो जाती। सारा खेल अभी भी हाथ में है। योजना में जरूरी फेर-बदल किया जा सकता है।

यह वायसराय का सौभाग्य था कि इतने तीखे मतभेद का आघात लगने के बावजूद जवाहरलाल नेहरू के साथ उनकी दोस्ती में कोई दरार न पड़ी। उनके आग्रह पर नेहरू जी एक रात और रुकने के लिए तैयार हो गए, ताकि आवश्यक परिवर्तन कर के प्रस्ताव को कोई ऐसा रूप दिया जा सके, जिससे कांग्रेस के सामने रखे जाने पर उसे स्वीकृति मिल जाने की अधिकतम संभावना रहे।

योजना के उन सभी छिद्रों को मूंदना होगा, जिनके कारण नेहरू जी उतने बौखला गए थे। नए प्रारूप में राजाओं और रजवाड़ों से कहा जाएगा कि उन्हें दो में से किसी एक का ही चुनाव करना है—भारत या पाकिस्तान। अपनी सत्ता अलग जमाने का सपना उन्हें नहीं देखना है।

बंगाल की एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में कल्पना मिट चुकी थी। बंगाल का पूर्वी हिस्सा अब पाकिस्तान का ही एक अंग बनेगा। फलस्वरूप, पाकिस्तान को दो सिरों वाले राष्ट्र की उपाधि मिल जाएगी। माउण्टबेटन जानते थे जिन्ना का यह दो सिरों वाला राष्ट्र ज्यादा दिनों तक चल नहीं पाएगा। कुछ समय बाद लॉर्ड माउण्टबेटन ने सी.आर.राजगोपालाचारी के सामने निस्संकोच यह भविष्यवाणी कर दी थी कि पूर्वी बंगाल चौथाई शताब्दी के बीतते-बीतते पाकिस्तान से अलग हो चुका होगा। राजगोपालाचारी वह व्यक्ति थे, जिन्होंने माउण्टबेटन के बाद वायसराय का पद सम्भाला, यदि केवल एक साल के फर्क को ध्यान में न रखा जाए, तो माउण्टबेटन की उक्त भविष्यवाणी बिल्कुल सच निकली—तीव्र संघर्ष कर के 1971 में बंगला देश पाकिस्तान से अलग हो गया।

विभाजन की उस योजना को नए सांचे में ढालने के लिए माउण्टबेटन ने एक ऐसे व्यक्ति को बुलाया, जिसकी पोजीशन उनके स्टाफ के तमाम भारतीयों के बीच सब से ऊंची थी। यह संयोग सचमुच मसखरीपूर्ण था कि उतनी नाजुक जिम्मेदारी जिस व्यक्ति को सौंपी गई, वह उस प्रशासनिक तन्त्र का सदस्य था ही नहीं, जिसका हौवा उन दिनों कम बड़ा नहीं था—इण्डियन सिविल सर्विस। ऑक्सफोर्ड या कैम्ब्रिज की भी कोई डिग्री उस के रुतबे में चार चांद लगाने को प्रस्तुत नहीं थी। न वह इतने ऊंचे परिवार से आया था कि दिन-दूनी, रात चौगुनी तरक्की करता निकल जाता। वायसराय के स्टाफ में जो एक से बढ़कर एक सम्भ्रांत कर्मचारी थे, उनके बीच वी.पी.मेनन को फिट करना आसान नहीं था। आत्म-निर्माण और आत्म-निर्भरता का आदर्श उदाहरण वी.पी. मेनन के रूप में जीवन्त हुआ था।

तेरह साल की कच्ची उम्र में स्कूल का त्याग करके वी.पी. मेनन को रोजी कमाने के लिए निकलना पड़ा। बारह सदस्यों के परिवार का सबसे बड़ा लड़का वही था। मामूली मजदूर के रूप में उसने ठेकों पर, फैक्ट्रियों में और कोयले की खदानों में काम किया। फिर उसे "सदर्न इण्डियन रेलवेज" में भट्टी सम्भालने की नौकरी मिली। उसने कपास की दलाली और स्कूल में मास्टरी के भी प्रयोग किए, जिसमें सफलता न मिल सकी। आखिर उसने केवल दो उंगलियों से टाइप करना सीखा और 1929 में शिमला में, भारत सरकार की नौकरी पाई।

इसके बाद वी.पी. मेनन धूमकेतु की तरह ऊपर चढ़ता गया। सरकारी नौकरी के बीच शायद ही किसी की तरक्की की तेजी उतनी रही हो, जितनी वी.पी.मेनन की। सन् 1947 में आते-आते मेनन की हैसियत ऐसी हो चुकी थी कि वायसराय के स्टाफ में सबसे वरिष्ठ लोगों के बीच वह बैठने लगा था। माउण्टबेटन का विश्वास उस पर शीघ्र ही जम गया। इस विश्वास को स्नेह में बदलते देर न लगी।

माउण्टबेटन ने मेनन को सावधान किया कि भारत को आजादी दिलाने जा रहे इस मसौदे को, शाम होते-होते नया रूप मिल जाना चाहिए। मसौदे का मूल मन्त्र है विभाजन, जो ज्यों-का-त्यों रहेगा। शेष मुद्दों को चाहे जिस रूप में बदला जाए, किन्तु सर्वोपरि भावना यह

रहनी चाहिए कि भारत के साथ जुड़ना है या पाकिस्तान के साथ, इसका फैसला स्वयं जनता के हाथ में हो। प्रादेशिक संसदों के माध्यम से जनता अपना फैसला सामने रख सकती है।

माउण्टबेटन के आदेशानुसार, मेनन ने अपना काम शाम होते-होते पूरा कर लिया। ऑफिस के पोर्च में बैठकर, हिमालय के विहंगम दृश्य का आनन्द लेते हुए, लंच से डिनर के बीच फैले समय में, याने मुश्किल से छह घंटों तक काम करके, एक ऐसे व्यक्ति ने भारतीय आजादी को नए सांचे में ढालने का गौरव प्राप्त किया, जिसने अपनी सरकारी नौकरी दो उंगलियों से टाइपिंग करते हुए शुरू की थी। उसने जो मसौदा दुबारा लिखकर तैयार किया, उस आधार पर भारतीय उपमहाद्वीप को नए सिरे से व्यवस्थित किया जाना था और दुनिया का नक्शा भी बदल जाने वाला था।

एपेण्डिसाइटिस का तेज हमला मनु के छरहरे बदन को बार-बार झकझोर रहा था। धर्मपिता ने उसे कई कम्बल ओढ़ा रखे थे, किन्तु व्यर्थ। तेज बुखार ने मनु की आंखों की चमक ही खत्म कर दी थी। पेडू में दर्द की जो असहनीय लहरें बार-बार उठ रही थीं, उन्हें सहने की शक्ति पाने की कोशिश में मनु का शरीर अपने आप गर्भस्थ शिशु जैसी मुद्रा में सिमट गया था। खामोश और चिन्तित गाँधी जी उसके सिरहाने से हट नहीं रहे थे।

फिर से एक ऐसी स्थिति सामने थी, जो गांधी जी के विश्वासों को गहरी चुनौती दे रही थी। उन्होंने हमेशा नैसर्गिक उपचार को सर्वश्रेष्ठ माना था। आधुनिक औषधि विज्ञान की उन्होंने यह कहकर भर्त्सना की थी कि इसमें मनुष्य की केवल शरीरिक क्षमताओं की चिन्ता की जाती है, आत्मा की शक्ति बढ़ाने की परवाह कभी नहीं की जाती। जो बीमारियां संयम और आत्म-नियंत्रण से दूर हो सकती हैं, उन्हीं को यह विज्ञान-दवाओं और गोलियों से ठीक करना चाहता है। इस विज्ञान के महारथी सेवा धर्म की भावना से नहीं, बल्कि केवल अपनी जेब गर्म करने के इरादे से इलाज करते हैं।

गांधी जी कहते थे कि देश में ऐसी जड़ी-बूटियों की कमी नहीं, जो ईश्वर के प्रसाद जैसी हैं और सभी बीमारियों का इलाज कर सकती हैं। गांधी जी के अनुसार अहिंसा धर्म में विश्वास रखने वाला, नैसर्गिक उपचार में विश्वास रखता ही है। आगा खान के महल में जब गाँधी जी की पत्नी अन्तिम सांसें गिन रही थीं, तब डॉक्टर ने इन्जेक्शन की सलाह दी थी और महात्मा ने साफ मना कर दिया था, क्योंकि शरीर में सुई चुभोने जैसे कार्य से भी अहिंसा का सैद्धान्तिक विरोध होता था।

जब मनु ने पेडू में दर्द की शिकायत की, तो गांधी जी ने उसे नैसर्गिक उपचार देना शुरू किया-वही एनीमा, वही परहेज, वही मिट्टी के पेक.........

मनु की दशा बिगड़ती चली। 36 घंटे बीतते-बीतते मामला नाजुक हो चला। नैसर्गिक उपचारों के भक्त होने के बावजूद महात्मा गांधी ने आधुनिक दवाओं का अध्ययन भी काफी विस्तार से किया था। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि उनकी धर्मपुत्री को किस बीमारी ने अपने शिंकजे में कस लिया है।

वह जानते थे कि मनु वही करेगी, जैसा वह आदेश देंगे। उनके प्रति मनु का विश्वास कितना गहन है, इसका परिचय एक नहीं अनेक बार मिल चुका था। गांधी जी की अकुलाहट की सीमा नहीं थी, क्योंकि उनका नैसर्गिक उपचार काम नहीं कर रहा था। उनके अनुसार उपचार की विफलता का एक ही अर्थ था—कि उनकी और मनु की मिलीजुली आत्मिक शक्ति भी पर्याप्त तीव्र नहीं बन पा रही। जैसा कि गांधी जी ने बाद में लिखा.., लेकिन मुझ में इतना साहस नहीं था कि मेरे प्रति उस सीमा तक समर्पित मनु को भी मैं चुपचाप मृत्यु का वरण करते देखता रहूं।

गांधी जी ने हार मान ली और मानते ही वह भीतर-बाहर से टूट गए, बिखर गए। जिस व्यक्ति ने अपनी पत्नी को इन्जेक्शन लगवाने से भी साफ इन्कार इस आधार पर कर दिया था कि शरीर में सुई का प्रवेश होते ही अहिंसा का सिद्धान्त टूट जाएगा, जिसने सिद्धान्त की रक्षा के लिए पत्नी को चुपचाप मर जाने दिया था, उसी ने 'घोर अनिच्छा से' अपनी मरणासन्न धर्म पुत्री पर ऑपरेशन के औजार चलाने की इजाजत डॉक्टर को दे दी। मनु को तुरन्त अस्पताल के आपात वार्ड में ले जाया गया।

वहां, जब उसे बेहोश किया जा रहा था, गांधी जी ने उसकी आंखों को स्नेह से छूते हुए कहा, "राम का नाम न भूलना.... सब ठीक हो जाएगा......"

कुछ घण्टों बाद, एक डॉक्टर ने सहसा गौर किया कि महात्मा के चेहरे का रंग एकदम उड़ा हुआ है। डॉक्टर चौंका। महात्मा को थाम कर वह एक किनारे ले गया और कातर स्वर में निवेदन करने लगा कि इतने दुखी न होइए। ऑपरेशन ही एक मात्र उपाय था। मनु बहन ठीक हो जाएगी। अपने-आपको सम्भालिए।

देश को आपकी सेवाओं की जरूरत है.......सख्त जरूरत.......

उसकी ओर शिकायत भरी नजरों से देखते हुए गांधी जी ने उत्तर दिया, "किसे जरूरत है मेरी? किसी को नहीं। जो कुर्सियों पर बैठे हैं, उन्होंने मुझे छोड़ दिया। जनता भी मुझे भूल [illegible] लगती है। अब तो एक ही इच्छा रह गई है..... राम का नाम लेता हुआ राम की ही शरण पहुंच जाऊं...... बस........ "

❑❑❑

7

'महल और शेर, हाथी और जवाहिरात'

लन्दन, नए साल का पहला दिन, 1947

पटियाला के आठवें महाराजा, हिज हाइनेस, यादवेन्द्र सिंह की आंखें, अपने महल की खिड़की में से, सुबह के आकाश पर टिकी थीं। गहरे सोच में डूबे हुए थे वह।

यादवेन्द्रसिंह एक ऐसी संस्था के अध्यक्ष थे, जो पूरी दुनिया में अपने जैसी एकमात्र थी। वैसी संस्था न भूतकाल में कभी बनी, न भविष्य में कभी बनने वाली थी। उसका नाम था ''चैम्बर ऑफ इंडियन प्रिन्सेज'' यादवेन्द्रसिंह को उसका चान्सलर बनाया गया था।

जिस युद्ध ने हिरोशिमा को गिराया और विश्व की नींव हिला डाली, उसे खत्म हुए लगभग दो साल गुजर चुके थे। भारत में अब भी 565 राजा-महाराजा, नवाब, शहजादे अपने-अपने राज्यों पर निरंकुश शासन चलाते थे। भारतीय भूखंड का एक तिहाई हिस्सा उन्हीं के कब्जे में था। भारत की चौथाई आबादी उन्हीं के आदेशों को सर्वोपरि मानती थी। ये राजे-महाराजे वंश-परम्परा में गदियाँ पाते जाते थे।

वे इस बात के जीते-जागते सबूत थे कि अंग्रेज एक भारत पर नहीं, बल्कि दो भारतों पर राज्य करते थे। एक भारत वह था, जिस की केन्द्रीय सरकार दिल्ली में थी और जिसे अंग्रेज स्वयं संचालित करते थे। दूसरा वह, जिसका संचालन अंग्रेजों की तरफ से या उनके आशीर्वाद से, राजे-महाराजे किया करते।

दरअसल, अंग्रेजों ने भारत-विजय का कोई सुनियोजित कार्यक्रम नहीं बनाया था। जब जहां मौका मिला, तब वहां का भू-भाग उन्होंने जीत लिया। फलस्वरूप बहुत से राजा काबू में आ जाने के बाद भी बहुत से बेकाबू रह गए। आखिर अंग्रेजों ने एक ऐसा तरीका जारी किया, जो उनके लिए सुविधाजनक और राजाओं के लिए काफी सम्मानजनक था।

राजाओं को अपने सिंहासनों पर बने रहने की अनुमति दे दी गई, बशर्ते वे सर्वोपरि सत्ता के रूप में इंग्लैण्ड को स्वीकार करें। इस आशय की सन्धि राजा और इंग्लैण्ड के सम्राट के बीच बाकायदा हो जाया करती। उक्त राजा सम्राट के प्रतिनिधि वायसराय को, अपने विदेश विभाग और सुरक्षा विभाग का नियन्त्रक मान लेता।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत; कई देशी शासक इतने विशाल क्षेत्रों पर शासन चलाते थे, जो आकार या आबादी में पश्चिमी यूरोप के अनेक राष्ट्रों की बराबरी कर सकते थे। मसलन, हैदराबाद और कश्मीर।

ठीक विपरीत, कई रजवाड़े इतने पिद्दी थे कि लन्दन का रिकमण्ड पार्क भी उनसे बड़ा बैठ सकता था। उनके शासक महलों में नहीं, मकानों में रहा करते। काठियावाड़ में इसके अनेक आदर्श उदाहरण थे। कुछ राजा इतने अमीर थे कि दुनिया भर में मशहूर हो जाएं। कुछ इतने गरीब कि उनके राज्य की आय केवल खेत-खलिहानों की आय जैसी मालूम पड़े।

चार सौ से भी ज्याद रजवाड़े ऐसे थे, जिनका क्षेत्रफल बीस वर्ग मील से अधिक नहीं था। उनमें से कईयों का शासन इतने अच्छे ढंग से चलता कि उतना सुन्दर शासन तो अंग्रेजों का भी नहीं था। दूसरी तरफ, अनेक राजा ऐसे भी थे, जो प्रजा के हितों का ध्यान रखने की अपेक्षा अपनी वासना को नित नए रंगों से रंगते रहते और राज्य की आय का किसी भी सीमा तक अपव्यय करने से न हिचकते।

उन राजे-महाराजों की राजनीतिक या व्यक्तिगत गतिविधियां चाहे जो रही हों, इस सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता कि 1947 के मई मास में, उन देसी शासकों ने गम्भीर स्थिति पैदा कर दी थी।

भारतीय उपमहाद्वीप को नए सिरे से व्यवस्थित करने की कोई भी योजना, चाहे वह कितनी ही सन्तुलित और सुदृढ़ क्यों न होती, तब तक सफल नहीं हो सकती थी, जब तक उसे उन विचित्र राजे-महाराजों का अनुमोदन न मिल जाता। यदि औसत निकालें तो उनमें से प्रत्येक के पास 11 पदवियां, 5.8 पत्नियां, 12.6 बच्चे, 9.2 हाथी, 2.8 निजी रेल डिब्बे, 3.4 रॉल्स-रॉएस कारें थीं और प्रत्येक ने 22.9 शेरों का शिकार किया था।

गांधी नेहरू और कांग्रेस के सामने भली-भांति स्पष्ट था कि रजवाड़ों का हश्र क्या होना चाहिए। छोटे-बड़े प्रत्येक रजवाड़े का विलय जब तक स्वतन्त्र भारत में नहीं किया जाएगा, तब तक एक महान देश का उदय कैसे होगा?

किन्तु विलय का प्रस्ताव यादवेन्द्रसिंह को, या उन जैसे अन्य अनेक राजा-महाराजाओं को पसन्द नहीं था। यादवेन्द्रसिंह का पटियाला राज्य पंजाब के बीचों बीच स्थित था और भारत के सबसे धनी राज्यों में गिना जाता था। उसकी सेना इतनी बड़ी थी कि जैसे पूरा एक डिवीजन। शक्ति-संचय के लिए उसके पास सेन्चूरियन टैंक भी थे।

उस सुबह......

'चेम्बर ऑफ इण्डियन प्रिन्सेज' के चान्सलर के चेहरे पर चिन्ता और अकुलाहट के बादल छाए हुए थे। विचारों में खोए महाराजा यादवेन्द्रसिंह अपनी 'बेड टी' की चुस्कियां ले रहे थे। मई माह की उस सुबह, यादवेन्द्रसिंह को एक ऐसी बात मालूम थी, जो भारत के वायसराय तक की जानकारी में नहीं थी। उन्हें मालूम था कि उनके पटियाला राज्य से 6000 मील के फासले पर याने कि लन्दन में, एक व्यक्ति जी-जान से उन कोशिशों में भिड़ा हुआ है, जिनसे देशी राजाओं के भविष्य के साथ वह खिलवाड़ न की जा सके, जो कि नेहरू जैसे समाजवादियों के दिमाग में घर कर चुकी थी।

लन्दन में भारतीय रजवाड़ों के विलय का विरोध कर रहा वह व्यक्ति स्वयं कोई राजा नहीं बल्कि एक अंग्रेज था। वायसराय की जानकारी से बचकर वह चुपके से लन्दन पहुंच गया था। सर कॉनरैड कॉरफील्ड नामक वह अंग्रेज एक मिशनरी का बेटा था और भारतीय रजवाड़ों की सेवा में ही उसने अपने कैरियर का अधिकांश समय बिताया था।

रजवाड़ों से वह इस कदर मुहब्बत करने लगा था कि रजवाड़ों के हित को ही वह भारत का हित समझता था। नेहरू और कांग्रेस के नाम से वह उतना ही खार खाता था, जितने कि स्वयं वे राजे-महाराजे।

सन् 47 के उस मई माह में, कॉरफील्ड का पद था वायसराय के राजनियक सचिव का। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मतभेदों को सुलझाने के पीछे भारत आने के साथ, लॉर्ड माउण्टबेटन इतने व्यस्त हो गए थे कि कॉरफील्ड के साथ चर्चाएं करने के लिए विशेष समय नहीं निकाल पाए थे। कॉरफील्ड के मनोबल में इससे जरा भी कमी नहीं आई थी। जब नेहरू और माउण्टबेटन की दोस्ती बढ़ती चली, तो कॉरफील्ड की आशंकाएं भी बढ़ीं और उसने व्यक्तिगत रूप से लन्दन जाकर अपने प्रिय रजवाड़ों के हितों की रक्षा का अभियान चला दिया।

सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इण्डिया के लन्दन कार्यालय में कॉरफील्ड ने जो तर्क सामने रखा, वह कानूनी कसौटी पर पूर्णतः खरा उतरता था। यदि महामना सम्राट द्वारा उस तर्क को स्वीकार कर लिया जाता, तो आजादी मिलते ही भारत के शरीर में इतने छिद्र हो जाते कि शिमला में लुटिया डूब जाने का ऐलान करके बौखलाने वाले जवाहरलाल नेहरू ने भी उतने अधिक छिद्रों का आभास नहीं पाया था।

कॉरफील्ड ने कहा कि देशी रजवाड़ों ने अपनी शक्तियां केवल महामना सम्राट के आगे समर्पित की हैं—किसी भी अन्य व्यक्ति के आगे नहीं। फलस्वरूप सम्राट का शासन जब भारत से हटेगा तो सभी रजवाड़ों को उनकी शक्तियां अपने आप वापस मिल जाएंगी।

अब यह पूर्णतः रजवाड़ों पर आधारित रहना चाहिए कि वे भारत के साथ जाएं या पाकिस्तान के साथ, अथवा, स्वतंत्र ही बने रहना चाहें। इससे न्यून कोई भी स्थिति, महामना सम्राट के साथ की गई सन्धियों का सरासर अपमान ही करेगी।

कॉरफील्ड का न्यायसिद्ध तर्क भी लन्दन में जड़ें न जमा सका, यह कॉरफील्ड का दुर्भाग्य था।

रुडयार्ड किपलिंग ने लिखा है कि ईश्वर ने महाराजाओं को खास इसलिए पैदा किया जिससे मानव जाति को दमदार धूमधड़ाका देखने के अवसर मिल सकें।

राजा उग्र होते या नम्र, समृद्ध होते या गरीब, वीर होते या कायर...... राजा नाम से ही लोगों को हाथी-घोड़ों की, हीरे-जवाहिरात की,सुन्दरियों और शिकार की याद आ जाती। भारतीय राजाओं से जुड़ी दन्तकथाएं और परिकथाएं तो दुनिया भर में कही और सुनी जाने लगी थीं।

उन्हीं राजाओं का अन्त अब नजदीक था।

स्मरणीय है कि जिन राजाओं के कारण, अजीबोगरीब कहानियां सारी दुनिया में प्रचलित हुई, उनकी संख्या विशेष बड़ी नहीं थी। यह कहना गलत होगा कि सभी राजा एक जैसे भोगी-विलासी और सनकी थे। अजीबोगरीब कार्यों के लिए सबके पास न तो समय था न, रुझान।

फिर भी जिन्हें कोई लत पड़ जाती। जिनके दिमाग में कोई सनक समा जाती, जो एकाएक किसी धुन के वशीभूत हो जाता; वह अपनी आकांक्षाएं पूरी करने के लिए जमीन-आसमान मिला देता। कार, शिकार, खेलकूद, हरम और महल इन सबसे ऊपर एक ऐसा शौक था, जो अधिकांश महाराजाओं में दिखाई पड़ता था। हीरे-जवाहिरात।

बड़ौदा के महाराज के लिए कहा जा सकता है कि कीमती पत्थरों और सोने की तो जैसे वह बकायदा पूजा करते थे दरबार में पहनने की उनकी पगड़ी सोने के तारों से बुनी जाती। राजा की पगड़ी की उस नाजुक बुनाई का अधिकार केवल एक परिवार को था। उसके हर सदस्य को अपने उंगलियों के नाखून लम्बे-लम्बे बढ़ाने पड़ते। हर नाखून को कंघी के दांतों की तरह काट दिया जाता। फलस्वरूप, वैसे नाखूनों में सोने के तार फंसा कर बेहद कलात्मक बुनाई करना, उस परिवार के लिए सम्भव हो जाता।

महाराजा बड़ौदा के पास अनेक ऐतिहासिक हीरे थे। उनमें 'स्टार ऑफ द साउथ' भी शामिल था जो दुनिया के सात बड़े हीरों में गिना जाता था। नेपोलियन तृतीय ने यूजीन को जो हीरा उपहार स्वरूप दिया था, वह भी उनके संग्रह में आ गया था।

उनके खजाने की सबसे कीमती और सनसनीखेज चीज थी परदों और मेजपोशों आदि का वह संग्रह, जिसमें बुनाई का सारा काम मोती पिरोकर किया गया था और बीच-बीच में आकर्षक डिजाइनें बनी हुई थीं--केवल मानिक और नीलम से जगमगाती डिजाइनें।

महाराजा भरतपुर का संग्रह और भी विशिष्ट कहा जाएगा। उनकी मास्टर पीस चीजें हाथी-दांत की बनी हुई थी। एक-एक चीज के पीछे किसी सम्पूर्ण परिवार का वर्षों का परिश्रम लगा हुआ था।

कपूरथला के सिख महाराज की पगड़ी में जो पुखराज लगा था, वह संसार में सबसे बड़ा था। उसके आसपास 3000 हीरे-मोती जड़े हुए थे। जयपुर महाराजा का जबर्दस्त खजाना राजस्थान की किसी पहाड़ी में दबा हुआ था, जिसकी रक्षा पीढ़ियों से एक ही राजपूत लड़ाकू परिवार करता आ रहा था। हर महाराजा को जीवन में केवल एक बार वह खजाना दिखाया जाता, ताकि वह ऐसे पत्थरों और जवाहिरात का चुनाव कर सके, जिनके सगुन के जोर पर उसका राज्य दिन दूनी राज चौगुनी तरक्की करता जाए। उस खजाने की एक अद्‌भुत चीज थी वह गले का हार, जिसमें मानिक की एक-पर-एक तीन झालरें सी लगी हुई थीं। उनमें तीन जबर्दस्त नीलम गुंथे हुए थे। झालरों का एक-एक मानिक इतना बड़ा था, जैसे कबूतर का अण्डा। सबसे बड़े मानिक का वजन 90 केरेट था।

पटियाला के सिख महाराजा के संग्रह में, सर्वाधिक दिव्य वस्तु थी, मोतियों की एक ऐसी माला; जिसका 'लाएड्स' ने दस लाख पौण्ड का बीमा उतारा था।

मैसूर के एक प्राचीन महाराजा को किसी चीनी साधु ने बताया कि दुनिया की सर्वाधिक कामोद्दीपक वस्तु है हीरों का चूर्ण। इस दुर्भाग्यपूर्ण जानकारी ने राज्य के सैकड़ों हीरों को चूर्ण के रूप में पिसवा दिया। हरम की उन सुन्दरियों को, जिन्हें उस कामोद्दीपक चूर्ण के कारण सर्वाधिक लाभान्वित होना चाहिए था, हाथी पर बिठा कर राज्य भर में घुमाया गया। प्रत्येक हाथी की सूंड मानिक की लड़ियों से लदी हुई थी। उनके बड़े-बड़े कानों में जबर्दस्त छल्ले पहनाए गए। ये छल्ले उन हीरों द्वारा निर्मित हुए थे, जो महाराजा के खजाने में 'चूर्ण अभियान' के बावजूद बच गए थे।

महाराजा-बड़ौदा जब अपने 100 वर्षीय हाथी पर सवार होकर घूमने निकलते, तो चमक-दमक और रौब-रुतबे का एक अलग ही माहौल तैयार होता। उस जबर्दस्त हाथी ने बीस भीषण हाथियों को अपने दन्तशूल से मौत के घाट उतारा था। उसके बदन पर हौदा, झालर आदि जो कुछ भी रखा जाता; सब सोने का उस प्रचण्ड पशु के प्रत्येक कान से सोने की दस-दस मालाएं झूला करतीं। हर माला उसकी एक-एक विजय का प्रतीक थी और हरेक का मूल्य पच्चीस हजार पौण्ड से कम नहीं आंका गया था।

न केवल लोककथाओं में, बल्कि व्यवहार में भी, हाथी एक ऐसा आवागमन का साधन था, जिसे भारतीय राजाओं ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपना रखा था, हाथियों का धार्मिक महत्व भी कम नहीं था। हिन्दू-विश्वासों के अनुसार, इस विश्व को अपनी अतुल शक्ति के जोर पर जिन्होंने थाम रखा था, वे हाथी ही हैं। आकाश हाथियों के सहारे खड़ा है और बादल भी उन्हीं के बूते पर टिके हैं। मैसूर का महाराजा, साल में एक एक बार, अपने फीलखाने के सबसे प्रचण्ड हाथी को दण्डवत् प्रमाण किया करता, ताकि प्रकृति की शक्तियों के साथ उसका सामंजस्य बना रहे।

फीलखाने में किस उम्र और शक्ति के कितने हाथी खड़े हैं, इस आधार पर राजा की महत्ता का मूल्यांकन हो जाता। हर साल, दशहरे के अवसर पर, मैसूर में हाथियों का

अलौकिक प्रदर्शन होता। एल्प्स पर्वतों को भी पार कर जाने वाले विजेता हनिबाल को यदि अपवाद स्वरूप छोड़ दिया जाए, तो दुनिया में अन्य किसी व्यक्ति के पास उतने हाथी नहीं थे, जितने मैसूर-महाराजा के पास। मस्तक पर सोने और जवाहिरात की झालरें धारण किए, फूलों की सुगंधित चादरों से ढके-ढके, एक हजार हाथी जब शहर के सदर रास्तों पर जुलूस निकालते, तो शोभा देखते ही बनती।

सबसे मजबूत हाथी को इसका गौरव मिलता कि महाराजा का हौदा उठाकर वह आगे-आगे चले। हौदा क्या था, सोने का भीमकाय पिण्ड ही था, जिस पर महाराजा के शासनाधिकार का प्रतीक छत्र लगा रहता। हौदे की गद्दी सोने की कसीदाकारी के मखमल से ढकी रहती।

पीछे-पीछे दो और विशिष्ट हाथी चलते। उसी तरह फूलों और सोने से सजे हाथी, जिनकी पीठ पर सोने के ही भारी-भरकम हौदे लदे होते-सूने। सचमुच उन हौदों में कोई भी बैठा हुआ न होता। उन्हें देखते ही जनता एकदम शान्त हो जाती। माना जाता था कि उन सूने हौदों में महाराजा के पुरखों की आत्माएं आकर बैठती हैं।

महाराजा बड़ौदा द्वारा आयोजित हाथियों के युद्ध इतने प्रचण्ड होते कि मिसाल ढूंढ़े न मिले। गांजा-अफीम पिला कर और अंकुश चुभो-चुभो कर दोनों हाथियों को दीवाना बना दिया जाता। क्रोध से चिंघाड़ते और फूत्कार करते हुए, जब वे धड़ाम से टकराते। तो धरती डोल जाती, आकाश सहम जाता जीवित चट्टानों का वह युद्ध तब तक चलता रहता, जब तक कोई एक चट्टान मौत के घाट उतर कर धूल में न मिल जाती।

पूर्वी भारत में, धैनकैनाल का राजा भी, हाथियों के माध्यम से अपने मेहमानों का मनोरंजन करता था, किन्तु उसके तरीके में दिव्यता और प्रचण्डता की कोई कमी न होने के बावजूद, रक्तपात की घोर कमी हुआ करती; हालांकि कभी किसी मेहमान ने इस घोर कमी की शिकायत नहीं की। फीलखाने के सब से चुनिन्दा हाथी और सब से सुन्दर हथिनी के सम्भोग का सार्वजनिक प्रदर्शन करने वाला वह राजा, अपने मेहमानों के सम्मुख, निस्संदेह एक असाधारण दृश्य रखा करता था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से पहले, ग्वालियर के एक महाराजा को सूझा कि बंकिंघम पैलेस, इंग्लैंड में जो सबसे बड़ा झाड़फानूस है, उससे भी बड़ा झाड़फानूस मेरे महल में होना चाहिये। ऐसा झाड़फानूस वेनिस में तैयार भी हो गया, मगर किसी ने महाराजा से कहा कि क्या आपके महल की छत उसका बोझ सह सकेगी?

महाराजा ने फीलखाने में से अपना सबसे बड़ा हाथी बुलवाया और येन-केन प्रकारेण उसे छत के साथ बाकायदा लटका कर दिखा दिया कि महल की छत की मजबूती की दशा क्या है। उक्त शंकालु व्यक्ति को अपने प्रश्न का उत्तर अपने-आप मिल गया।

भारत में जब मोटर-कार का आगमन हुआ, तो हाथियों की महत्ता घट गई और उनका मूल्य केवल सजावटी रह गया। पहली कार, जो भारत में आयात हुई, अपने-आप

महाराजा पटियाला के गैरेज में पहुंच गई। उसका कोई और हश्र हो नहीं सकता था। उसका नाम था द' द्यो बूतों। वह फ्रान्स में बनी और 1892 में भारत आई। उसकी लाइसेन्स प्लेट पर नम्बर अंकित हुआ—'0', जो उसकी ऐतिहासिक महत्ता को अपने आप स्थापित कर देता था।

हैदराबाद के निजाम ने एक मितव्ययी व्यक्ति के रूप में बड़ा नाम कमाया था। जीवन में कभी उन्होंने एक कौड़ी भी फालतू खर्च नहीं की। स्वयं के लिए कारें हासिल करते समय भी निजाम ने वही व्यवहार किया, जो उन्हें अपनी शोहरत के अनुसार करना चाहिए था। राजधानी में ज्यों ही किसी शानदार कार पर उनकी शाही नजरें पड़ती, त्यों ही उस कार के मालिक के नाम वह सन्देश भिजवा देते कि इस हसीन चीज को हम तोहफे के रूप में हासिल करके बड़े खुश होंगे। सन् 47 के आते-आते, निजाम को सैकड़ों कारें तोहफे के बतौर मिल चुकी थीं। गैरेजों में वे समाए न समातीं। उनमें से अधिकांश का निजाम ने कभी उपयोग नहीं किया।

रॉल्स-रॉयस कार भारतीय राजाओं के बीच सर्वाधिक लोकप्रिय थी। केवल कार नहीं, स्टेशन-वैगन और ट्रकों के रूप में भी वे रॉलय-रॉयस ही मंगवाया करते। महाराजा पटियाला के पास सत्ताई जबर्दस्त रॉल्स-रॉयस थी, जिनके बीच '0' नम्बर वाली एक ऐतिहासिक नन्ही बूतों आखिर खो गई। भारत की सर्वाधिक रोमांचक रॉल्स-रॉयस गाड़ी महाराजा-भरतपुर की मानी जाती थी। चांदी की मढ़ी उस गाड़ी की छत उठाई-गिराई जा सकती थी। लोग कहते थे कि उनमें से रहस्यमय, अदृश्य किरणें फूटती हैं, जो कामोद्दीपक हैं। अगर किसी ऊंचे घराने को अपने वैवाहिक समारोह में उपयोग करने के लिए महाराजा की कार मिल जाती, तो वह धन्य हो जाता। शिकार का ताम‌झाम लेकर चलने के लिए भरतपुर नरेश ने एक रॉल्स-रॉयस अलग से मंगवाई। वह कार इतनी मजबूत, तेज-रफ्तार और आरामदायक थी कि 1921 में जब प्रिन्स ऑफ वेल्स भारत आए, तो उन्हें और साथ में लॉर्ड लुई माउण्टबेटन को भी, उसमें बिठाकर भरतपुर नरेश शिकार पर निकले। भारत के भावी वायसराय ने उस रात अपनी डायरी में नोट किया था, कार थी या तूफान? ऊबड़खाबड़ मैदानों, पत्थरों और छिद्रों पर से वह दनदनाती हुई निकल जाती थी। वह ऐसे उठती और ऐसे गिरती, जैसे समुद्र में नौका........

रॉल्स-रॉयस श्रेणी से परे, लंकास्टर कम्पनी की एक गाड़ी महाराजा अलवर के पास थी। वह खास महाराजा के ही दिए नक्शे पर तैयार की गई थी और निस्सन्देह भारत की सबसे महंगी गाड़ी थी। अन्दर और बाहर, दोनों तरफ से वह सोने द्वारा मढ़ी गई थी। उसका कलात्मक स्टियरिंग व्हील हाथी-दांत का था और शोफर के बैठने की गद्दी भी सोने की कसीदाकारी वाली थी। उसकी सीट हूबहू उस कोच जैसी बनाई गई थी, जिस पर इंग्लैण्ड के राजा मुकुट धारण करने के बाद बैठा करते। उस भारी-भरकम राक्षसी कार के यंत्र में ऐसी न जाने कौन-सी खूबी थी कि सड़क पर वह 70 मील प्रति घण्टे की स्पीड से भाग सकती थी।

चुंगी, राजस्व और कर आदि अनेक माध्यमों से, सारे राज्य में जो धन-वसूली होती, उसे अपने मन-मुताबिक खर्च करने की खुली छूट राजाओं को मिली हुई थी। उन्होंने अपनी सनकों को सन्तुष्ट करने के फेर में कई अजीबोगरीब दृश्यों और घटनाओं को जन्म दिया। मसलन—

बिजली की ट्रेनों पर महाराजा ग्वालियर जान देते थे। ग्वालियर का शासन भारत के श्रेष्ठतम शासनों में से एक था। वहां के महाराजा ने लोहे की एक जबर्दस्त मेज बनवाई। उस पर ठोस चांदी की पटरियां बिठाई, जिसकी लम्बाई 250 फीट से भी ज्यादा थी। यह मेज भोजन कक्ष में रख दी गई। दीवार में छेद करके पटरियों को इस प्रकार आगे बढ़ाया गया कि उस जबर्दस्त मेज का संबंध राजसी रसोईघर से जुड़ गया।

अब एक कण्ट्रोल पैनल की रचना हुई। उसमें न जाने कितने स्विच थे, अलार्म थे, सिग्नल थे, लीवर और एसिलरेटर थे। यह पैनल मेज पर फिट कर दिया गया।

नरेश के मेहमान मेज के चारों तरफ बैठते। स्वयं नरेश कण्ट्रोल पैनल के सामने डट जाते। स्विच दबाते। लीवर उठाते-गिराते। न जाने क्या-क्या खटर-पटर करते। चांदी की पटरियों पर ट्रेन दौड़ती, रुकती, सरकती, फिसलती। वह रसोईघर में जाती, जहां उसके खुले डिब्बों में कर्मचारी-गण सब्जी, चपाती आदि रख दिया करते। माल से लदी हुई ट्रेन वापस भोजन कक्ष में आती। महाराजा में क्षमता थी कि वह मन चाहे मेहमान के सामने ट्रेन को रोक सकते थे ताकि वह अपनी मनचाही चीज उठाकर खा सके। इसी प्रकार महाराजा में यह क्षमता भी थी कि वह मनचाहे मेहमान को भूखा रख सकते थे। इसके लिए कण्ट्रोल पैनल के कुछ खास बटन दबा देना ही काफी था। माल से लदी लदाई ट्रेन बेचारे मेहमान के सामने रुकती ही नहीं, सर्र से आगे निकल जाती।

एक शाम, जब भोजन पर स्वयं वायसराय अपने साथियों समेत आमन्त्रित थे, ट्रेन के कण्ट्रोल पैनल में शार्ट-सर्किट हो गया। माल से लदी ट्रेन रसोई घर में से, तीर की तरह आई और तूफान की तरह मेज की परिक्रमा करने लगी। रुकने का नाम ही न ले। खुले डिब्बों में से सब्जी, दाल, घी, तेल अचार आदि उछल-उछल कर मेहमानों के कपड़ों पर गिरने लगा। मेहमान तौबा बोल गए। रेलों के इतिहास में वैसी गम्भीर दुर्घटना पहले कभी नहीं हुई थी।

जूनागढ़-नरेश को कुत्ते पालने का अजब शौक था। उनके प्रिय कुत्तों के कमरों में न केवल बिजली, पानी आदि की सुविधा रहती, टेलीफोन भी लगे होते। नौकर-चाकर उन कुत्तों की सेवा में हमेशा तैनात रहते। जूनागढ़ की समस्त प्रजा के बीच अगर दस-बीस लोगों को अपवाद-स्वरूप छोड़ दिया जाता, तो शायद ही किसी मनुष्य का जीवन स्तर उतना ऊंचा था, जितना कि उन कुत्तों का।

जूनागढ़-महाराजा ने अपनी प्रिय कुतिया रोशन की शादी एक लैब्राडॉर कुत्ते बॉबी के साथ की, जिसमें पूरे भारत के हर प्रसिद्ध व्यक्ति और छोटे-बड़े हर राजे-महाराजे को, यहां

तक कि वायसराय को भी, सहर्ष आमंत्रित किया गया। वायसराय तो, खैर, क्या आते, लेकिन शेष मेहमानों में से अधिकांश का शुभ आगमन हुआ–डेढ़ लाख लोगों का ठठ जमा हो गया। निहायत जानमारू बारात निकाली, जिसमें महाराजा के समस्त हाथियों और अंगरक्षकों ने भाग लिया। सबको शानदार भोजन दिया गया।

इस धूम-धड़ाके में महाराजा का साठ हजार पौण्ड खर्च हुआ। इतने में तो उनके राज्य की छह लाख बीस हजार की आबादी में से बारह हजार लोगों को पूरे एक साल तक पाला-पोसा जा सकता था।

अनेक महाराजाओं के महल ताजमहल से भी बड़े थे। सुरुचि की कसौटी पर वे ताजमहल के समकक्ष खड़े नहीं हो सकते थे, लेकिन जहां तक दीर्घता का सवाल था, ताजमहल तो क्या, स्वयं वायसराय का भवन भी, उनके सामने फीका पड़ जाता।

महाराजा कपूरथला ने वरसेलीज के महल की सैर करते समय अचानक महसूस किया कि पिछले जन्म में वह लुई चौदहवें थे, बस क्या था। उन्होंने ठान लिया कि अपने नन्हें से राज्य में वह उसी रोब-रुतबे का निर्माण करेंगे, जिससे सबको बरबस लुई चौदहवें की याद आ जाए। हिमालय की तराई में उन्होंने वरसेलीज के महल की हूबहू कॉपी खड़ी करवाई, जिसके लिए फ्रांस से कारीगर बुलाए गए। इस प्रति महल की इंच-इंच सजावट वरसेलीज के महल जैसी रखी गई। फ्रेंच को राजभाषा घोषित किया गया। दरबार के सिख कर्मचारी पाउडर सने विग पहनकर लुई चौहदवें के दरबारियों जैसी पोशाक में तैनात रहा करते।

कई महाराजाओं के सिंहासन भी भव्यता में अपना सानी नहीं रखते थे। मनुष्य ने अपने कूल्हे टिकाने के लिए उन सिंहासनों से ज्यादा कीमती और आरामदायक किसी चीज का निर्माण कभी नहीं किया।

मैसूर के सिंहासन में एक टन ठोस सोना खप गया था। उस तक पहुंचने के लिए सोने के नौ चरण बने हुए थे। हिन्दुओं की एक धर्मकथा के अनुसार, भगवान विष्णु ने एक बार पूरे विश्व को नौ कदमों में नाप लिया था। सिंहासन के नौ चरण उन्हीं नौ कदमों के प्रतीक थे।

उड़ीसा का सिंहासन एक जबर्दस्त पंलग जैसा था। वह पलंग जैसा ही हो सकता था, क्योंकि वह रानी विक्टोरिया के उस पलंग की हूबहू कॉपी था, जिसमें रानी ने विवाहोपरान्त शयन किया। उड़ीसा के राजा ने उसे लन्दन की एक दुकान से खरीदा था। सिंहासन का रूप देने के लिए राजा ने उस पर अनेक हीरे-मोती जड़वाए।

रामपुर के नवाब का सिंहासन एक बहुत बड़े हॉल में रखा गया था। इस हॉल के खम्भे सफेद संगमरमर के थे। जो खम्भे सिंहासन के चारों ओर लगे थे, उन पर सुन्दरियों की नग्न मूर्तियां बनाई गई थीं। सिंहासन में एक ऐसी सुविधा भी रखी गई थी, जिसे मूलतः लुई चौदहवें के दिमाग की उपज माना जाता है। सोने की कसीदाकारी वाली उसकी गद्दी में एक खास जगह छेद कर दिया गया था। इस छेद के नीचे शाही बर्तन रखा रहता। जब भी जरूरत

पड़ती, नवाब साहब नवाबी ढ़ंग से हिलते-डुलते और उस छेद पर फिट होकर अपने आपको हल्का कर लेते। राजकाज पर वह इतना अधिक ध्यान देते थे कि हल्के होने के लिए भी सिंहासन से उतर कर कहीं जाते नहीं थे।

1947 के भारत में शेरों की संख्या बीस हजार के आसपास थी। राजा-महाराजा उनका शिकार शौक से किया करते। भरतपुर नरेश जब केवल आठ साल के थे, तब अपना पहला शेर नार चुके थे। पैंतीस की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते उन्होंने इतने शेर मारे कि उनके चमड़े सी-सी कर महल के सभी स्वागत कक्षों में बतौर कालीन के बिछा दिए गए। यह नैसर्गिक कालीन उन कमरों की दीवार-से-दीवारों तक खिंचा हुआ था।

भरतपुर राज्य में ही बतख के शिकार का एक नया रिकार्ड कायम किया गया था। वायसराय लार्ड हार्डिज के सम्मान में, मात्र तीन घण्टों में, 4482 बतखें गोली से उड़ा दी गई थीं।

ग्वालियर महारराजा ने अपने जीवन काल में 1400 शेरों का शिकार किया और चुनिन्दा पाठकों के लिए एक पुस्तक भी लिखी, 'ए गाइड टू टाइगर शूटिंग'।

यह समस्या राजाओं को अक्सर भारी पड़ जाती कि अपना समय कैसे गुजारें। शिकार समय गुजारने का एक अच्छा माध्यम था। उसी तरह सुन्दरियों का शिकार भी वे समय गुजारने के लिए किया करते। शिकार के इन दोनों क्षेत्रों में पटियाला के सातवें महाराज सर भूपिन्दरसिंह ने जो नाम कमाया, वह अनेक के लिए ईर्ष्या का विषय रहा।

वह अपनी पोलो टीम 'टाइगर्स आफ पटियाला' के कप्तान थे। दुनिया भर के पोलो मैदानों में इस टीम ने अपने जौहर दिखाए। पदकों और ट्राफियों से भूपिन्दर सिंह का कमरा भर गया। कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि पोलो में दक्ष जो 500 घोड़े सर भूपिन्दरसिंह के पास थे, वे इस धरती पर सर्वश्रेष्ठ गिने जाते थे।

अभी मसें भी नहीं भींगी थीं कि भूपिन्दरसिंह ने अपने उस शौक को सरेआम उजागर कर दिया, जो राजा-महाराजाओं पर बेहद शोभायमान होता है—सुन्दरियों के मजे! ज्यों-ज्यों समय बीता, शिकार और पोलो से भी ज्यादा शौक उन्हें सुन्दरियों का चर्राता गया। हरम में आने वाली प्रत्येक सुन्दरी की जांच परख वह व्यक्तिगत रूप से किया करते। कसौटी केवल रूपरंग की नहीं, बल्कि इसकी भी होती कि काम-कला में सुन्दरी कितनी दक्ष और निडर है। चरमोत्कर्ष पर सर भूपिन्दरसिंह के हरम में 350 सुन्दरियां थीं।

गर्मी के दिनों में हरम के दरवाजे खुल जाते, ताकि सुन्दरियां महाराजा के स्वीमिंग पूल का आनन्द ले सकें। शाम का समय होता और महाराजा के आदेशानुसार स्वीमिंग पूल के कगार पर, अनेक ऐसी सुन्दरियां खुली-खुली बैठ जातीं, जो अपने वक्ष को खुला रखतीं और पैरों से उस पानी को छपछपाती रहतीं, जिसमें बर्फ के बड़े-बड़े टुकड़ों के बीच उनके दीर्घकाय महाराज भी तैर रहे होते। तैर कर इधर जाते, उधर जाते, किसी सुन्दरी से शराब का पेग लेकर पीते, कभी इसका वक्ष दबाते कभी उसका—और डुबकी।

सर भूपिन्दरसिंह के शयन-कक्ष की दीवारों और छत पर वे मैथुन-मुद्राएं अंकित थीं, जिन्हें उन मन्दिरों से कॉपी किया गया था, जिनकी मैथुन-मूर्तियों ने भारत को कम प्रसिद्धी नहीं दिलाई है। कामी से कामी व्यक्ति की तेज से तेज कल्पना भी जहां नहीं पहुंच सकती, वहां वे मैथुन मुद्राएं पहुंच गई थीं। रेशमी गद्दों वाला एक शानदार झूला महाराज के शयन-कक्ष में लगा था। उसका सहारा लेकर, गुरुत्वाकर्षण के नियमों की पूर्ण उपेक्षा करते हुए, महाराज अजब ढंग से उलट-पलट जाते या अपनी साथिन को उलटा-पलटा देते, ताकि दीवारों और छत पर अंकित जो मैथुन-मुद्राएं असम्भव सी लगती हों, उन्हें सम्भव साबित किया जा सके।

वासना ने अपने ज्वालामुखी को शान्त करने के लिए महाराजा पटियाला ने एक ऐसा कार्यक्रम जारी किया; जिससे समय-समय पर परितर्वन शील उनकी रुचियों के अनुसार हरम की सुन्दरियों को भी नए संस्कार दिए जा सकें। सर भूपिन्दरसिंह ने अपने हरम के दरवाजे इत्र-फुलेल के उस्तादों, जौहरियों, नाइयों, सौन्दर्य विशेषज्ञों और दर्जियों के लिए सहर्ष खोल दिए। यहाँ तक कि उन्होंने फ्रान्सीसी, इंग्लिश और भारतीय प्लास्टिक सर्जनों की एक टीम भी तैयार कर डाली, जिस का काम था महाराज की प्रिय सुन्दरियों के शरीर में समय-समय पर ऐसे रद्दोबदल करते रहना, जो महाराजा की चंचल रुचि चाहती हो या जो लन्दन की फैशन पत्रिकाओं ने सुझाया हो।

अपने राजसी रागरंग को और भी गहरा करने के लिए महाराजा ने हरम के एक हिस्से में जो प्रयोगशाला खुलवाई, उसकी परखनलियों में एक से बढ़कर एक कामोत्तेजक सुगन्धों, लेपों, गोलियों और तेलों का उत्पादन होने लगा।

इन तमाम अकुलाहटपूर्ण गतिविधियों का परिणाम वही हुआ, जो कि हो सकता था। महाराजा के आनन्द महल में जो 350 कामदग्ध सुन्दरियां बन्द थी, उनकी छटपटाहट का मुकाबला कोई एक अकेला नर कर नहीं सकता था—चाहे वह इतना शक्तिशाली क्यों न होता कि नाश्ते में दो-दो मुर्ग उड़ा दे और दिन भर में बीस पौण्ड चीजें आराम से खा-पी जाए। इस शानदार खुराक ने छह फीट चार इंच लम्बे उस पोलो-खिलाड़ी को 300 पौण्ड वजन और मस्ती भरी आंखों का उपहार दिया था। खिलाड़ी के होठों पर ही वासना और अधिकार की रेखाएं थिरकती महसूस होतीं। इसके बावजूद वह नर अकेला था और मादाऐं थीं साढ़े तीन सौ। कामोद्दीपन के नित नए उपाय ढूढ़ने के लिए नर अभिशप्त था। उसके हकीमों और वैद्यों ने सोने, चांदी, लोहे, मोती और जड़ी-बूटियों इत्यादि से अजीबोगरीब चीजें बनाई और खिलाई। एक चीज तो ऐसी थी, जिसमें गौरेया का दिमाग पीसकर मसले हुए गाजर में मिलाया गया।

किस चीज ने महाराजा को कितना लाभान्वित किया, यह रहस्य हमेशा रहस्य बना रहेगा, किन्तु वे लाभ शीघ्र ही लुप्त होने लगे। अपने पुरुषत्व की पुनर्स्थापना के लिए महाराजा ने खास फ्रांस से तकनीशियन बुलवाए, जिन्हें वह इस क्षेत्र में सबसे ज्यादा घुटे हुए समझते

थे। उन्होंने महाराजा को रेडियम का उपचार दिया, किन्तु इसका भी जादू एक-दो दिन ही चल सका। दरअसल महाराजा की बीमारी कुछ और थी, उपचार किसी और का किया जा रहा था। महाराजा को अपने पुन्सत्व के प्रति आशंकित होने की कोई आवश्यकता थी ही नहीं। उनकी वास्तविक समस्या तो वह थी, जो उन जैसे अन्य अनेक शासकों के सामने मुंह बा कर खड़ी थी। उस बीमारी का नाम था—बोरियत। महाराजा पटियाला की जान जब निकली, तो इसी बोरियत के कारण निकली।

ईश्वर से आक्रान्त भारत देश में राजा-महाराजाओं ने स्वयं को ईश्वर के नाना रूपों के साथ जोड़ लिया, जो कि स्वाभाविक था और अनिवार्य भी। मैसूर के महाराजा स्वयं को चन्द्र भगवान का वंशज कहते थे। उदयपुर के महाराजा सूर्य भगवान के वंशज कहलाया करते।

पवित्र गाय, धर्म का पर्याय बन चली थी। बनारस के शासक का नियम था कि सुबह उनकी पहली नजर गऊ माता पर ही पड़नी चाहिए। हर सुबह, शयन-कक्ष की खिड़की पर एक गाय खड़ी कर दी जाती। नौकर उसे कोंचते। वह रम्भाती। इससे नरेश क नींद खुलती। पहली नजर गाय पर!

एक बार बनारस नरेश अपने दोस्त नवाब रामपुर के यहां गए। सुबह, बनारस नरेश की उक्त परम्परा ने समस्या खड़ी कर दी; क्योंकि उन्हें महल की दूसरी मंजिल पर सुलाया गया था। वहां, शयन-कक्ष की खिड़की तक, गाय कैसे पहुंचाई जाए? आखिर, खास इसी उद्देश्य के लिए, नवाब-रामपुर ने ताबड़तोड़ एक क्रेन खरीदवाई।

क्रेन द्वारा गाय को जब दूसरी मंजिल की खिड़की तक उठाया जाता, तो उस हवाई यात्रा की अभ्यस्त न होने के कारण बेचारी गऊ माता जोरों से रम्भाने लगती। इसके लिए उन्हें नौकर द्वारा कोंचे जाने की जरूरत न पड़ती। रम्भाना सुनकर जब बनारस नरेश की नींद खुलती, तो पहली नजर गऊ माता पर ही पड़ने की उनकी शर्त सहर्ष पूरी हो जाती।

ऐसे थे राजे-महाराजे। जैसे भी थे, पिछले दो सौ वर्षों से उन्हीं को आधार बनाकर भारत में अंग्रेजों ने अपना राज खड़ा कर रखा था। उन्हीं की आपसी फूट से प्रेरित होकर अंग्रेजों ने 'फूट डालो, राज करो' वाली अपनी कुख्यात नीति विकसित की थी। इसी नीति के आधार पर उनका भारत राज सीना तान कर खड़ा रहा।

सैद्धान्तिक रूप से—

किसी भी राजा-महाराजा को गद्दी से उतारना अंग्रेजों के लिए असम्भव नहीं था। इसके लिए उन्हें मात्र इतना करना होता कि उस राजा-महाराजा पर आरोप लगाते, ''आप में शासन करने की योग्यता नहीं है।''

किन्तु, जब तक कोई खास बात न हो अंग्रेज उन्हें छेड़ते नहीं थे। जब तक किसी राजा की सेना अंग्रेजों की सहायता के लिए उपलब्ध रहती, तब तक अंग्रेज उसे योग्य शासक मानते रहते। ये 'योग्य शासक' अपने राज्य में पूरी मनमानी कर सकते थे। पूछने वाला कोई

नहीं था। यहां तक कि अगर वे चार-छह कत्ल कर डालते, तो भी 'योग्य शासक' ही माने जाते। वे भी जानते थे कि जिस क्षण उन्होंने अंग्रेजों को सैनिक सहायता देने में हीलाहवाला किया, उसी क्षण अपनी 'योग्यता' से हाथ धोया।

इसीलिए, अंग्रेजों को खुश रखने की गरज से, कई बार वे राजा न केवल अपनी सेना उन्हें देते, बल्कि सेना का ओज पूर्ण संचालन करने के लिए स्वयं भी साथ हो जाते। देश-विदेश के अनेक मोर्चों पर उन्होंने अंग्रेजों के कन्धे-से-कन्धा भिड़ा कर अपने अद्भुत शौर्य का परिचय दिया था।

आभार-प्रदर्शन में भी अंग्रेजों की तरफ से कोई कंजूसी नहीं बरती जाती थी। राजा-महाराजाओं को वे तरह-तरह की पदवियां देते और हीरे-मोतियां के उपहार भी। ग्वालियर-कूच-बिहार और पटियाला के नरेशों को यह सम्मान मिला था कि जब एडवर्ड सातवें का राज्याभिषेक हुआ, तो शाही बग्घी की बगल से घोड़ों पर सवार होकर चलने वालों में ये तीनों नरेश भी शामिल थे। उन्हें खास इस अवसर के लिए ए.डी.सी. मनोनीत किया गया था।

ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय, राजा-महाराजाओं को, मनोनीत डिग्रियां देकर सम्मानित किया करते। अंग्रेजों की नजर में कौन-सा राजा कितना ऊंचा है, इसका मूल आधार यह नहीं था कि वह राजा कितने बड़े प्रदेश का स्वामी है, बल्कि यह था कि उसकी अंग्रेजों के प्रति वफादारी कितनी बढ़ी-चढ़ी है। जिस राजा का मूल्यांकन जितना ऊंचा होता, उसे उतनी ही ज्यादा तोपों की सलामी दी जाती। किसे कितनी तोपों की सलामी दी जाए, यह तय करना वायसराय का काम था। सलामी में तोपों की संख्या को वायसराय घटा-बढ़ा सकता था और दण्डस्वरूप खत्म भी कर सकता था। सबसे बड़ी सलामी 21 तोपों की थी, जो 5 शासकों को मिलती थी—हैदराबाद, ग्वालियर, कश्मीर, मैसूर और बड़ौदा।

इससे छोटी सलामियां क्रमश: उन्नीस, सत्रह, पन्द्रह, तेरह, ग्यारह और नौ तोपों की थीं। देश के राजाओं, नवाबों, दीवानों आदि के बीच 425 शासक इतने शक्तिहीन और महत्वहीन थे कि उन्हें एक भी तोप की सलामी का अधिकार नहीं था।

पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा ने कई देशी शासकों को इतना सम्भ्रान्त और दूरदर्शी बना दिया था। कि उनके इलाकों का अमन-चैन अंग्रेजों के इलाकों से भी बढ़-चढ़ कर था।

बड़ौदा-महाराजा ने एक से अधिक विवाह करने का रिवाज गैर-कानूनी घोषित किया। बीसवीं शताब्दी शुरू होने से पहले ही बड़ौदा में शिक्षा नि:शुल्क एवं अनिवार्य कर दी गई थीं। बड़ौदा-महाराजा के अछूतोद्धार कार्यक्रम गांधी जी के कार्यक्रमों जितने प्रसिद्ध न होते हुए भी, उनकी और महात्मा की भावनाओं में कहीं कोई अन्तर नहीं था। महाराजा ने अछूतों के लिए विशिष्ट शिक्षण-संस्थाएं खड़ी की और उस व्यक्ति को अपने निजी खर्च पर न्यूयार्क के कोलंबिया विश्वविद्यालय में शिक्षित किया, जो आगे चलकर अछूतों का नेता बना—डॉ. भीमराव अम्बेडकर।

जलाभाव से त्रस्त राजस्थान की प्रजा को राहत देने के लिए बीकानेर-महाराजा ने भागीरथ प्रयास करके अपने क्षेत्र को झीलों और बगीचों से लाद दिया।

भोपाल के शासक ने महिलाओं को पुरुष की बराबरी का दर्जा दिया और उनका मान इतना बढ़ाया, जितना देश में अन्यत्र कहीं नहीं था। मैसूर में एशिया का सर्वश्रेष्ठ विज्ञान-संकाय थी और वहां विशाल बांधों द्वारा जल विद्युत पैदा करके विभिन्न उद्योगों को जीवन्त किया जा रहा था।

दुनिया की अत्यन्त आधुनिक वेधशाला जयपुर-महाराजा ने अपनी राजधानी में स्थापित और विकसित की। उन्होंने यूक्लिड की पुस्तक 'रेखागणित के सिद्धान्त' का संस्कृत में अनुवाद भी किया था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद शासकों की जो नई पीढ़ी उभरकर सामने आई, उसमें दिखावा कम था और समझदारी अधिक। अपने पिताओं और प्रपिताओं के प्रति वे ज्यादा भावुक नहीं थे और उनकी भूलों को पूरी निष्पक्षता से पहचान सकते थे । प्रजा को नई सुविधाएं और नई रोशनी देने की आवश्यकता से वे खूब परिचित थे। गद्दी पाने के साथ पटियाला के आठवें महाराजा यादवेन्द्रसिंह ने तुरन्त जो काम किए, उनमें से एक यह भी था कि अपने पिता, सर भूपिन्दसिंह द मैग्निफिशेन्ट, का हरम उन्होंने बन्द कर दिया।

ग्वालियर के महाराजा ने एक अत्यन्त मामूली व्यक्ति की कन्या से विवाह इस आधार पर कर लिया कि वह असाधारण विदुषी थी। महाराजा ने अपने पिता के विशाल भवन का त्याग करना भी आवश्यक समझा।

भारत के दो रजवाड़े ऐसे थे, जिनके शासकों को 21 तोपों की सर्वोच्च सलामी दी जाती थी और जिनके लिए लन्दन में सर कॉनरैड कॉरफील्ड द्वारा चलाए जा रहे अभियान का महत्व अत्यन्त गम्भीर था।

दोनों रजवाड़ों का क्षेत्रफल बहुत बढ़ा-चढ़ा था। दोनों में से किसी के भी पास समुद्री किनारा नहीं था। दोनों के शासकों का धर्म अपनी बहुसंख्यक प्रजा से भिन्न था। दोनों शासक एक ही तरह का सपना संजोए बैठे थे। अपने-अपने राज्यों को वे स्वतंत्र राष्ट्र का रूप देना चाहते थे।

अनेकानेक पदवियों के स्वामी, हैदराबाद के सातवें निजाम को, भारत के तमाम राजा-महाराजाओं के बीच, निस्सन्देह सबसे विकट व्यक्ति कहा जाना चाहिए। वह अत्यन्त धर्म-परायण और पढ़े लिखे मुसलमान थे। भारत के सबसे बड़े और अत्यन्त घनी आबादी के राज्य हैदराबाद पर वह अपने मुसलमान साथियों के सहयोग से शासन करते थे। भारतीय उप-महाद्वीप के दिल जैसी जगह पर यह राज्य बैठा हुआ था—बीचों-बीच। उस में दो करोड़ प्रजा हिन्दू थी और तीस लाख मुसलमान।

केवल पांच फीट तीन इंच ऊंचे निजाम साहब इतने छरहरे व्यक्ति थे कि उनका वजन मुश्किल से नब्बे पौण्ड तक पहुंचता था। पान का अत्यधिक सेवन वह वर्षों से करते [illegible] , उन के दांत लाल-भूरे होकर एक दम सड़ गए थे। उन्हें हर क्षण यह

डर लगा रहता कि कोई ईर्ष्यालु दरबारी जहर दे देगा। एक ऐसा व्यक्ति वह हमेशा साथ रखते जो उनके द्वारा खाई-पी जाने वाली प्रत्येक वस्तु पहले स्वयं चखकर देखता मिठाइयां, फल, क्रीम, पान और राज को अफीम........ तमाम चीजें, पहले वह चखता और बाद में निजाम खाते।

निजाम वह एक मात्र देशी शासक थे, जिन्हें आभारी अंग्रेजों ने 'एग्जाल्टेड हाइनेस' की अत्यन्त उच्च पदवी दी. क्योंकि प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान इंग्लैण्ड को ढ़ाई करोड़ पौण्ड की आर्थिक सहायता निजाम ने ही दी थी।

1947, में निजाम इस धरती के सबसे धनी व्यक्ति माने जाते थे। उनकी दौलत कितनी बेशुमार है, इस की विचित्र कथाओं का मुकाबला केवल वे कथाएं कर सकती थीं, जो निजाम की कंजूसी को लेकर प्रचलित थीं।

वह बिना इस्तरी किया सूती पायजामा पहना करते। मामूली दाम पर स्थानीय बाजार से खरीदी गई घटिया चप्पलें पैरों में पड़ी होती। अपने सिर पर, पिछले 35 वर्षों से, वह एक ही मैलीकुचैली फैज पहन रहे थे।

निजाम लगभग एक सौ ऐसे संस्थानों के स्वामी थे, जहां सोने के पात्रों में चीजें परोसी जाती थीं, लेकिन स्वयं वह मामूली टिन-प्लेटों में भोजन किया करते—अपने शयन-कक्ष में बिछी दरी पर बैठकर। वह इतने दरिद्र मन के व्यक्ति थे कि अगर कोई मेहमान अपने पीछे सिगरेट का टोटा छोड़ जाता, तो वह उसी को उठाकर पीने लगते।

यदि वह किसी राजकीय समारोह में लोगों को शैम्पेन पिलाने पर मजबूर हो जाते, तो उनकी गिद्ध-नजरें हमेशा बोतलों पर ही टिकी रहती। बोतलों और उनके बीच फासला ज्यों-ज्यों बढ़ता, त्यों-त्यों उनकी अकुलाहट बढ़ती जाती। लॉर्ड वैवेल, 1944 में, वायसराय ही हैसियत से हैदराबाद के दौरे पर आने वाले थे। तब निजाम ने दिल्ली तार भेजकर बाकायदा पुछवाया कि क्या वायसराय महोदय, युद्ध के दिनों की ऐसी महंगाई के बावजूद, शैम्पेन पीने का ही आग्रह रखेंगे?

इंगलिश रेजिडेण्ट, हर हफ्ते, निजाम से मिलने आया करता। निजाम और रेजिडेण्ट, दोनों ही के लिये, वफादार नौकर चाय का सिर्फ एक कप, एक बिस्किट और एक सिगरेट पेश करता। उस इतवार को रेजिडेण्ट महोदय जब मिलने आए, तो उनके साथ कोई सम्मानित सज्जन और भी थे। निजाम ने अपने नौकर के कान में फुसफुसा कर कुछ कहा।

नौकर उन सम्मानित सज्जन के लिए नाश्ते की अलग ट्रे ले आया। उस ट्रे में भी मात्र ये चीजें थीं—चाय का एक कप, एक बिस्किट, एक सिगरेट।

अधिकांश राज्यों में रिवाज था कि साल में एक बार प्रमुख नागरिक अपने शासक के सामने सोने की कोई चीज लाकर, सांकेतिक उपहार के रूप में रखते। शासक उस चीज को छूता, फिर उसके स्वामी को वही वापस कर देता।

वापस करने की अपेक्षा निजाम हर चीज को लपक कर ले लेते और सिंहासन की बगल में रखे कागज के थैले में डालते जाते। एक बार सोने का कोई सिक्का नीचे गिर कर लुड़कने लगा। निजाम उसके पीछे इस बुरी तरह लपके कि घुटनों और हथेलियों के बल चलने लगे। आखिर सिक्के के स्वामी ने ही उसे दौड़कर उठाया और निजाम को दिया।

निजाम का इलेक्ट्रो-कार्डियोग्राम लिया जाना था जिसके लिए बम्बई से डॉक्टर आया। महल में डॉक्टर जब अपना यंत्र चालू न कर सका, तो उसे आश्चर्य हुआ कारण की खोजबीन हुई, तो पता चला कि निजाम ने उस कमरे का करण्ट ही कटवा रखा था, ताकि बिजली का बिल ज्यादा न आए। छोटा या बड़ा कोई यंत्र उस कमरे में सक्रिय नहीं हो सकता था।

निजाम का शयन-कक्ष चरम सीमा की गरीबी और फूहड़ता का साक्षात् अवतार था अत्यन्त पुराना पलंग। टूटी टेबल। सड़ी हुई तीन कुर्सियां। राख से लदी-ऐश ट्रे कचरे से सनी रद्दी की टोकरियां। शाही कागजात के धूल-सने ढेर। कोने-कोने में मकड़ी के जालों का जंगल।

निजाम की रद्दी की टोकरियां और ऐश-ट्रे वर्ष में मात्र एक बार साफ की जाती थी—जब निजाम अपना जन्म दिन मनाते।

इन सब के बावजूद, उनके महल के कोने-कोने में ऐसा ऐश्वर्य बिखरा हुआ था, जिसका मूल्यांकन भी आसान नहीं। उनकी मेज के ड्राज में, पुराने अखबार में लिपटा, सुप्रसिद्ध 'जैकब' हीरा पड़ा था, जिसका आकार नीबू जितना था। वह 280 कैरेट का था, दूर से ही चमचमाता। निजाम उसे पेपरवेट की तरह उपयोग करते। उनके उपेक्षित बगीचे की कीचड़ में दर्जन भर ट्रक खड़े थे, जो लदे हुए माल के वजन के कारण, बुरी तरह धंसे जा रहे थे। माल था-सोने की ठोस ईंटें। उनके जवाहरात का खजाना इतना बड़ा था कि लोग कहा करते, "यदि केवल मोती-मोती निकालककर चादर की तरह बिछाए जाएं, तो पिकाडिली सरकस के सारे फुटपाथ ढंक जाएं।" माणिक, मुक्ता, नीलम, पुखराज आदि के टोकरे भर-भर कर तलघरों में रखे हुए थे—जैसे कि कोयले के टोकरे भरे हों।

निजाम के पास स्टर्लिंग, रुपयों आदि मुद्राओं में बीस लाख पौण्ड से भी ज्यादा रकम नगद पड़ी हुई थी। ये मुद्राएं पुराने अखबारों में लपेटकर तलघरों और बरसातियों में धूलभरे फर्श पर छोड़ दी गई थी। वहां चूहे थे और चूहों के दांत होते हैं। कितनी रकम, हर साल, उन चूहों के पैने दांतों के प्रताप से, निजाम के अतुल खजाने में से कम हो जाती होगी, इसका हिसाब विश्व में किसी के पास नहीं।

निजाम की सेना खासी मजबूत थी। सेना का अपना तोपखाना था और हवाई-जहाज भी। सच पूछें तो........ अपने राज्य को आजाद देश का दर्जा देने के लिए निजाम के पास सब कुछ था अलावा दो चीजों। एक तो बन्दरगाह और दूसरा, जनता का स्नेह-सहयोग।

निजाम की बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा अपने मुसलमान शासकों को पसन्द नहीं करती थी। इसके बावजूद, वह महाकंजूस सनकी शासक, जिसका राज्य फ्रांस से आधे के बराबर विस्तार में फैला हुआ था, अपने रजवाड़े को स्वतन्त्र राष्ट्र बना देने का सपना देखने में किसी से पीछे नहीं था।

इसी सपने की मशाल, देश के दूसरे छोर पर, एक और शक्तिशाली राजा के सीने में सुलग उठी थी। दुनिया के सबसे सुन्दर वादियों के क्षेत्र कश्मीर का राजा हरिसिंह जो एक उच्च ब्राह्मण परिवार में पैदा हुआ था, निस्सन्देह हिन्दू था और उसकी चालीस लाख प्रजा की बहुसंख्या निस्सन्देह मुसलमान थी। तिब्बत को यदि दुनिया की छत कहा जाता है, तो कश्मीर को दुनिया की बरसाती कहा जाना चाहिए। हिमालय की अद्‌भुत पवर्तमाला को गवाह रखकर जिस कर्श्मीर ने अपने सौन्दर्य का विकास किया है, उसके सामरिक महत्व का भी जवाब नहीं। उसकी सरहद चीन और अफगानिस्तान को छूती थी और भावी पाकिस्तान को भी छूने वाली थी—एक ही बिन्दू पर।

हरिसिंह एक ऐसा शासक था, जिसमें निर्णय करने की शक्ति नहीं थी। यदि कोई निर्णय हो जाता, तो उस पर टिके रहना हरिसिंह के लिए असम्भव था। उसकी शीतकालीन राजधानी जम्मू में और ग्रीष्मकालीन राजधानी श्रीनगर में थी, जिसे पूरब का वेनिस कहा जाता है। हरिसिंह खाने-पीने का शौकीन आदमी था। गद्दी पर आने के साथ उसने शासन सुधार के कुछ प्रयास किए अवश्य, लेकिन उन्हें जल्द ही छोड़कर तानाशाह-पद्धति अपना ली और राजनीतिक विरोधियों को जेलों में झोंक दिया।

हरिसिंह के नवीनतम कैदी का नाम था जवाहरलाल नेहरू, जिसे इस अपराध पर गिरफ्तार किया गया कि उसने उस कश्मीर में कदम रख दिए थे, जहां कि वह पैदा हुआ था, कश्मीर की सरहदों की रक्षा करने का खासा ठीकठाक इन्तजाम हरिसिंह के पास था। निजाम की तरह हरिसिंह का भी, अपने रजवाड़े को स्वतन्त्र राष्ट्र बना देने का सपना, दिनोंदिन पुख्ता होता जा रहा था........

❑❑❑

8

'नियति द्वारा अभिशप्त वह दिवस'

लन्दन; मई, 1947

वी.पी. मेनन द्वारा आननफानन में तैयार की गई नई विभाजन-योजना का मसौदा साथ लिए हुए, वायसराय लॉर्ड माउण्टबेटन स्वयं उड़ान भरकर लन्दन आए थे, ताकि एटली सरकार के सामने स्पष्ट कर सकें कि शिमला में जवाहरलाल नेहरू की तीखी प्रतिक्रिया के कारण एकाएक गड़बड़ी हुई।

'किन्तु इस नई संशोधित योजना को कांग्रेस पार्टी अवश्य स्वीकार कर लेगी।' लॉर्ड माउण्टबेटन ने प्रधानमंत्री एटेली को किस प्रकार विश्वास दिलाया।

एटली ने कहा, ''प्रधानमंत्री भले ही मैं हूं, लेकिन इंग्लैण्ड की चाबी अब भी विन्स्टन चर्चिल के हाथ में है। जब तक उनकी सहमति नहीं मिलती, मेरी या मेरी पार्टी की सहमति का कोई अर्थ नहीं।''

माउण्टबेटन को अच्छी तरह मालूम था कि भारत को आजादी देने का विचार ही चर्चिल की नजरों में अलावा पागलपन के कुछ नहीं है। ''हाउस ऑफ लॉर्डस'' में चर्चिल के बहुमत को देखते हुए, भारत की आजादी का विधेयक पास करने का सवाल पूरे दो वर्षों तक घपले में पड़ सकता था—यदि चर्चिल ने इस बार भी माउण्टबेटन से मात्र एक छोटा-सा शब्द कह दिया, ''नहीं।''

जबकि माउण्टबेटन अच्छी तरह जानते थे कि दो वर्षों तक भारत को संभाले रहना अंग्रेज सरकार के लिए कतई संभव नहीं होगा। जातीय दंगों के बारूद से दबा भारत विस्फोटों से घिर जाएगा। भारत की आन्तरिकता की धज्जियां उड़ जाएंगी......

माउण्टबेटन के तमाम तर्कों को चर्चिल ने बेमन से सुना। उसकी आँखें आधी मुंदी हुई थीं। भारत के सामने गृह-युद्ध का जो खतरा है, वह कितना डरावना और गम्भीर है, इस बाबत लॉर्ड माउण्टबेटन ने बहुत कुछ कहा, लेकिन चर्चिल ने कितना सुना, कितना नहीं, भांपना मुश्किल रहा।

विभाजन की नई योजना के मसौदे के अलावा, माउण्टबेटन एक ऐसा तर्क भी अपने साथ लाए थे, जिसे चर्चिल के सामने जब रखा गया, तो उस सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ की जिद कुछ ढीली पड़ने लगी। माउण्टबेटन का वह तर्क, तर्क कम था और खुशखबरी अधिक।

उन्होंने चर्चिल को बताया कि भारत और सम्भावित पाकिस्तान, दोनों देशों को, कॉमनवेल्थ की सदस्यता ग्रहण करने के लिए राजी कर लिया गया है। चर्चिल को अब पहली बार लगा कि भारत उपमहाद्वीप पर से अंग्रेजों की परछाई हट जाने के बाद भी इंग्लैण्ड के साथ उसका सम्बन्ध पूर्णतया कट नहीं जाएगा। विपत्ति के क्षणों में वह रोमांचक उपमहाद्वीप निस्संकोच आकर इंग्लैण्ड के द्वार खटखटा सकेगा।

चर्चिल ने आखिर भारत देश के विभाजन की उस नई रूपरेखा को, अपना आशीर्वाद दे ही दिया।

नई दिल्ली; मई-जून, 1947

भारत के आकाश में, एकाएक अनेक चिताएं जल उठीं, जिनका धुंआ भूरे-काले खम्भों के रूप में बड़ी ऊंचाइयों तक उठ चला। चे चिताएं बहुत हड़बड़ी में सजाई गई थीं। उनमें न चन्दन की लकड़ी का उपयोग हुआ, न शुद्ध घी। उनकी ऊंची लपटों को घेरकर जो खड़े थे, वे मंत्रोच्चार करते ब्राह्मण नहीं, बल्कि भावनाहीन चेहरों और खमोश जुबानों वाले उच्च अधिकारी थे—अंग्रेज सरकार के गोरे अधिकारी।

वे ऊंची लपटें किन्हीं लाशों का नहीं, बल्कि उन फाइलों, रिपोर्टों, फोटोग्राफों और दस्तावेजों इत्यादि का भक्षण कर रही थीं, जिनका वजन लगभग चार टन था और जिन्हें वर्षों की लगन और मेहनत के बाद एकत्र किया गया था। उन्हें जल्द-से-जल्द खाककर देने के आदेश सर कॉनरैड कॉरफील्ड ने जारी किए थे। उन कागजात में पूरे विस्तार के साथ वह ब्यौरा अंकित था, जो राजा-महाराजा और नवाबों आदि की पिछली पांच पीढ़ियों की सनकों, विलासिताओं, मक्कारियों, क्रूरताओं और यौन-आनन्द-कार्यक्रमों इत्यादि को समेटे हुए था। वह ब्यौरा यदि नष्ट न किया जाता, तो भारतीय इतिहास और संस्कृति के न जाने कितने अनदेखे पहलुओं पर से पर्दा उठ जाता। देशी शासकों और रोमांचक रंगत और संगत की अनेक स-चित्र और अ-चित्र गाथाएं, विदेशी शासकों ने रस ले-लेकर एकत्र की थीं और गुप्त फाइलों में छिपाकर रखी थीं—कि न जाने इनका कब कैसा काम पड़ जाए। रोमांचक सामग्री का

सनसनीखेज संचय करते समय स्वयं अंग्रेजों ने नहीं सोचा था कि कभी यह भारत देश दो अलग-अलग देशों में बंट जाएगा और तब, यह रंगभरी सामग्री अगर किन्हीं गलत हाथों में पहुंच गई, तो ब्लैकमेलिंग (कालाबाजारी) का बाजार गर्म होने लगेगा।

सन कॉनरैड कॉरफील्ड को अपने प्रिय राजा-महाराजाओं के भविष्य की रक्षा करने में जब सफलता नहीं मिली थी, तो उसने 'भागते भूत की लंगोटी सही' वाली नीति अपनाई और लन्दन में, अपने अभियान की साख पर एटली सरकार से इसकी अनुमति ले ली कि अगर देशी शासकों के भविष्य को हम सुरक्षित नहीं बना सकते, तो कम-से-कम उनके भूतकाल को तो सुरक्षित बना दें—उनके रंगीन क्रियाकलापों के ब्यौरों को सहर्ष नष्ट करके।

लन्दन से दिल्ली लौटने के साथ सर कॉरफील्ड ने सारे रेजिडेण्टों और पोलिटिकल एजेण्टों को आदेश भिजवा दिया था कि कागज का ऐसा एक भी टुकड़ा खाक होने से न बचाया जाए, जो किसी भी देशी शसक की किसी भी पीढ़ी की व्यक्तिगत गतिविधियों के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखता हो।

हड़बड़ी में सजाई गई उन अजब चिताओं की जानकारी जब जवाहरलाल नेहरू को मिली, तो वह चौंके। उन्होंने तुरन्त इन अग्निकाण्डों पर रोक लगाने की चेष्टा की, क्योंकि इस बहाने न जाने क्या-क्या ऐतिहासिक और कीमती चीजें जलाकर खाक कर दिए जाने का खतरा था; मगर देर हो चुकी थी। पटियाला, हैदराबाद, इन्दौर, मैसूर, बड़ौदा, पोरबन्दर,कोचीन और स्वयं नई दिल्ली इत्यादि अनेक स्थानों में उन चिताओं को सजाया और जलाया जा चुका था; जिनमें अफवाहों, फुसफुसाहटों और सिसकारियों का एक पूरा युग भस्म हो रहा था।

कई देशी राजाओं का यौनाचार इतना सनकपूर्ण था कि केवल उसी के ब्यौरों को जलाने में आग की लपटों को घण्टों तक आकाश छूना पड़ सकता था। रामपुर के एक नवाब ने अपने अड़ोस-पड़ोस के कई शासकों के साथ शर्त बदी थी कि देखें, साल भर में कौन सबसे ज्यादा कुमारियों को भोगता है। उन दिनों का रिवाज था कि कुंआरी लड़कियां सोने की नथ अवश्य पहनतीं। जिस तरह जंगल में शेर को निर्दिष्ट स्थान पर लाने के लिए हांका लगता है, उसी तरह नवाब के कर्मचारी गांव-गांव, शहर-शहर घूमकर कुंआरी लड़कियों को नवाब के लिए हासिल करते। कुमारियां, नवाब पर अपना कुमारीच्छद न्यौछावर करतीं और साथ में अपनी नथ भी दे आने पर मजबूर होतीं। उस शर्त को सिवा नवाब के कोई और जीत नहीं सकता था। साल भर में नवाब ने इतनी नथें एकत्रित कर डालीं कि जब उन्हें गलाया गया, तो वजन कई पौंड निकला।

हैदराबाद के निजाम के पास अश्लील फोटोग्राफों और पुस्तकों आदि का जो संग्रह था, उसे भारत में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। सम्मानित मेहमानों को जिन कमरों में ठहराया जाता, उनकी छतों में गुप्त, ऑटोमेटिक कैमरे लगे होते। जो उन तमाम गतिविधियों का अंकन करते, जो केवल बंद कमरों में चलाई जाती हैं। मेहमानों के स्नानागार में भी निजाम ने, शीशे के पीछे, गुप्त कैमरा लगवा रखा था।

निजाम ने एक फाइल अलग से बनवाई थी, जिसमें हैदराबाद के गोरे रेजिडेण्ट की उन कोशिशों को दर्ज किया गया था, जिनके जरिए रेजिडेण्ट इस अफवाह को पुख्ता करना चाहता था कि निजाम के साहबजादे में यौन-क्षमताओं की कोई कमी न होने के बाजवूद वह अपना सारा ध्यान सुन्दरियों पर नहीं, बल्कि 'अन्यत्र' केन्द्रित किए हुए हैं और वह भी इस सीमा तक कि सुन्दरियों के लिये वह, वास्तव में बेकार हो चुका है। आखिर, रेजिडेण्ट की हरकतें जब सीमा से बाहर जाने लगीं, तो निजाम ने अपने साहबजादे को बुलवाया रेजिडेण्ट को बुलवाया और हरम से एक सुन्दरी को भी बुलवाकर भरे दरबार में पेश किया, फिर साहबजादे को आदेश दिया कि इस सुन्दरी के साथ सरे आम वह सब करो, जिससे रेजिडेण्ट की आंखे हमेशा-हमेशा के लिए खुल जाएं और सारी दुनिया को पता चल जाए कि हमारे साहबजादे में वंश को आगे बढ़ाने की कितनी क्षमता है। रेजीडेण्ट को काटो तो खून नहीं। चुपके से खिसक गया।

मनमौजी और मसखरे, क्रूर और कामी न जाने कितनी देशी राजाओं की कैसी-कैसी कहानियां उन चिताओं में भस्म होकर आकाश में जा रही थी। ऐसे अवसर कई बार आए, जब देशी राजाओं और विदेशी शासकों के आपसी सम्बन्ध टूट जाने की सीमा तक तनावपूर्ण हो गए। ऐसे भी कई किस्से उन चिताओं में स्वाहा हुए होंगे।

बड़ौदा में अंग्रेजों ने जब अपना रेजिडेण्ट बिठाया, तो महाराजा को यह बात सख्त नागवार गुजरी कि जिस रेजिडेण्ट की हैसियत मामूली कर्नल से अधिक नहीं, उसे भी उतनी ही तोपों की सलामी दी जाए, जितनी की स्वयं महाराजा को। सलामी की तोपों की संख्या घटाना-बढ़ाना चूंकि केवल वायसराय के अधिकार में था, बड़ौदा-महाराजा ने अपनी सलामी को दिव्यता से भरने का उपाय यह सोचा कि उन्होंने ठोस सोने की एक तोप तैयार करवाई और उसी को दगवाकर सलामी लेने लगे रेजिडेण्ट की लोहे की तोप फीकी पड़ गई, जिससे चिढ़कर उसने महाराजा बड़ौदा के चरित्र पर लांछन लगाती एक लम्बी चिट्ठी लन्दन लिख भेजी और दावा किया कि महाराजा के हरम में स्त्रियों को गुलामों से भी बदतर जीवन जीना पड़ रहा है।

महाराजा को जब इस पत्र की जानकारी मिली, तो उन्होंने अपने सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषियों को बुलवाया और पूछा कि अगर इस रेजिडेण्ट से हमेशा का छुटकारा पाना हो, तो इसके लिए किस दिन की कौन सी घड़ी शुभ रहेगी और कौन-सा उपाय आजमाना सुरक्षित साबित होगा? ज्योतिषियों ने हीरे का चूर्ण खिला देने की सलाह दी। महाराजा ने एक ऐसा हीरा चुना, जिसका मूल्य ठीक उतना ही था, जितना कि एक औसत अंग्रेज कर्नल का आंका जाता है।

हीरे के घोर अपचनीय चूर्ण को एक रात चुपके से कर्नल के भोजन में मिला दिया गया। कहना मुश्किल है कि चूर्ण वही प्रभाव पैदा करता या, नहीं, जो कि महाराजा ने चाहा था, क्योंकि रेजिडेण्ट के पेट में योग्य समय तक टिके रहने का अवसर ही चूर्ण को न मिला

चूर्ण जिस तीव्र पेट-दर्द का कारण बना, उससे कर्नल को अविलम्ब अस्पताल ले जाया गया, जहां उसके पेट को फटाफट धोकर रहस्य बाहर प्राप्त किया गया।

महामना सम्राट के प्रतिनिधि की हत्या के उस प्रयास को बड़ी गम्भीरता से लेकर, अंग्रेजों ने मामला अदालत में दायर किया, जहां न्यायाधीशों के सामने ब्राह्मणों का यह तर्क किसी काम न आया, कि चूर्ण खिलाने से पहले वह सारा पूजा-पाठ कर लिया गया था, जिससे कर्नल का अगला जन्म मानवीय कोख से ही होने की गारण्टी मिल जाती थी, ताकि कर्नल की जो आकांक्षाएं, आकस्मिक मृत्यु के कारण इस जन्म में अधूरी रह गई हों, उन्हें अगले जन्म में पूर्ण होने का अवसर मिले। महाराजा के जौहरियों ने तर्क दिया कि कर्नल को खोकर जितना नुकसान महामना सम्राट का होता उतना ही स्वयं महाराजा का भी होता। बल्कि सम्राट का तो नुकसान होते होते बच गया, जबकि महाराजा को अग्रिम नुकसान झेलना पड़ा— क्योंकि जिस हीरे को पीस कर नष्ट किया गया, उसका मूल्य ठीक वही था, जो कि एक औसत अंग्रेज कर्नल का होता है। यह तर्क भी न्यायाधीशों की समझ में न आया।

महामना सम्राट के प्रतिनिधि की जान के साथ खिलवाड़ करने का आरोप, महाराजा-बड़ौदा के विरुद्ध, साबित हो गया। अंग्रेजों ने महाराजा को पदच्युत कर राज्य निकाला दे दिया।

कहानी और आगे बढ़ती है।

महाराजा-बड़ौदा के परम मित्र थे महाराजा-पटियाला, जिनके यहां उस वायसराय का शुभ आगमन हुआ, जिसने राज्य निकाले के उक्त आदेश पर हस्ताक्षर किए थे। महामना सम्राट के सर्वोच्च प्रतिनिधि वायसराय को सबसे बड़ी सलामी दी जाती थी-इकतीस तोपों की। पटियाला के तोपचियों ने, महाराजा के आदेशानुसार, इकतीस तोपें दागी जरूर, किन्तु हर तोप में बारूद इतनी कंजूसी से भरा गया कि तोप जब छूटी, तो सिर्फ इतनी आवाज हुई, जैसे कि किसी बच्चे ने फटाका चलाया हो।

भारत के सात नेताओं ने वायसराय के अध्ययन कक्ष में गम्भीरतापूर्वक प्रवेश किया। जून 1947 की दूसरी तारीख थी और समय सुबह का। देश के चालीस करोड़ लोगों ने उन सात व्यक्तियों के माध्यम से वायसराय के यहां प्रवेश किया था। वे सात नेता, उर्फ चालीस करोड़ भारतीय, उस मसौदे की जांच करने आए थे, जिसे वायसराय लॉर्ड माउण्टबेटन ने स्वयं लन्दन जाकर एटली सरकार और विन्स्टन चर्चिल से अनुमोदित करवा लिया था और जिसके आधार पर देश का दो टुकड़ों में काटकर, एक टुकड़ा इसे और एक उसे दे दिया जाना था। लन्दन का अनुमोदन प्राप्त करके वायसराय सिर्फ 48 घण्टे पहले भारत आए थे।

कमरे के बीचों-बीच रखी गोल मेज के चारों ओर वे नेता एक-एक कर बैठने लगे। कांग्रेस का प्रतिनिधित्व कर रहे थे नेहरू, पटेल और उसके अध्यक्ष आचार्य कृपलानी।

मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि थे जिन्ना, लियाकत अली खान और रबनिस्तर। कुछ ही क्षणों बाद जिन शब्दों का आदान-प्रदान होगा, भारत में उनका सर्वाधिक प्रभाव जिन साठ लाख सिखों पर पड़ने वाला था, उनका प्रतिनिधित्व कर रहे थे बलदेवसिंह।

लार्ड माउण्टबेटन दीवार की तरफ बैठे हुए थे—अपने दो प्रमुख सलाहकारों के साथ, लार्ड इसमे और सर एरिक मेलविल। सरकारी फोटोग्राफर जल्दी-जल्दी उस ऐतिहासिक घटना को अपने कैमरे में कैद करता जा रहा था।

सब इतने गम्भीर और चुप थे कि सन्नाटा केवल गले खरखराने की आवाजों से टूट रहा था। एक सचिव ने प्रत्येक नेता के सामने उक्त प्रस्ताव की एक-एक प्रतिलिपि, जो मनीला-फोल्डरों में बन्द थी, रखना शुरू किया।

वायसराय बनकर दिल्ली आने के बाद, माउण्टबेटन के लिए यह पहला अवसर था, जब वह बन्द कमरे में सब नेताओं से अलग-अलग मिलने और दोस्ताना ढंग से बात करने की अपनी नीति छोड़ कर, खुला गोल-मेज सम्मेलन जमाने पर मजबूर हुए थे। सम्मेलन खुला होने के बावजूद वायसराय ने तय किया था कि जो कुछ कहा जाना है, वह अकेले कहेंगे। यदि वहां मौजूद हर व्यक्ति को बोलने के लिए उकसाया गया, तो वह बैठक चीख-चिल्लाहट के अद्वितीय मैच का रूप पा जाने वाली थी—माउण्टबेटन जानते थे और इस खतरे से दूर रहना चाहते थे।

उन्होंने संक्षेप में बताया कि विभाजन की इस योजना पर इंग्लैण्ड में, किस नेता के साथ क्या बातचीत हुई। उन्होंने बार-बार जोर दिया कि हमें इस पर जल्दी-से-जल्दी, बेहद जल्दी काम करना है। समय बहुत कम है। हर व्यक्ति को इस योजना में कोई-न-कोई अंश ऐसा अवश्य मिल जाएगा, जिसके साथ उसकी सहमति न हो, लेकिन विचार करते समय हमें योजना की समग्रता को ध्यान में रखना होगा, न कि अंशों को। तभी योजना की भावना सह रूप में उभर सकेगी और हम व्यर्थ की बहसों में फंसने की अपेक्षा तेजी से आगे निकल सकेंगे।

"कल सुबह मैं आप लोगों से फिर मिलना चाहूंगा।" वायसराय ने कहा, 'उससे पहले, आधी रात होते-होते, अगर आप तीनों पार्टियां मुझे आश्वस्त कर दें कि योजना को स्वीकार कर लेने की तैयारी आप तीनों में है, तो फाइनल समझौते का आधार प्रस्तुत हो जाएगा। फिर, मेरा निजी सुझाव है कि हम सब, अपनी सहमति को सारी दुनिया में फैलाने के लिए आल इण्डिया रेडियो से प्रसारित कर दें। उधर, लन्दन रेडियो से, क्लिमेण्ट एटली भी हमारी सहमति का अनुमोदन प्रसारित कर देंगे।'

माउण्टबेटन रुके। कक्ष में फिर सन्नाटा छा गया। उसे माउण्टबेटन के ही स्वर ने भंग किया,....."तो .... जेण्टलमेन, मैं आप लोगों की पहली प्रतिक्रिया का इंजतार आधी रात तक करूंगा।"

लन्दन के राजनीतिज्ञों को भारत की वर्तमान स्थिति के बारे में सन्तुष्ट करना कोई बच्चों का खेल नहीं था। माउण्टबेटन ने उन सब को इतनी खूबी के साथ आश्वस्त किया कि माउण्टबेटन के कड़े-से-कड़े आलोचक भी दांतों-तले उंगली दबा गए।

लन्दन के राजनयिक क्षेत्रों में मिली इस सफलता से वायसराय के मन में गहरा सन्तोष छलक उठा था...... मगर, जब वह लन्दन से वापस भारत आए, तो उस सन्तोष के साथ-साथ एक अबूझी आशंका का अंकुर भी उनके मन में जमा हुआ था। आशंका या भय? महात्मा गांधी का भय!

अब...... महात्मा के साथ सीधे संघर्ष को टाला नहीं जा सकता था। मुश्किल यह कि महात्मा के लिए वायसराय के मन में आदर और स्नेह की सच्ची भावना पैदा हो चुकी थी। इस विचार से ही वायसराय का दिल दहला जा रहा था कि उन्हें अब उस अहिंसा के पुजारी के विरुद्ध मैदान में उतरना होगा।

यह काम जितना मुश्किल था, उससे कहीं ज्यादा रिस्की था। भारत को अखण्ड रख सकने की आशाएं हमेशा के लिए तोड़ देने की शक्ति अगर जिन्ना में थीं, तो, दूसरी तरफ, भारत को खण्डित करने के वायसराय के हर प्रयास को धूल-धूसरित कर देने की शक्ति महात्मा गांधी में थी।

इसीलिए; वायसराय ने भारत आगमन के साथ कांग्रेस के एक-एक नेता को अपनी ओर मिलाने का हर सम्भव प्रयास चुपके-चुपके किया था। महात्मा गांधी के साथ आमने-सामने के संघर्ष को आखिर कब तक टाला जा सकेगा? गांधी को परास्त करने की कोई इच्छा वायसराय के मन में नहीं थी, किन्तु वह तो इतना चाहते ही थे कि जब भी खुला संघर्ष हो, तो गांधी के प्रभाव को, कुछेक महत्वपूर्ण घण्टों के दौरान, निष्क्रिय अवश्य किया जा सके।

यह काम, जितना उन्होंने सोचा था, उससे काफी कम मुश्किल साबित हुआ। माउण्टबेटन ने अपने संस्मरणों में लिखा है, "मैं एक अजब अनुभव ले रहा था....... अन्दर-ही-अन्दर, चुपके-चुपके, वे सब गांधी के खिलाफ थे। जल्द ही वे मेरे साथ आ गए उन्होंने मुझे उकसाना शुरू किया...... कहना चाहिए कि एक तरफ से वे गांधी को चुनौती स्वयं न देकर मेरे माध्यम से देना चाहते थे।"

इस अनपेक्षित सफलता के बावजूद, माउण्टबेटन स्वयं को धोखे में नहीं रख सकते थे। वह जानते थे कि कांग्रेस के नेता चाहे गांधी का साथ दें या न दें, स्वयं कांग्रेस हर सूरत में गांधी का ही साथ देगी। 'स्वयं कांग्रेस' से आशय उन दस लाख व्यक्तियों से था, जो चार-चार आने देकर कांग्रेस के सदस्य बने थे और महात्मा गांधी के अंध-भक्त थे।

गांधीजी जब चाहते, तब उन दस लाख व्यक्तियों का आह्वान कर सकते थे। कांग्रेस के दस-बीस नेताओं के भरोसे गांधीजी निःसन्देह बैठे हुए नहीं थे।

ऐसा भी नहीं कि गांधी जी की आवाज सिर्फ कांग्रेस के दस लाख चवन्नी-सदस्यों तक ही पहुंचती। उनमें तो वह क्षमता थी कि देश के बच्चे-बच्चे, बूढ़े-बूढ़े को वह एक पुकार पर एकत्र कर सकते थे।

यदि वह अपने प्रिय भारतवासियों को पुकार बैठे, तो उनकी शक्ति वायसराय की तमाम मिली-जुली शक्तियों से ज्यादा साबित होगी। नेहरू और पटेल यदि खुल्लम-खुल्ला वायसराय का साथ दें, तो भी .... महात्मा की आध्यात्मिक शक्ति के सामने टिकना आसान नहीं रहेगा।

और.... गांधी जी जो घोषणाएं सरे आम किए बैठे थे, उनके अनुसार कांग्रेस के नेताओं को ताक पर रख कर अपने देशवासियों को सीधे पुकारने की तैयारी बुढ़ऊ ने शुरू कर भी दी थी। विभाजन-योजना पर एटली और चर्चिल का अनुमोदन लेकर जिस दिन वायसराय ने लन्दन से उड़ान भरी थी, उसी शाम की प्रार्थना-सभा में महात्मा गांधी ने कहा था, "देश अगर धू-धू कर जलने लगता है, तो भी ...... पाकिस्तान के नाम पर हम एक इंच भूमि नहीं देंगे।"

मगर; निजी, एकान्त क्षणों में गांधी जी सन्देह, बौखलाहट और अनिश्चय के भंवर में फंसे बिना नहीं रह सके थे। कांग्रेस की कार्यकारिणी ने विभाजन का सिद्धान्त स्वीकारा, इस बात को महीना भर बीत चुका था। गांधी जी के अस्तित्व का कण-कण चीत्कार कर रहा था कि विभाजन गलत है। दूसरी ओर, जीवन में पहली बार, गांधी जी को विश्वास नहीं हो पा रहा था कि देश उनकी पुकार पर उठ खड़ा होगा भी या नहीं।

उनकी धर्मपुत्री मनु बहन ने लिखा है कि एक रात गांधी जी समय से पहले जाग गए और अन्धेरे में अत्यन्त धीमे-धीमे, अपने-आप से बातें करने लगे। उन्हें आभास नहीं था कि मनु भी जाग गई है और रात के सन्नाटे में गौर से सब सुन रही है।

"आज मैं बिल्कुल अकेला खड़ा हूं। यहां तक कि पटेल और नेहरू भी मुझे गलत समझ रहे हैं। उन्हें यकीन है कि विभाजन से उस देश में शान्ति आ जाएगी........"

"उन्हें आश्चर्य-सा हो रहा था कि शायद मैं, उम्र बढ़ने के साथ, कुन्द हो गया हूं। आह ..... क्या मैं ही अन्धेरे में व्यर्थ भटक रहा हूँ? क्या वे सब सही हैं? मैं ही गलत हूँ? शायद हां ...... हां......."

यहां गांधी जी जरा रुके। मनु ने उनकी गहरी उसांस का स्वर सुना। गांधी जी की फुसफुसाहट फिर से सुनाई पड़ने लगी।, "..... लेकिन यह सब देखने के लिए शायद मैं जिन्दा नहीं रहूंगा..... जैसा कि मेरा अनुमान है, विभाजन के फलस्वरूप अगर देश की आजादी पर जातीय दंगों का खून खराबे का, बर्बादी का टीका ल गया, तो ..... ईश्वर ! मुझे क्षमा करना। मैं ही जानता हूं, कलंक के उस टीके की कल्पना करके ही इस बूढ़े की क्या दशा हुई जा रही है........."

जून की उस दूसरी तारीख को, जब वे सात नेतागण वायसराय से बातचीत करके जा चुके थे, उस बूढ़े ने माउण्टबेटन के अध्ययनकक्ष में प्रवेश किया। सात नेताओं की विदाई को डेढ़ घण्टा बीत चुका था। नेताओं ने वायसराय के साथ जो गोष्ठी की थी, उसका प्रत्येक क्षण महात्मा गांधी की अदृश्य मौजूदगी का अहसास देता रहा था। गांधी जी उन दिनों कांग्रेस के साधारण सदस्य थे, कोई पदाधिकारी नहीं। इस नाते, उन्होंने उक्त गोष्ठी में भाग लेने से इन्कार कर दिया था गोष्ठी के बाद, अब वह व्यक्तिगत धरातल पर मिलने आए थे।

वायसराय को डर लग रहा था कि महात्मा के मुंह से न जाने कैसे शब्द सुनने को मिलें। अपनी 'अन्दरूनी आवाज' से प्रभावित रहने वाला महात्मा गांधी कब क्या कह बैठेंगे, इसकी थाह अंग्रेज कभी नहीं पा सके थे। इसलिए, गांधी जी से वार्ता करना उन्हें हमेशा खतरनाक लगा करता। माउण्टबेटन का दिल धड़क रहा था। गांधी जी की प्रतिक्रिया देश की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतिक्रिया होगी। यदि उनकी 'अन्दरूनी आवाज' ने प्रतिक्रिया को किसी अजब दिशा में मोड़ दिया, तो सारा गुड़-गोबर हो जाएगा।

गांधी जी के आने का वक्त साढ़े बारह तय हुआ था। समय के वह इतने ज्यादा पाबन्द थे कि उफ़! वायसराय की घड़ी ने जिस क्षण साढ़े बारह बजने कीं टंकार की, ठीक उसी क्षण अध्ययन-कक्ष के दरवाजे पर गांधी जी प्रकट हुए।

उनका स्वागत करने के लिए माउण्टबेटन तुरन्त उठ पड़े। पूरी हार्दिकता से मुस्कराते और भावभीने शब्दों की झड़ी लगाते लॉर्ड माउण्टबेटन आगे बढ़े। सहसा वह बीच में ही थम गए। गांधी जी ने अपना दाहिना हाथ उठा कर, होठों पर एक उंगली इस प्रकार रख ली थी, जैसे कोई मां अपने बच्चे को चुप कराना चाहती हो। वायसराय के भावभीने स्वागत पर गांधी जी ने इस प्रकार उत्तर दिया था। माउण्टबेटन को वह स्थिति खासी मसखरीपूर्ण लगी, किन्तु छुटकारे की एक अजब भावना ने भी वायसराय को सराबोर कर दिया। वह सोचे बिना न रह सके, थैंक गॉड! आज महात्मा जी का मौन-व्रत है!''

उस दिन सोमवार था जो आवाज सम्पूर्ण भारत को वायसराय के खिलाफ खड़ा कर सकती थी, वह उस दिन खामोश रहने वाली थी। गांधी जी वर्षों से इस नियम का पालन कर रहे थे कि सोमवार को कुछ बोलेंगे नहीं, ताकि उनके गले को थोड़ा आराम मिल सके। जिस प्रतिक्रिया का इन्तजार माउण्टबेटन उतने भय और कौतूहल के साथ कर रहे थे, वह आज उन्हें प्राप्त होने वाली नहीं थी।

कुर्सी पर बैठकर गांधी जी ने अपनी धोती की पर्तों में से कुछ पुराने लिफाफे निकाले पेन्सिल का एक टुकड़ा भी निकाला, जो मुश्किल से दो इंच लम्बा था। कागज के जरा से टुकड़े को भी वह कभी व्यर्थ नहीं जाने देते थे। उनके नाम रोज जो लिफाफे आया करते, उन्हें वह अपने हाथ से काटते और तरतीबवार सजाकर पैड बना लेते। इसी पैड पर वह अपने टेढ़े-मेढ़े अक्षर अंकित किया करते।

देश के विभाजन की अपनी योजना माउण्टबेटन ने जब उनके सामने पूरे विस्तार के साथ रखी, तो गांधी जी ने पेन्सिल की नोक को जीभ की नोक से गीला किया और एक पुराने लिफाफे की पीठ पर अपनी प्रतिक्रिया लिखने लगे। वायसराय के मुंह से उन्होंने अभी-अभी जो सुना था, वह उनके जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण लेकिन सर्वाधिक निराशाजनक था। उनकी प्रतिक्रिया पांच पुराने लिफाफों की पीठों पर फैली। उन्हें माउण्टबेटन को देकर जब वह चले गए, तो वायसराय ने बड़ी सावधानीपूर्वक उन लिफाफों को इतिहास में दर्ज होने के लिए रख लिया।

'खेद है कि आज मैं बोल नहीं सकता।' गांधी जी ने लिखा था, 'हर सोमवार को चुप रहने का व्रत लेते समय मैंने दो अपवादों की गुजांइश रख छोड़ी थी—किसी बेहद जरूरी मसले पर किसी ऊंचे अधिकारी से बात करने के लिए अथवा किसी मरीज से बोलने के लिए मैं अपना मौन-व्रत तोड़ सकता हूं। इसके बावजूद, आज मैं चुप रहूँगा। क्योंकि मैं जानता हूं कि आप चाहते नहीं हैं; मैं कुछ बोलूं। दो-एक बातें ऐसी हैं जिनके बारे में मैं अवश्य-चर्चा करना चाहूंगा, लेकिन आज नहीं। जब भी हमारी अगली मुलाकात होगी, मैं बात करूंगा।'

और इसके साथ, वायसराय का अध्ययन-कक्ष छोड़ कर महात्मा गांधी चले गए।

कांग्रेस ने अपना सन्देश भिजवा दिया था कि हम विभाजन की इस योजना का अनुमोदन करते हैं सिखों का भी अनुमोदन वायसराय को प्राप्त हो चुका था। मामला यदि अटका भी, तो कहां अटका? मोहम्मद अली जिन्ना पर! लगता था, जिन्ना का भी आज मौन-व्रत का दिवस है। वायसराय लॉर्ड माउण्टबेटन ने उस अजब राजनीतिज्ञ की ओर घोर आश्चर्य से देखा। जिस आदमी की जिद के कारण भारत खण्डित होने को तैयार था, सारा नक्शा ही जिस आदमी के संतोष के लिए नए सिरे से खींचा जा रहा था, वही आदमी तमाम घूमते चक्रों को एकदम रोके दे रहा था।

वर्षों से जिन्ना ने जो सपने देखे थे, उनके पूरे होने में अब केवल इतनी देर थी कि जिन्ना "हां" कह दें, लेकिन न जाने वह कौन-सा रहस्यमय कारण था कि विभाजन की उस योजना पर वह 'हां' नहीं कह पा रहे थे। उनका पूरा कैरियर ही 'न' कह कर गुजरा था। यह 'न' उनके मानस में इस सीमा तक बैठ चुका था कि अब जब सब-कुछ उन्हीं के हक में था, जिन्ना के होठों से 'हां' नहीं फूट रही थी।

जिन्ना 'क्रेवन-ए' के कश-पर-कश लिए जा रहे थे, जिस के वह चेन-स्मोकर थे। उनका एक ही कहना था कि विभाजन के इस मसौदे पर जब तक मुस्लिम लीग की कौंसिल में विचार नहीं होता, तब तक अकेला मैं कैसे इसका अनुमोदन कर सकता हूं? कौंसिल के सदस्यों को दिल्ली बुलाने के लिए कम-से-कम हफ्ते भर का समय चाहिए।

अब तक जिन्ना के साथ जितनी भी वार्ताएं हुईं थी, सब में वायसराय को कुण्ठित होना पड़ा था। सारी संचित कुण्ठा अब एक साथ उबल पड़ी। असम्भव! जिन्ना यह क्या कह

रहे हैं? पाकिस्तान उन्हीं को चाहिए था। पाकिस्तान उन्हीं को दिया जा रहा है। कांग्रेस ने मान लिया, सिखों ने भी दूध की मक्खी निगल ली। फिर .... एन वक्त पर यों अड़ंगा डालने का क्या अर्थ? अड़ंगा भी स्वयं जिन्ना की तरफ से? हद है।

कांग्रेस और सिखों को अगर लेश-मात्र भी सन्देह हुआ कि जिन्ना केवल इसलिए टालमटोल कर रहे हैं कि उन्हें अपनी एकाध शर्त और मनवानी है, तो समझौते की यह जो इतनी बड़ी इमारत इतनी परेशानियों के बाद खड़ी की गई है, इसे खण्डहर होते एक क्षण भी नहीं लगेगा।

''मगर, लीग की ओर से अकेला मैं कैसे हामी भर सकता हूं? मैं अकेला ही तो मुस्लिम लीग नहीं हूं।'' जिन्ना ने कहा।

माउण्टबेटन अपने आवेश और कुण्ठा को खतरनाक ढंग से दबाते हुए बोले, ''देखिए मिस्टर जिन्ना! दुनिया में आप कहीं भी जाइए और कुछ भी कहिए, मुझे कोई सरोकार नहीं, लेकिन कम-से-कम मेरे सामने ऐसा मत कहिए कि आप ही मुस्लिम लीग नहीं हैं। मैं जानता हूं और मुझे जानना भी चाहिए कि आप ही का दूसरा नाम मुस्लिम लीग और मुस्लिम लीग का ही दूसरा नाम है मिस्टर जिन्ना।''

'नहीं! जिन्ना अपनी जिद से हिल नहीं रहे थे, ''यह मामला कानून का है। मैं गैर-कानूनी 'हां' कैसे कह सकता हूं।''

''मिस्टर जिन्ना!'' आखिर माउण्टबेटन ने दूसरा रूप अपनाया, ''अब मैं आप से एक खास बात कहने जा रहा हूं। इस टालमटोल से पाकिस्तान का आपका सपना हमेशा के लिए टूट सकता है। मैं नहीं चाहता कि इतना जबर्दस्त नुकसान आप केवल इसलिए उठाएं कि आप के मुंह से एक नन्हा-सा शब्द 'हां' नहीं निकल रहा। जिस चीज को पाने के लिए आपने अपनी तमाम उम्र दाव पर लगा दी, उसी को आप पाने से पहले ही, फेंक देना चाहते हैं। मैं आपको ऐसा करने नहीं दे सकता।''

''जी!''

''गौर से सुनिए, मैं क्या कह रहा हूं।'' वायसराय ने जारी रखा, ''मेरा इरादा है कि इस योजना का अनुमोदन आपकी तरफ से स्वयं मैं कर दूं।''

''किस प्रकार?''

''कल जब बैठक होगी, तो सबसे पहले मैं यह कहूंगा कि मुझे कांग्रेस का उत्तर मिल गया है। नाम-मात्र के संशोधनों के साथ, जिन्हें मैं अवश्य सन्तुष्ट कर सकता हूं, कांग्रेस ने योजना स्वीकार कर ली है। इसी तरह, सिखों का भी अनुमोदन मिल गया है।'' वायसराय ने जारी रखा, ''इसके बाद मैं यह कहूंगा कि कल रात मिस्टर जिन्ना के साथ मेरी बहुत लम्बी और निहायत दोस्ताना बातचीत होती रही। हमने योजना की बारीकियों पर विस्तार से गौर

किया और ..... मिस्टर जिन्ना ने मुझे व्यक्तिगत रूप से पूरा विश्वास दिलाया कि योजना उन्हें पसन्द है'' अब—

''इस बिन्दु पर मैं आपकी तरफ मुड़कर देखूंगा मुझसे नजर मिलने के साथ— मैं नहीं चाहता कि आप कुछ बोलें। मैं यह भी नहीं चाहता कि कांग्रेस आपको कुछ बोलने के लिए मजबूर करे। आपको केवल एक काम करना है। मुझसे नजर मिलने के साथ आपको सिर हिला कर 'हां' कह देनी है।''

''अगर आपने ऐसा न किया, मिस्टर जिन्ना, तो सारा मामला चौपट हो जाएगा।'' वायसराय ने जारी रखा, 'कांग्रेस और सिखों के दिल में आपके लिए आशंकाएं पैदा होंगी। वे अपनी सहमति तुरन्त वापस ले लेंगे। फिर मैं आपकी कोई सहायता नहीं कर सकूंगा। सब धूल में मिल जाएगा। यह धमकी नहीं है यह मेरी भविष्यवाणी है।'

''मुझसे नजर मिलने के साथ अगर आपने 'हां' में सिर न हिलाया, तो भारत में वायसराय की कुर्सी पर मेरा होना न होना बराबर हो जाएगा। आप अपना पाकिस्तान खो देंगे। इसके बाद .... आप जन्नत में जाते हैं या जहन्नुम में, मुझे कोई लेना-देना न होगा।

भारत को खण्डित करने की वायसराय की योजना को स्वीकृति देने के लिए जो बैठक हुई, उसका प्रारम्भ ठीक वैसा ही हुआ, जैसा वायसराय ने सोचा था। नेता चुप बैठे रहे, मानो कहने के लिए अब कुछ रह ही न गया हो। उन्होंने अकेले वायसराय को बोलने दिया..... अथवा, वायसराय इस तरह बोले कि वे कुछ न बोल सके।

माउण्टबेटन ने तीनों पार्टियों को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया, क्योंकि प्रस्तावित योजना के साथ तीनों का कई जगह गम्भीर मतभेद होते हुए भी, तीनों ने वायसराय पर यकीन रखते हुए, अपनी सहमति दर्शा दी थी।

और फिर, लॉर्ड माउण्टबेटन ने इन शब्दों के साथ अपने मोर्चे की ओर बढ़ना शुरू किया, ''कांग्रेस ने सहमति के समानान्तर एक-दो सुझाव दिए हैं। मुझे यकीन है कि मैं उन्हें पूरा कर सकता हूँ। इसी तरह .... सिखों का भी अनुमोदन मिल गया है। कल रात मिस्टर जिन्ना के साथ मेरी बहुत लम्बी और निहायत दोस्ताना बातचीत होती रही। हमने योजना की बारीकियों पर विस्तार से गौर किया और ..... मिस्टर जिन्ना ने मुझे व्यक्तिगत रूप से पूरा विश्वास दिलाया कि योजना उन्हें पसन्द है।''

और माउण्टबेटन ने जिन्ना की तरफ पलट कर देखा, जो कि उनके दाएं बैठे हुए थे। उस क्षण माउण्टबेटन का बिल्कुल कोई विचार नहीं था कि वह मुसलमान नेता सचमुच क्या कहने जा रहा है। इम्फाल के मैदान में जिस कमाण्डर की पूरी सेना को जापानियों ने बुरी तरह घेर लिया था, ''केली'' के कप्तान के रूप में जिसने कई बार मौत की नजर-से नजर मिलाई थी, उस लार्ड माउण्टबेटन ने उस अवसर का वर्णन जब किया, तो यही कहा कि रोम-रोम खड़ा कर देने वाला वैसा क्षण मेरे जीवन में पहले कभी नहीं आया था।

वह क्षण ऐसा था, जो बीतने का नाम नहीं ले रहा था। जिन्ना के भावविहीन, ठंडे चेहरे की ओर माउण्टबेटन देखते रह गए थे। उस चेहरे पर कण-कण चीत्कार कर रहा था, 'नहीं, नहीं,' लेकिन जिन्ना ने धीरे से, बहुत धीरे से, अपना सिर 'हां' में हिला दिया। उनका सिर इतना कम हिला कि यदि उससे भी कम हिला होता, तो किसी को पता ही न चलता कि कब हिला। जिन्ना की ठुड्डी मुश्किल से आधा इंच नीचे आई। माउण्टबेटन की उतनी महत्वपूर्ण योजना को स्वीकार करने के लिए ठुड्डी को यदि आधा इंच भी न हिलाया गया होता, तो सब यही सोचते रह जाते कि जिन्ना ने सिर हिलाया भी, या नहीं हिलाया।

वह शारीरिक हलचल इतनी सूक्ष्म थी कि वायसराय एवं अन्य नेताओं की आंखें उसे मुश्किल से ही पकड़ पाई—और इसके साथ ही एक ऐसा देश स्वीकृत हो गया, जिसकी आबादी चार करोड़ पचास लाख से शुरू होकर आगे न जाने कहां तक पहुंचने वाली थीं। पाकिस्तान का सपना, जिसे स्वयं जिन्ना ने, और सारी दुनिया ने भी, 'असम्भव करार' दे रखा था, आखिर साकार हो चला।

स्थितियां चाहे कितनी ही कठिन क्यों न हो, पाकिस्तान आखिर पाकिस्तान था और वह जिन्ना को मिल गया था। माउण्टबेटन को अपनी सारी गतिविधियां अब इसी सच्चाई की धुरी पर घुमानी होंगी।

जो महान निर्णय उस क्षण लिया गया था, उसकी गम्भीरता सभी नेताओं के मानस में पैनी छुरी की तरह धंसती चली गई। उस आघात को उन्होंने अभी ठीक से झेला भी नहीं था कि माउण्टबेटन ने केवल एक इशारा करके, हर नेता के सामने उस दस्तावेज की एक-एक प्रति रखवा दी, जो सिंगल-स्पेश में टाइप की होने के बावजूद 34 पृष्ठों में फैली हुई थी। आखिरी प्रति स्वयं वायसराय के सामने रखी गई, जिसे उन्होंने दोनों हाथों से पकड़ कर अपने सिर तक उठाया और फिर तड़ाक् से आवाज के साथ, मेज पर पटक दिया।

उस दस्तावेज का शीर्षक था, 'विभाजन की प्रशासनिक उलझनें' माउण्टबेटन ने यह शीर्षक सब को पढ़कर सुनाया। केवल शीर्षक नहीं, बल्कि उस दस्तावेज का एक-एक वाक्य उन नेताओं के कन्धों पर इतना गुरु-गम्भीर उत्तरदायित्व रख रहा था कि वे सन्नाटे में आ गए।

वे सनसनीखेज 34 पृष्ठ, माउण्टबेटन और उनके स्टाफ द्वारा अत्यन्त सावधानीपूर्वक तैयार किए गए थे। भारतीय नेताओं को वे पृष्ठ मानो उपहार-स्वरूप दिए जा रहे थे। उन पृष्ठों की प्रशासनिक भाषा काफी बोझिल थी, लेकिन विभाजन के फैसले के साथ कितनी सारी उलझनें क्षण-मात्र में पैदा हो गई थीं, इसका सच्चा वर्णन करने वाले वे पृष्ठ अद्भुत घातकता से ओतप्रोत थे। उन सात नेताओं में से एक को भी गुमान नहीं था कि पृष्ठ-पृष्ठ पर कैसी घातकता उनका इन्तजार करती बैठी है।

इसीलिए, ज्यों-ज्यों उन्होंने पृष्ठ पलटे, त्यों-त्यों उनका रंग उड़ता गया। विभाजन की प्रशासनिक समस्याएं, इतने विशाल पैमाने पर, अचानक उनके सामने आ खड़ी हुई थीं

कि वे स्तब्ध से रह गए थे। मानव जाति ने उतने विशाल पैमाने की, उतनी पैनी विभाजन समस्याओं का आमना-सामना पहले कभी नहीं किया था। कल्पना के घोड़ों को चाहे कितना ही खुला क्यों न छोड़ दिया जाता, समस्या की विलक्षणता तक वे भी नहीं पहुंच सकते थे। पिछले तीन हजार वर्षों से देश में सभी कुछ आपस में गड्डमड्ड चल रहा था। उन सारी गड्डमड्ड चीजों को अब जुदा-जुदा छांट कर बांट लेने का अवसर आया था। तीन हजार वर्षों की संगत ने बेजान चीजों को भी आपस में ऐसा जोड़ दिया था कि उन्हें अलग-अलग आखिर कैसे छांटा जाएगा?

पिछले तीन सौ वर्षों से, देश में, अनेक आधुनिक तकनीकें विकसित हुईं थीं। उन्हें भी जर्रा-जर्रा बांट कर अलग-अलग ले जाना होगा। बैंकों में रखी नगद राशि, डाकघरों में पड़ी टिकटें, पुस्तकालय, कर्ज, उधार, विश्व का तीसरा सबसे बड़ा रेल संस्थान, रेलें और जेलों में बन्द कैदी, स्याही की दवातें, झाड़े, विभिन्न शोध-केन्द्र, अस्पताल, विश्वविद्यालय, विभिन्न सेवा-संस्थान, सुई, धागे, साबुन की बट्टियां..... न जाने कितनी वैराइटी की कितनी चीजें थीं, जिन्हें बांटे बिना अब कोई छुटकारा नहीं था।

सातों नेताओं ने पहली बार आभास पाया कि अब, आगे, कितने दुष्कर कार्य से उन्हें पंजा लेना होगा। कमरे में घोर सन्नाटा खिंच गया। माउण्टबेटन ने बड़ी सूक्ष्मता से अनुमान लगा रखा था कि दुष्कर कार्य का पहला आभास पाने पर नेताओं की दशा क्या हो जाएगी। वायसराय ने जैसा सोचा था, ठीक वैसा ही हाल नेताओं का हुआ जा रहा था। यदि वह अवसर उतना गम्भीर और नाजुक न होता, तो राजनीति के उन सुप्रसिद्ध खिलाड़ियों को उतना हक्का-बक्का देखकर किसी को भी हंसी आ जाती।

वायसराय ने उन सातों व्यक्तियों को किस जबर्दस्त समस्या से पंजा लेने पर मजबूर किया था, वह इतनी ज्यादा पैनी थी कि वायसराय ने सोचा, 'अब इन बेचारों को इतना भी होश नहीं रहेगा कि स्वयं के साथ कोई अन्याय होने की शिकायत यह भी कर सकें.... गिनती के हफ्ते बच रहे हैं। फिर साथ-साथ रहने के इनके दिन पूरे हो जाएंगे।'

महात्मा गांधी को जब पता चला कि सातों नेता, वायसराय से, दूसरी बार मिल चुके हैं और उन्होंने कैसा नाजुक निर्णय आखिर कर डाला है, तो उनके चेहरे पर दर्द का बादल गहरा हो गया। गहरी उसांस के साथ वह बुदबुदाए, "ईश्वर उन्हें बुद्धि दे.......ईश्वर उनकी रक्षा करे......"

3 जून, 1947 की शाम, सात बजे के बाद, प्रमुख नेताओं ने ऑल इण्डिया रेडियो, देल्ली से अपने वक्तव्य जारी करके जनता को बताया कि भारतीय भू-खंड को दो अलग-अलग, स्वतन्त्र राष्ट्रों में बांटने का पारस्परिक समझौता उन्होंने कर लिया है। लॉर्ड माउण्टबेटन, अपने पद की गरिमा के अनुसार, सबसे पहले बोले। संक्षेप में स्थिर स्वर में, आत्म-विश्वास के साथ। फिर नेहरू बोले। अत्याधिक दु:ख से कांपता स्वर....... उन्होंने हिन्दी भाषा में अपने देशवासियों से अपील की कि वे इस योजना को शान्तिपूर्वक स्वीकार कर लें।

अगला भाषण जिन्ना का था। वह खूब प्रसन्न थे, लेकिन वह उर्दू में न बोल सके जो पाकिस्तान की भाषा होने जा रही थी। उन्होंने अंग्रेजी का सहारा लिया। बाद में, उद्घोषव ने उनके वक्तव्य का उर्दू अनुवाद सुनाया।

4 जून की झुकती दोपहरी को माउण्टबेटन को खबर मिली कि महात्मा गांधी कांग्रेस के नेताओं से खुल्लमखुल्ला अलग हो जाने और विभाजन योजना की भर्त्सना करने की तैयारी में हैं और आज शाम की प्रार्थना-सभा में वह इसी बारे में वक्तव्य देंगे।

माउण्टबेटन ने उसी क्षण आदमी रवाना करके महात्मा गांधी को ताबड़तोड़ मुलाकात का आमन्त्रण दिया। गांधी जी ने वायसराय के अध्ययन-कक्ष में 6 बजे प्रवेश किया। उनकी प्रार्थना-सभा 7 बजे शुरू होने वाली थी। याने, माउण्टबेटन के पास एक घण्टे से भी कम समय था, जिसमें उन्हें उस जबर्दस्त खतरे को, टालना था।

गांधी जी पर नजर पड़ते ही माउण्टबेटन समझ गए कि उनकी आत्मा किस बुरी तरह हचमचाई हुई है। गांधी जी का स्वर इतना धीमा था कि मुश्किल से ही सुनाई पड़े। वह बार-बार इन्हीं शब्दों को दोहरा रहे थे, ''बहुत बुरा है, बहुत बुरा हुआ है।''

उस दशा में गांधी जी कुछ भी कर डालने में सक्षम थे। वायसराय की योजना की सार्वजनिक भर्त्सना के परिणाम भयंकर होंगे। नेहरू, पटेल एवं अन्य नेताओं के सामने अचानक यह स्थिति आ जाएगी कि वे या तो गांधी जी से अपना नाता खुल्लमखुल्ला तोड़ें, या फिर ..... वायसराय के साथ हुए समझौते को भंग कर दें।

अपनी सुप्रसिद्ध वशीकरण क्षमता को अधिकतम काम पर लगाते हुए माउण्टबेटन ने गांधी जी को विश्वास में लेना शुरू किया। वह बोले कि मुझे मालूम है, विभाजन की योजना ने आप को कितना आहत किया होगा। मुझे बेहद दुःख है कि आपको मेरे कारण ऐसा आघात झेलना पड़ रहा है, क्योंकि आखिर यह योजना मेरे द्वारा बनाई गई है।

एकाएक, माउण्टबेटन के दिमाग में कौंध-सी हुई। अखबारों ने योजना का नामकरण किया था—'माउण्टबेटन योजना'। इसकी अपेक्षा उन्हें लिखना चाहिए था— 'गांधी योजना'। माउण्टबेटन ने घोषणा के स्वर में कहा कि स्वयं गांधी जी ने उन्हें जो सुझाव दिए थे, योजना का पूरा प्रारूप तो उन्हीं के आधार पर तैयार किया गया है। इन शब्दों ने महात्मा गांधी को चक्कर में डाल दिया।

''जी हां!'' माउण्टबेटन ने जारी रखा, ''आपने ही मुझसे कहा था कि निर्णय स्वयं भारतीय जनता द्वारा होना चाहिए। योजना में इस का प्रावधान है। भारत के भविष्य का निर्णय उन प्रादेशिक समितियों द्वारा होगा, जो कि योग्य चुनाव-पद्धति से गठित हुई हैं और जिनके माध्यम से भारतीय जनता अपनी निष्पक्ष राय व्यक्त करेगी। हर प्रादेशिक समिति को पूरा मताधिकार होगा कि वह बताए, उसे पाकिस्तान के साथ रहना है या भारत के साथ। आप ही ने मुझसे कहा था कि अंग्रेज जल्दी-से-जल्दी भारत छोड़कर चले जाएं। क्या योजना में इसका

भी प्रावधान नहीं? मान लीजिए, चमत्कार होता है और देश भर की तमाम प्रादेशिक समितियां एकमत होकर कहती हैं कि हमें तो भारत के साथ ही रहना है। जाहिर है कि फिर...... देश का विभाजन अपने-आप टल जाएगा—जो कि आप भी चाहते हैं। ठीक है न? लेकिन यदि समितियां एकमत नहीं होती, तो ......चूंकि ये समितियां जनता ने चुनी हैं, हमें यही मानना पड़ेगा कि जनता की इच्छा अखण्ड भारत में रहने की नहीं है। फिर? हम क्या करें? क्या जनता पर जबर्दस्ती करने के लिए सेना बुलाएं?''

लॉर्ड माउण्टबेटन ने इतने मधुर उपायों से महात्मा गांधी को विश्वास में लेने की कोशिश की कि मनुष्य अपनी जीभ के सही उपयोग से कितनी जटिल गुत्थियों को भी सुलझा सकता है, इसके आदर्श के रूप में, माउण्टबेटन के उक्त अवसर के संवादों को सामने रखा जाना चाहिए।

महात्मा गांधी विभाजन के विरोध पर ही अड़े रहे किन्तु वायसराय का एक भी तर्क उनकी समझ में न आया हो, ऐसा नहीं था। माउण्टबेटन के पैने तर्कों ने उन्हें अन्दर-ही-अन्दर हचमचा कर रख दिया था।

वह 78 साल के हो चुके थे 30 वर्षों में आज पहली बार उन्हें अपने-आप पर अविश्वास जागा था। उन्हीं के द्वारा संचित पार्टी के नेता टूटकर उनसे अलग हो रहे थे, पता नहीं, अब जनता भी उनकी पुकार पर ध्यान दे, न दे।

क्या करूं, क्या न करूं की उलझन में फंसे गांधी जी अपनी उस 'भीतरी आवाज' का बड़ी अकुलाहट के साथ इन्तजार कर रहे थे, जिसके परामर्श के आधार पर उन्होंने जटिल-से-जटिल समस्याओं को भी चमत्कारिक सुविधा के साथ सुलझा लिया था। विडम्बना यह कि जून मास की उस शाम को 'भीतरी आवाज' बड़ी क्रूरता के साथ खमोश थी और गांधी जी की दविधा सीमा पार कर चली थी...... क्या करना उचित रहेगा? जैसा कि उनकी मूल प्रवृत्ति सुझा रहा था, क्या उन्हें विभाजन के विरोध को ही लगातार जारी रखना चाहिए; चाहे इसके परिणाम में सारा देश अराजकता, घृणा और हिंसा की आग में क्यों न घिर जाए? अथवा......

क्या उन्हें वायसराय के उन तर्कों पर ध्यान देना चाहिए, जो गहनतम हार्दिकता के साथ सामने रखे जा रहे हैं?

माउण्टबेटन अपने तर्कों को अभी समाप्त कर भी नहीं पाए थे कि गांधी जी का प्रार्थना-सभा में जाने का समय हो गया। प्रार्थना-सभा में एक क्षण के भी विलम्ब से पहुंचना गांधी जी ने कभी गवारा नहीं किया था। क्षमा-याचना के साथ वह उठे और चल दिए।

अभी एक घण्टा नहीं बीता था कि उन्होंने अपना वक्तव्य दे दिया। अछूतों की उस बस्ती में, एक धूल भरे चौराहे पर, खास उनके बैठने के लिए एक ऊंची जगह निकाली गई थी। वहां वह पांव मोड़कर विराजमान थे। सामने लोगों की भीड़ जमा हो गई थी। आज उस भीड़ में अधिकांश लोग ऐसे थे जो प्रार्थना-सभा में शामिल होने के लिए नहीं, बल्कि उस

अहिंसा के पुजारी के मुंह से यह सुनने की आशा लेकर आए थे कि छोड़ो अहिंसा। उठाओ हथियार। वायसराय की योजना को चीरकर फेंक दो।

लेकिन नहीं। जिस व्यक्ति ने एक नहीं अनेक बार घोषणा की थी कि देश का विभाजन होने से पहले स्वयं मेरे शरीर का विभाजन होगा, उसके होठों से आज हिंसा का सहारा लेने की कोई ललकार सुनाई न दी। इसकी अपेक्षा वह बोले, "वायसराय को दोष देकर ही क्या हो जाएगा? जो हो रहा है, जो होने जा रहा है, उसका जवाब तो स्वयं हमारे दिलों में छिपा है। किसी को कुछ कहने से पहले क्यों न हम अपने दिलों में झांककर देखें?"

वायसराय के रूप में लॉर्ड माउण्टबेटन ने एक और ऐसा कार्य सम्पन्न कर दिखाया था, जो कि सर्वाधिक कठिन था-मोहनदास करमचन्द गांधी पर विजय।

लेकिन जहां तक गांधी जी का सवाल था, नाजुक अवसर पर चुप रह जाने की उनकी नीति पर अनेक भारतीयों ने तीव्र आक्रोश अनुभव किया। महात्मा को वे कभी क्षमा न कर पाए। वह दुर्बल बूढ़ा आदमी जिसका हृदय भारत का अंगभंग होने की कल्पना-मात्र से डूबा जा रहा था, देशवासियों के उस आक्रोश की बहुत बड़ी कीमत शीघ्र ही चुकाने वाला था।

इंग्लैण्ड के भारतीय साम्रज्य के इतिहास में यह दूसरा अवसर था, जब वायसराय ने पत्रकार-सम्मेलन का आयोजन किया था। वह अवसर केवल दूसरा नहीं अन्तिम भी था। उस सुन्दर कक्ष में लगभग तीन सौ पत्रकार मौजूद थे। रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन और यूरोप जैसे सुदूर देशों से संवाददाता आकर वहां डटे हुए थे।

उन सबके साथ गड्डमड्ड होकर बैठे थे भारत के पत्रकार। विभिन्न भाषाओं और मत-मतान्तरों के छोटे-बड़े पत्रकारों की वह भीड़ अपने तरह की एक ही चीज थी।

वायसराय बोल रहे थे। बोले जा रहे थे। अपने भाषण के कोई नोट्स बना कर नहीं लाए थे वह। उनका स्वर इतना अधिकारपूर्ण और एक-एक बात इतनी स्पष्ट थी कि अपने सर्वाधिक कटु आलोचकों की भी बोलती बन्द कर देने में माउण्टबेटन सहज ही सफल हो गए।

भारत और विश्व के अखबारों के सामने उन्होंने स्पष्ट किया कि मानव-सभ्यता के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण जन्म-प्रमाणपत्रों के खास-खास मुद्दे क्या थे।

माउण्टबेटन की वह पत्रकार-वार्ता इस कदर सफल रही कि उसके बाद उनका व्यक्तित्व गन्धर्वों जैसा चमत्कारपूर्ण माना जाने लगा। मुश्किल से दो महीनों की संक्षिप्त अवधि में उन्होंने, केवल अपने अकेले के बूते पर, असम्भव को सम्भव कर दिखाया था। जिन भारतीय नेताओं के बीच मतभेद इतने उग्र थे कि आमना-सामना होने पर वे परस्पर बातचीत भी नहीं करते थे, उन्हीं को एक उभय समझौते तक खींच कर लाना, समझौते का मूल आधार तैयार करना, भारतीय राजनीतिज्ञों से उस मूल आधार को स्वीकृत कराना, लन्दन के न केवल शासक

दल से, बल्कि विरोधी दल से भी समझौते पर अनुमोदन प्राप्त करना—यह सब क्या मात्र दो महीनों में हो सकता था? यदि माउण्टबेटन का उदाहरण सामने न होता, तो इसका उत्तर सब 'न' में ही देना चाहते।

वायसराय का भाषण समाप्त होते ही सारा कक्ष तालियों की गड़गड़ाहट से हिल गया। अब वायसराय ने पत्रकारों को आमन्त्रित किया कि जिसे जो पूछना हो, पूछे।

प्रश्नों की झड़ी लग गई। हर प्रश्न का उत्तर माउण्टबेटन की जुबान पर था। उस अवसर को जैसा उन्होंने बाद में याद किया, "....... मैं उनके सामने खड़ा था। मैं वह एकमात्र व्यक्ति था, जिसने सारी प्रक्रिया आरपार देखी थी। क्षण-क्षण मैंने उस प्रक्रिया को जी कर झेला था। दुनिया के पत्रकार पहली बार उस व्यक्ति से मिल रहे थे, जिसे मामले की हर बात न केवल मालूम थी, याद भी थी।"

प्रश्नों की झड़ी जब कुछ कम हुई, तो एक भरतीय पत्रकार की अजनबी आवाज ने वह प्रश्न पूछा, जो उस सम्मेलन का आखिरी सवाल था और जिसका उत्तर देने के बाद लॉर्ड माउण्टबेटन ने उस गुत्थी के हर चौखटे को सही जगह फिट कर दिया जो कि उनके हाथों में लगभग छह मास पहले सौंपी गई थी।

"सर!" अजनबी आवाज ने कहा, "जैसा कि आपका वक्तव्य है, प्रशासनिक शक्तियों का तबादला अब जल्द-से-जल्द हो जाना चाहिए। तो क्या..... शक्तियों की अदला-बदली की कोई निश्चित तारीख भी आपने सोच रखी है?"

"बेशक।" माउण्टबेटन ने उत्तर दिया।

"क्या वह निश्चित तारीख आप हमें बता सकते हैं?"

वायसराय के दिमाग में अनेक तारीखें चलचित्र की भांति घूम गई। वह केवल इतना जानते थे कि जो कुछ होना है, जल्द-से-जल्द होना है। कोई अन्तिम तारीख उन्होंने निश्चित नहीं की थी।

कक्ष में बैठे लोगों पर उन्होंने अपलक दृष्टि डाली। हर चेहरा उन्हीं की ओर उठा हुआ था। हर नजर उन्हीं पर जमी थी। कौतूहल के कारण लोग ऐसे शान्त हो गए थे कि घूमते पंखों की गूंज भी अत्यन्त तीव्र महसूस होने लगी थी। "मैं साबित करने की जिद पर अड़ा था कि घटना-चक्र का एकमात्र स्वामी मैं हूं........" माउण्टबेटन उन क्षणों को, बाद में, याद करने वाले थे।

कौन-सी तारीख बताई जाए पत्रकारों को? सितम्बर के आस-पास? अगस्त के आसपास?

अचानक तारीखों के उछलते आंकड़े शान्त होने लगे। फालतू आंकड़े अलग हट गए। एक खास तारीख वायसराय के सामने उभर आई।

उस तारीख का सम्बन्ध एक ऐसी विजय के साथ था कि यदि वह विजय अर्जित न की जा सकी होती, तो आज माउण्टबेटन इस पत्रकार-वार्ता का आयोजन करने के लिए जिन्दा रहते भी या नहीं, यह एक सवाल था। उस तारीख को जापान सरकार ने बिना किसी शर्त हथियार छोड़े थे और बर्मा के जंगलों में माउण्टबेटन की लम्बी भटकन समाप्त हो गई थी।

जापान के आत्म-समर्पण की दूसरी वर्षगांठ को ही अगर एक नये, लोकतान्त्रिक एशिया का जन्म-दिवस बना दिया जाए, तो कैसा रहे? निस्सन्देह, इस से बेहतर कोई और दिवस इसके लिए हो नहीं सकता था।

भावना की तीव्रता से वायसराय का स्वर भीग आया। बर्मा के जंगलों का विजेता, जो शीघ्र ही भारत का मुक्तिदाता होने जा रहा था, बोल उठा, "भारतीय हाथों में सत्ता का अन्तिम तबादला 15 अगस्त, 1947 के दिन किया जाएगा।"

लॉर्ड माउण्टबेटन ने भारतीय आजादी का दिवस आननफानन में तय करके, वहीं-का-वहीं जब घोषिता भी कर दिया, तो सारी दुनिया में तहलका मच गया। किसी की कल्पना में नहीं था कि वह घोषणा उतनी नाटकीयता के साथ, अचानक, हो जाएगी। लन्दन के राजनीतिज्ञों को रंच-मात्र भी पूर्व संकेत नहीं था कि इंग्लैण्ड के लाड़ले, भारत अभियान का परिच्छेद, उतनी शीघ्रता से बन्द करने की तैयारी, लॉर्ड माउण्टबेटन ने कर डाली है। नई दिल्ली में भी, वायसराय के घनिष्ठतम मित्रों तक को, लेश-मात्र भी अन्दाजा नहीं था कि भरी सभा में माउण्टबेटन अचानक उस तिथि की घोषणा कर देंगे। भारत के सारे नेताओं को उस घोषणा ने चकित कर दिया।

लेकिन 15 अगस्त की पहचान भारतीय आजादी-दिवस के रूप में होने के फलस्वरूप, सर्वाधिक आश्चर्य और बौखलाहट जिस क्षेत्र में फैलने वाली थी, वह क्षेत्र राजनीति का नहीं, बल्कि एक ऐसी विद्या का था, जिसका प्रभाव करोड़ों हिन्दुओं पर इतना अधिक है कि अंग्रेजों, कांग्रेसियों और तमाम महाराजाओं के सम्पूर्ण प्रभाव का योग भी उसके सामने नहीं ठहर सकता था। आजादी-दिवस की उतनी महत्वपूर्ण तारीख भी लॉर्ड माउण्टबेटन ने उस विद्या के धुरन्धरों से बिना कोई मशविरा लिए घोषित कर दी थी, जो अपने-आप में कोई छोटा अपराध नहीं था। वे धुरन्धर थे। भारत के ज्योतिषी, जिनकी समझ असीम और शक्ति अटल मानी जाती थी......।

रेडियो ने ज्यों ही आजादी-दिवस की तारीख का ऐलान किया, त्यों ही देशभर के ज्योतिषी अपने-अपने चार्ट निकाल कर रहस्यमय परिगणनाओं में लीन हो गए। पवित्र नगरी बनारस और दक्षिण भारत के अनेकों नगरों में ग्रहों-उपग्रहों का जो अध्ययन हुआ, उससे तमाम ज्योतिषियों ने एक-स्वर में कहा, "पन्द्रह अगस्त 1947 का दिवस इतना अशुभ है कि उस दिन आजाद होने से बेहतर है, अंग्रेजों की गुलामी भारत एकाध दिन और सह ले।"

कलकत्ता में, स्वामी मदनानन्द का चिन्तातुर चेहरा क्षण-क्षण बुझता जा रहा था। उन्होंने अपना '' 'नवमांश' निकाला, जिसमें एक जबर्दस्त गोला खींचा हुआ था। गोले के अन्दर गोले। उनके अन्दर भी गोले। साल भर के एक-एक महीने और प्रत्येक महीने के एक-एक दिवस की 'आकाशीय स्थिति' उस चार्ट में स्पष्ट पढ़ी जा सकती थी। चन्द्रमा कहां, सूर्य कहां, अन्य अनेक गृह-नक्षत्र कहां, पृथ्वी की नियति को प्रभावित करने वाले 27 सितारे कहां—सभी कुछ अंकित था उस चार्ट में।

उस विख्यात ज्योतिषी ने 'नवमांश' के चक्रों को इस प्रकार घुमाया कि 15 अगस्त 1947 की नियति साफ-साफ पढ़ी जा सके। जो उसने पढ़ा, उससे उसका चेहरा रुई की तरह सफेद हो गया। भारत की स्थिति 15 अगस्त, 1947 के दिन मकर राशि के अन्तर्गत थी। यह राशि शक्तियों का विकेन्द्रीकरण कर देने के लिए कुख्यात है। देश का विभाजन अपने-आप में एक विकेन्द्रीकरण है। अगर यह प्रक्रिया मकर राशि की विकेन्द्रीकरण शक्तियों के प्रभाव में की गई, तब तो...... सभी कुछ उलट-पलट जाएगा। देश की कोई शक्ति अपने केन्द्र में नहीं ठहर सकेगी।

मकर राशि के अलावा, 15 अगस्त पर तो शनि की भी दृष्टि है........ तबाही!.......

आसाम की पहाड़ियों में जिस व्यक्ति ने योग और तान्त्रिक विद्याओं का गहन अध्ययन करके तमाम आवेशों को स्थायी नियन्त्रण में ले लिया था, वह ज्योतिषी मदनानन्द भी उस क्षण एकाएक बेकाबू होकर चिल्ला उठा, ''नहीं! नहीं!''

तुरन्त एक कागज लेकर वह उस व्यक्ति के नाम पत्र लिखने बैठ गया, जो कि भारत पर टूट पड़ने वाली असंख्य विपत्तियों का जिम्मेदार ठहराया जाना चाहिए था।

''भगवान के नाम पर दया करिए।'' उसने लॉर्ड माउण्टबेटन को लिखा, ''भारत को 15 अगस्त के दिन आजादी मत दीजिए। यह नियति द्वारा अभिशप्त दिवस है। यदि बाढ़, सूखे अकाल और खून-खराबे का सिलसिला चल पड़ा, तो इसका कारण यही होगा कि भारत को इस अभिशप्त दिवस पर आजाद किया गया।''

□□□

9

'इतिहास का सबसे पेचीदा तलाक'

नई दिल्ली; जून, 1947

मानवीय इतिहास में वैसी घटना पहले कभी नहीं घटी थी। इसीलिए; मार्ग-निर्देशन कर सके, ऐसा कोई पूर्व-उदाहरण उन के सामने नहीं था। चालीस करोड़ लोगों का एक परिवार शताब्दियों से, एक ही धरती पर मिल-जुलकर रहता रहा था। चाहे उस परिवार में कितने ही आपसी झगड़े होते रहें, अन्ततोगत्वा वह एक परिवार था। उसे अब टूट जाना था और किसी के सामने स्पष्ट नहीं था कि टूटने की प्रक्रिया ठीक-ठीक कैसी होती है, या उसे शुरू कहां से किया जाए।

15 अगस्त के आने में अब ठीक 73 दिन बच रहे थे। तलाक के कागजात इस बीच हर सूरत में तैयार हो जाने चाहिए। कर्मचारियों को लगातार सावधान और चुस्त रखने के लिए माउण्टबेटन ने एक विशिष्ट कैलेण्डर छपवा कर दिल्ली के प्रत्येक सम्बन्धित कार्यालय में लगवा दिया।

उस कैलेण्डर का एक पन्ना रोज फाड़ा जाता। प्रत्येक पन्ने के बीचों-बीच लाल घेरे के अन्दर, वह आंकड़ा छपा दिखाई देता, जो यह बताता कि 15 अगस्त के आने में अब कुल कितने दिन शेष रह गए हैं। मानो किसी अणु-विस्फोट की उल्टी गिनती शुरू हो गई हो, इस प्रकार रोज एक-एक दिन गिना जा रहा था—और रोज एक-एक दिन कम हो रहा था।

उस अलौकिक भारतीय तलाक में, मालमत्ता के कागजात तैयार करने का भारी-भरकम काम, आखिर जिन दो व्यक्तियों के कन्धों पर आ कर पड़ा, वे दोनों समान रुतबे के वकील थे। दोनों एक जैसे सरकारी बंगलों में रहते। दोनों के कार्यालयों के दरवाजे अगल-

बगल थे। दफ्तर और घर के बीच आने-जाने के लिए दोनों के पास अमरीकी शेवर लेट गाड़ियां थीं। दोनों बिल्कुल एक जैसा वेतन पाते थे। सेवानिवृत्ति पर दोनों को एक जैसा ही आर्थिक लाभ सरकार की ओर से मिलने वाला था। अन्तर के नाम पर दोनों के बीच यदि कुछ था, तो वह था धर्म। उनमें से एक था हिन्दू और दूसरा मुसलमान।

मालमत्ता के कागजात तैयार करने के पूर्व अनुभव के नाम पर दोनों वकीलों के पास अलावा सामान्य विवेक के और कुछ नहीं था। केवल अपने विचारों के जोर पर, जून और अगस्त के बीच के प्रत्येक दिन, उन्हें काम करना था—और वे किए जा रहे थे। चौधरी मोहम्मद अली और एच.एम.पटेल क्रमशः मुसलमानों और हिन्दुओं के हितों की रक्षा करते हुए रोज फाइलों-पर-फाइलें निबटा रहे थे।

लगभग एक सौ उच्च कर्मचारी, जिन्हें बीसेक समितियों और उप-समितियों में विभाजित किया गया था; रोज उन वकीलों को तरह-तरह की रिपोर्टें देते। उस आधार पर दोनों वकील जो अनुशंसा-पत्र तैयार करते, उन्हें "विभाजन कौंसिल" के पास अन्तिम अनुमोदन के लिए भेज दिया जाता। स्वयं वायसराय इस "विभाजन कौन्सिल" के अध्यक्ष थे।

जैसा कि तलाक के अधिकांश मामलों में होता है, दोनों पार्टियों के बीच उग्रतम बहसें धन को लेकर हुई। सबसे नाजुक प्रश्न उस उधारी का था, जिसे अंग्रेजों से वसूल करना आसान नहीं लग रहा था, क्योंकि उनका खजाना खाली था।

शताब्दियों से अंग्रेजों पर आरोप लगाया जाता रहा था कि वे भारत का अत्यधिक आर्थिक शोषण किए जा रहे हैं। उसी भारत को जब वे छोड़ रहे थे, तो उन के.तथाकथित शिकार भारत के 500 अरब डॉलर उनकी तरफ निकलते थे। कर्ज का यह जबर्दस्त बोझ इंग्लैण्ड पर विश्व-युद्ध के दौरान चढ़ गया था। युद्ध में जीतने की इतनी बड़ी कीमत इंग्लैण्ड को चुकानी पड़ी थी कि कर्ज के भार से वह बिल्कुल कुचला जा चुका था और उसके साम्राज्य की ऐतिहासिक सिकुड़न प्रक्रिया शुरू हो गई थी।

राष्ट्रीय उधारी के अलावा, धन और भी कई रूपों में फंसा हुआ था। स्टेट बैंकों की नकदी। बैंक ऑफ इण्डिया के वाल्टों में रखी सोने की ईंटें। चुटकियों में सिर काट लेते नागाओं के बीच, झोंपड़ी में बस कर, अपनी ड्यूटी निभा रहे जिला कमिश्नरों के पास रखी छोटी-छोटी रकमें देश भर में फैले डाक-घरों की स्टेशनरी इत्यादि का मूल्य।

वस्तुओं की तालिका हनुमान की दुम की तरह बढ़ती जा रही थी। बहस-मुबाहिसों का कोई अन्तर नजर न आता था। आखिर एच.एम. पटेल और मोहम्मद अली को सरदार पटेल के शयन-कक्ष में बन्द कर दिया गया—जब तक वे किसी आपसी समझौते पर न पहुंचे। बहस का जो स्तर लाहौर के बाजार में खोंचे वाले दिखाते हैं, लगभग उसी स्तर और शैली की बहस बाजी के बाद दोनों वकीलों ने आखिर तय किया कि पाकिस्तान को बैंकों की नकदी का, और स्टर्लिंग बैलेन्स का भी, 17.5% प्राप्त होगा; लेकिन इस के एवज में उसे भारत के राष्ट्रीय कर्ज के 17.5% की अदायगी करनी होगी।

दोनों वकीलों ने सिफारिश की कि देश के विशाल सरकारी तन्त्र में, जो कुछ भी स्थानान्तर द्वारा हटाया जा सकता है, उसका 80% भारत को और 20% पाकिस्तान को दिया जाए। सारे देश के सरकारी दफ्तरों में कुर्सियों, मेजों, निबों रबरों, टाइप-राइटरों और झाड़ू इत्यादि चीजों की जल्दी-जल्दी गणना होने लगी। विभाजन भी साथ-साथ किया जाने लगा।

छोटी-छोटी चीजों पर ऐसे-ऐसे झगड़े हुए कि जिसने देखा निहाल हो गया। वे संयुक्त सचिव जिन के आदेश हजारों लोगों को क्षण-मात्र में प्रभावित करते थे। पानी के जार की अदला-बदली स्याही की दवात से करते देखे गए। मूत्रालय के पॉट के बदले 125 पिन-कुशनों की बोली लगी।

समुद्र में खोए नौसैनिकों की विधवाओं की पेन्शन कौन कितनी अदा करे, इस का जवाब पाने के लिए न जाने कितने दिनों तक चोंचे लड़ती रहीं। देश में सड़कों की कुल लम्बाई 18,077 मील और रेल-पटरियों की कुल लम्बाई 26,421 मील थी। उनमें से पाकिस्तान के हिस्से में 4913 मील लम्बी सड़कें और 7112 मील लम्बी रेल-पटरियां आई थीं। यह सवाल भी बहुत टेढ़ा साबित हुआ कि जिस अनुपात में सड़कें और पटरियां बंटी हैं, क्या उसी अनुपात में बसों, रेलवे-एन्जिनों, डिब्बों, कुदालों और फावड़ों इत्यादि का बंटवारा किया जाए? या इन्हें भी, अन्य चीजों की तरह 80% और 20% की दर से बांटा जाए?

पुस्तकों के विभाजन पर भी उग्रतम बहसें हुईं। 'एक्साइक्लो पीडिया ब्रिटानिका' के सैटस इस प्रकार बांटे गए कि एक को सम संख्या के भाग और दूसरे को विषम संख्या के भाग दे दिए गए। सभी शब्दकोशों को बीच से फाड़ लिया गया। 'ए' से 'के' तक का हिस्सा भारत को, शेष पाकिस्तान को।

कुछ चीजें ऐसी थी, जिन का विभाजन हो नहीं सकता था। गृह-विभाग ने दूरदर्शिता बरतते हुए साफ कह दिया कि देश का विभाजन होने के साथ हमारी जिम्मेदारियों में रंच-मात्र भी कमी आने वाली नहीं है। पाकिस्तान को हम कुछ नहीं देंगे। यहां तक कि फाइल या निब जैसी छोटी चीज भी नहीं।

किसी भी देश की पहचान स्थापित करने के लिए डाक-टिकटों और करेन्सी नोटों को सामने रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। भारतीय भूखण्ड में ऐसा छापाखाना, उन दिनों, केवल एक था, जहां टिकट और नोट छप सकते। भारतीयों ने उस छापेखाने का कोई हिस्सा अपने भावी पड़ौसियों को देने से साफ मना कर दिया। फलस्वरूप, हजारों मुसलमानों को रबर-स्टैम्प्स लेकर बैठना पड़ा, जिन्होंने भारतीय करेन्सी-नोटों की भारी भरकम गड्डियों पर 'पाकिस्तान' के ठप्पे लगा-लगा कर उन्हें अपने नव-निर्मित देश की मुद्रा का रूप दिया।

विभाजन कैसे करें और कैसे न करें, यह प्रश्न केवल राजनीतिज्ञों को परेशान कर रहा हो, सो नहीं। साधु-सन्तों और मौलवियों आदि को भी इस प्रश्न ने परेशान कर डाला। उन की मांगें अजब थी, और तर्क भी अजब। कुछ मुसलमानों ने मांग की कि ताजमहल को

तोड़कर पाकिस्तान ले जाना और वहां फिर से निर्मित करना चाहिए, क्योंकि उसका निर्माण आखिर एक मुगल ने किया है। हिन्दू साधु जिद पकड़ कर बैठे कि सिन्धु नदी के कगार पर हमारे पवित्र वेदों की रचना पच्चीस सौ वर्ष पहले हुई थी। सिन्धु नदी हम पाकिस्तान को नहीं दे सकते, भले ही वह उसके बीच से बहने जा रही है।

इंग्लैंड की जिस शक्ति ने भारतीय भूखण्ड पर शासन चलाया था, उसके सबसे शोख स्मारकों पर कब्जा कर लेने की उत्सुकता दोनों पक्षों में थी। ऐसा ही एक स्मारक था, वायसराय की सफेद-सुनहरी ट्रेन; जो भारत के हिस्से में आई। इसके एवज में भारतीय सेना के कमाण्डर इन-चीफ और पंजाब के गवर्नर की सभी निजी कारें पाकिस्तान को दी गई।

वायसराय के अस्तबल के सामने जो बंटवारा हुआ, उस के महत्व को भी नकारा नहीं जा सकता। शानदार घोड़ों से खींची जाने वाली उन बारह बग्घियों पर दोनों देशों की नजर थी। बिलाशक वे बारहों बग्घियां निहायत खूबसूरत थीं। उन पर सोने-चांदी की जानमारु डिजाइनें जड़ी हुई थीं। उनके चमकीले जीन और जीनपोश, उनकी मुलायम लाल गद्दियां...... उनका सब कुछ ऐसा सुन्दर, रोमांचक सनसनीखेज और ईर्ष्या जगाने वाला था कि अंग्रेजों की गुलाम प्रंजा ने उन्हें हमेशा दीदे फाड़कर देखा।

उन बारह में से किसी-न-किसी बग्घी में भारत आने वाला हर प्रमुख विदेशी मेहमान बैठ चुका था। शाही परिवार का जो भी व्यक्ति भारत आया—सैर करने चाहे शासन करने—उसने उस की सवारी का आनन्द लिया। प्रत्येक वायसराय उन बारह में से सर्वश्रेष्ठ बग्घी में बैठकर राजधानी की सड़कों पर निकल चुका था। छह बग्घियों की सजावट सोने से और छह की चांदी से की गई थी। छह-छह के उन सेटों को यदि तोड़ना पड़ा तो यह सचमुच एक दुःखद बात होगी—दोनों पार्टियों ने महसूस किया।

अब सवाल यह पैदा हो गया कि कौन-सा देश सोने के काम वाली बग्घियां पाए और कौन-सा चांदी के काम वाली। सवाल मामूली था लेकिन उस का जवाब पाने के लिए जो तरीका आजमाया गया वह निहायत मामूली था—उन्होंने सिक्का उछाल कर देखा। इस प्रकार भाग्य ने फैसला कर दिया कि सोने के काम वाली जो बग्घियां दिल्ली की सड़कों पर निकलती रही थीं आजादी के बाद भी वे दिल्ली की सड़कों पर ही निकलती रहें।

बग्घियों का वह बंटवारा वायसराय के एक ए.डी.सी. पीटर हाब्स की देखरेख में हो रहा था। हाब्स ने जीन बांटे जीनपोश बांटे। कोचवान के बूटों विगों और पोशाकों के अलावा चाबुकों का भी बंटवारा हाब्स ने कर दिया। आखिर वह चीज पीटर हाब्स के सामने आई जो मात्र एक थी—वायसराय की अपनी बग्घी का हॉर्न। अस्तबल की तमाम चीजों के बीच वह हॉर्न एक-मात्र ही था। उस का बंटवारा कैसे किया जाए? पीटर हाब्स सोच में पड़ गया। बेशक वह फिर से सिक्का उछाल सकता था। लेकिन तभी उसके दिमाग में एक और विचार आया।

हॉर्न उठाकर वह दोनों पार्टियों के सामने खड़ा हो गया और चिल्ला कर बोला "हॉर्न केवल एक है। मैं इसे काट नहीं सकता। मेरा ख्याल है कि यह उलझन केवल एक ढंग से सुलझ सकती है। क्यों न इसे मैं ही रख लूं?"

और वह गहरी मुस्कान के साथ हॉर्न को बगल में दबा कर अस्तबल से निकल गया।

बात केवल नोटों, कुर्सियों और पुस्तकों के बंटवारे की नहीं थी। हड़बड़ी से ओतप्रोत उन गर्म सप्ताहों में उच्च सरकारी अफसरों सैनिक अधिकारियों चपरासियों, रसोइयों, बाबूओं, भंगियों आदि का भी बंटवारा किया जाना था। सबको एक फार्म भरने के लिए दिया गया—कि वे भारत सरकार की सेवा में रहना चाहते हैं या पाकिस्तान सरकार की। जैसा जिसने चाहा, उसी हिसाब से किसी को इधर और किसी को उधर रवाना किया जाने लगा।

अंग्रेजों ने भारत में जिस सर्वाधिक गौरवमय संस्था का निर्माण और विकास किया था, उसका नाम था 'भारतीय सेना' उसमें बारह-लाख व्यक्ति समाए हुए थे। हिन्दू,मुसलमान, सिख, ईसाई, गोरे, काले, गेहुएं—हर जाति और रंग के व्यक्ति 'भारतीय सेना' में थे। ये एक-दूसरे को इतना ज्यादा चाहते थे कि मानव-मात्र के प्रति प्रेम की वैसी कोई मिसाल अन्यत्र ढूंढ़नी असम्भव थी। उन सिपाहियों और अफसरों को अपना धर्म याद ही नहीं था। इसीलिए जब धर्म के आधार पर उनका बंटवारा शुरू हुआ, तो अत्यन्त हृदय विदारक दृश्य सामने आए।

1945 में 'भारतीय सेना' पच्चीस लाख शूरवीरों को एकता और स्वामी भक्ति के सूत्र से बांधे हुए थी। द्वितीय विश्व-युद्ध में इस जबर्दस्त सेना की टुकड़ियां, अपने गोरे-शासकों के हित के लिए, इटली, बर्मा और पश्चिम मरुस्थल में अद्भुत शौर्य का परिचय देती हुई लड़ीं। इंग्लैण्ड में अंग्रेज बच्चों को कहानियां सुनाई जाती कि 'भारतीय सेना' के सैनिक कितने वीर, कितने स्वामीभक्त हैं। दो साल बाद, 1947 में 'भारतीय सेना' काफी कुछ सिमट कर, केवल बारह लाख व्यक्तियों की रह गई थी, लेकिन उसकी वीरता में, एकता में, आपसी प्रेम-सम्बन्धों में, कहीं कोई परिवर्तन नहीं था।

'आप अपनी सेवाएं भारत में जारी रखेंगे या पाकिस्तान जाएंगे?' इस प्रश्न का उत्तर देना हिन्दुओं और सिखों के लिए कतई मुश्किल नहीं था। न तो जिन्ना उन्हें अपनी सेना में जगह देना चाहते थे और न वे ही जिन्ना के पाकिस्तान में बसने को उत्सुक थे। हृदय विदारक उलझन अगर किन्हीं के सामने आई, तो सेना के मुसलमानों के सामने। जिन मुसलमानों की जन्मभूमि, देश के टुकड़ों के बाद, भारत की सीमा में रह जाने वाली थी, उनके लिए यह एक विकट सवाल था कि क्या करें। जिस धरती के साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी की लगन लगी हुई है, उसे छोड़ कैसे दें? काम-धन्धा, घर-बार, माल-असबाब— सब छोड़कर चले कैसे जाएं? पाकिस्तान की सेना में उनका भविष्य कितना सुरक्षित है, वहां उनकी स्वामी भक्ति को केवल

इस आधार पर सच्चा मान लिया गया है कि वे मुसलमान हैं? लेकिन भारत में भी उनका भविष्य किस सीमा तक सुरक्षित माना जाए? यहां मुसलमान पहले ही अल्पसंख्यक थे। पाकिस्तान बनने के बाद तो वे और भी अल्पसंख्यक हो जाएंगे...... क्या मुसलमान विरोधी जन भावना उन्हें कुचल नहीं डालेगी?

मालमत्ता के हिसाब-किताब की जिम्मेदारी दो-दो वकीलों को सौंपी गई थी, हालांकि वह उस अनोखे विभाजन की सबसे जटिल जिम्मेदारी नहीं थी। वह जटिल कम और समय खाऊ ज्यादा थी। सर्वाधिक जटिल न होने के बावजूद उसका निर्वाह दो व्यक्ति मिलकर कर रहे थे—जबकि सर्वाधिक जटिल समस्या जिसे सौंपी गई, वह अकेला था। उसका नाम था, सर सिरिल रैडक्लिफ।

कुछ व्यक्ति पहली नजर में ही साधु या बदमाश लगने लगते हैं। रैडक्लिफ एक ऐसा व्यक्ति था, जो पहली नजर में होशियार महसूस होता। उसका अधिकांश समय लन्दन के न्यू स्क्वैयर में स्थित अपने ला-चैम्बर में बीता करता। क़ानून की डिग्री उसने आक्सफोर्ड से पाई थी—प्रथम श्रेणी में। उसे 'आल सोल्स फेलोशिप' भी मिली थी। उसे इंग्लैण्ड का सबसे तेज तर्रार बैरिस्टर माना जाता था।

रैडक्लिफ की ज्ञान-पिपासा केवल कानून तक सीमित नहीं थी। न जाने कितने क्षेत्रों की गहन जानकारियां उसने अर्जित कर रखी थी। इसके बावजूद—

भारत के बारे में उसका ज्ञान लगभग शून्य था। भारत की कोई कानूनी उलझन सुलझाने का मौका उसे कभी नहीं पड़ा था। कानून क्या, किसी अन्य संदर्भ में भी, उसने वहां के बारे में कभी कुछ लिखा-पढ़ा या सुना-समझा नहीं था। भारत की धरती पर उसने कभी पैर रखा हो, इसका तो सवाल ही कहां था?

मजा यह कि भारत सम्बन्धी इसी घोर अज्ञान के कारण सर सिरिल रैडक्लिफ को वह समस्या सौंपी गई, जो विभाजन की सबसे जटिल समस्या थी। रैडक्लिफ जैसा अज्ञानी ही उसे सर्वाधिक कुशलता से सुलझा सकता था।

27 जून, 1947 की झुकती दोपहर को वह; बुलावे के अनुसार, लार्ड चान्सलर के दफ्तर में उनसे मिलने आया।

माउण्टबेटन की योजनानुसार, पंजाब और बंगाल के महान् प्रान्तों को दो-दो टुकड़ों में तोड़ना तो था; किन्तु विभाजन की रेखा ठीक-ठीक कहां से गुजरे, और ऐन वहीं से क्यों गुजरे, इसका फैसला वायसराय ने नहीं किया था। नेहरू और जिन्ना को आभास था कि अगर इस मसले को उन्होंने खुद हल करना चाहा, तो एक भी मुद्दे पर वे सहमत नहीं हो सकेंगे। बेहतर होगा कि नई सरहदें खींचने का कार्य 'बाउण्ड्री कमीशन' को सौंप दिया जाए, जिसके अध्यक्ष का पद कोई सुप्रसिद्ध अंग्रेज बैरिस्टर सम्भाले। यह बैरिस्टर भारत की धरती पर या संस्कृति से पूर्व परिचित नहीं होना चाहिए। यदि पूर्व परिचित हुआ, तो उसमें वह तटस्थता

नहीं आ सकेगी, जो इस मामले में अत्यंत अनिवार्य है। जाने-अनजाने में पूर्वाग्रह का शिकार हो जाएगा।

लार्ड चांसलर ने सर सिरिल रैडक्लिफ से कहा कि बैरिस्टर के रूप में आपकी ख्याति आसमान छू रही है। भारत-सम्बन्धी घोर अज्ञान के आप धनी हैं इस कार्य के लिए आपसे बेहतर व्यक्ति भला कौन हो सकता है ?

रैडक्लिफ स्तब्ध रह गया। पंजाब और बंगाल के नाम भी आज उसने पहली बार सुने थे। उसे अभी तक गुमान नहीं था कि उनमें से कौन-सा राज्य पूरब में, और कौन-सा पश्चिम में है। 'उतने अपरिचित इलाकों को विभाजित करने का काम दुनिया में, क्या किसी भी और व्यक्ति को नहीं सौंपा जा सकता क्या? सरकार को मैं अकेला ही दिखाई पड़ रहा हूं?' सर सिरिल रैडक्लिफ ने सोचा।

भारत के सम्बन्ध में चाहे वह जितना ही अज्ञानी रहा हो, इतना वह अवश्य जानता था कि क्षेत्रों को विभाजित करने का काम कितना धन्यवाद-विहीन है। ऐसे काम चाहे कितनी ही खूबी से क्यों न निबाहे जाएं, हर तरफ से थू-थू ही मिलती है।

लेकिन रैडक्लिफ एक अंग्रेज था। जब उससे कहा गया कि उसे अंग्रेज जाति की सेवा करने की भावना से यह जिम्मेदारी उठा लेनी चाहिए, तो वह इन्कार न तो कर सकता था, न उसने किया।

मात्र एक घण्टे बाद—

'इण्डिया ऑफिस' के स्थायी अण्डर सेक्रेटरी के कार्यालय में बैठा हुआ था वह। अण्डर-सेक्रेटरी ने मेज पर भारत का नक्शा फैलाया और उंगली के इशारे से बताया कि गंगा नदी कहां से चली और कहां गई। सिन्धु नदी भी कहां से चली, कहां गई। बंगाल यह रहा और पंजाब यह। हिमालय यहां से यहां तक फैला हुआ है। रैडक्लिफ ने पहली बार आविष्कार किया कि जिन प्रान्तों को उसे तोड़ना है, वे कितने बड़े हैं। आठ करोड़ अस्सी लाख की आबादी......... उनके घर, खेत, नाते-रिश्ते, कल-कारखाने, रेलें और सड़कें...... सबको काटकर अलग धर देना होगा। एक लाख पचहत्तर हजार वर्ग मील के विस्तार में फैले वे दो महान् प्रदेश....... उनकी धड़कन, संस्कृति, महत्वाकांक्षाएं, प्यार-मोहब्बत और फसलें...... उनकी नदियां, नाले, मैदान और दलदल....... उनका सभी कुछ उस समय, उस मेज पर, केवल एक नक्शे के रूप में सिमट कर पड़ा हुआ था.....

रैडक्लिफ को भी एक नक्शा ही तो तैयार करना है नक्शे के नाम पर मात्र दो लाइनें खींच देनी हैं उसे। एक लाइन पंजाब के आर-पार। एक बंगाल के आरपार आठ करोड़ अस्सी लाख जनता के टुकड़े हो जाएंगे। नहीं, नहीं ये टुकड़े स्याही की मात्र दो लकीरों से नहीं हो सकेंगे। ऑपरेशन करने के लिए डॉक्टर को जो तेज औजार और जो ठण्डा दिल चाहिए, उससे भी तेज औजार की जरूरत पड़ेगी—और उससे भी ठण्डे दिल की।

सारी जिम्मेदारी समझ लेने के बाद रैडक्लिफ की मुलाकात प्रधानमंत्री एटली से करवाई गई। भारत के लिए रवाना होते-होते जो अन्तिम निर्देश पाने जरूरी थे, उन्हें रैडक्लिफ ने प्रधानमंत्री से पा लिया। फिर वह नई दिल्ली के लिए उड़ान भरने की तैयारियों में जुटा।

लुई माउण्टबेटन अपनी उस सफलता पर अभी खुश हो भी नहीं सके थे जिसमें उन्होंने आपसी लड़ाइयों में ही जुटे भारतीय राजनीतिज्ञों को एक महत्वपूर्ण समझौते के लिए तैयार कर लिया—कि एक और समस्या उन पर थोप दी गई।

आपसी लड़ाइयों में जुटे उन राजनीतिज्ञों की संख्या विशेष बड़ी नहीं थी। उन्हें तो उंगलियों पर गिना जा सकता था। इसके अलावा, वे सब-के-सब इंग्लैण्ड की 'इन्स ऑफ कोर्ट' से बैरिस्ट्री पास कर चुके थे। उनसे आशा की जा सकती थी कि आगे-पीछे, कभी-न-कभी, वे समझदारी का परिचय देंगे....... लेकिन इस बार की समस्या में ये सारी सुविधाएं नदारद थीं।

संख्या में वे इतने कम नहीं थे कि उंगलियों पर गिने जा सकते। वे हिज हाइनेस यादवेन्द्रसिंह की 'चेम्बर ऑफ प्रिन्सेस' के सदस्य थे और उनकी संख्या 565 तक पहुंच रही थी। उनमें से बैरिस्टरों जैसी समझदारी कितनों में थी? ठीक विपरीत, उनमें से अनेक इतने विचित्र थे कि उनकी सनकों की कहानियां देश भर में फैल गई थी।

भारत के देशी रजवाड़ों के वे राजे-महाराजे और नवाब, लार्ड माउण्टबेटन को एक ऐसी समस्या पर विचार करने के लिए मजबूर कर रहे थे, जिसने भारत को अनेक शताब्दियों से ग्रसित कर रखा था। यदि देश के राजनीतिज्ञ उसे दो टुकड़ों में काट सकते थे, तो राजे-महाराजे उसे पूर्णतया नष्ट कर सकते थे। यदि उन्होंने भारत या पाकिस्तान में से किसी के भी साथ मिलने से इन्कार कर दिया, तो? यदि उन 565 रजवाड़ों ने स्वतंत्र ही रहने की कसम खाली, तो?

अनेक रजवाड़ों के पास शक्तिशाली सेनाएं थीं, जिनमें हवाई-जहाज तक शामिल थे। उन 565 राजा-महाराजाओं में वह शक्ति थी कि अगर वे चाहते, तो भारत की रेलों, बसों को अपने इलाकों से गुजरने से रोक सकते थे। डाक का आना-जाना रुक जाता। फोन बन्द हो जाते। तार के सन्देश कट जाते। यहां तक कि देश की हवाई उड़ानों को भी नए रास्ते ढूंढ़ने पड़ते।

सर कॉनरैड कॉरफील्ड ने, रजवाड़ों के हितों की रक्षा के लिए, चुपके से लन्दन जो ट्रिप लगाई थी, उसका थोड़ा बहुत लाभ तो सामने आया ही था। रजवाड़ों ने अपने राजनयिक अधिकार केवल महामना सम्राट के आगे समर्पित किए और ज्यों ही सम्राट का शासन भारत से हटेगा, अपने आप वे अधिकार रजवाड़ों को पूरे-पूरे वापस मिल जाएंगे— सर कॉरफील्ड के इस तर्क को लन्दन के राजनीतिज्ञों ने सैद्धान्तिक रूप से सही माना था।

किन्तु माउण्टबेटन जानते थे कि यह तर्क व्यावहारिक रूप से एकदम गलत और घातक है। इसे स्वीकार करने का अर्थ होगा भारत की हत्या।

दूसरी ओर, जो बात सैद्धान्तिक रूप से गलत नहीं थी, उसे वह एकदम से नकार भी नहीं सकते थे। न चाहते हुए भी उन्हें रजवाड़ों के प्रति नरम रुख अपनाना पड़ रहा था। लन्दन को अपनी रिपोर्ट भेजते समय माउण्टबेटन ने बड़ी कटुता के साथ लिखा, 'किसी ने मुझे रंच-मात्र भी आभास नहीं दिया था कि भारत पर से ब्रिटिश साम्राज्य को समेटने की समस्याएं जितनी दुरूह होंगी, उससे ज्यादा न सही, लेकिन उसकी बराबरी की दुरूहता इन रजवाड़ों के कारण भी पैदा हो जाएगी।'

कई राजे-महाराजे उस वक्त से माउण्टबेटन के मित्र थे, जब वह वायसराय के पद पर आए भी नहीं थे। अब, वे मित्र-गण अगर ऐसी आशा लगाए बैठे थे कि माउण्टबेटन उनके साथ कोई 'अन्याय' नहीं होने देंगे तो अजूबा क्या था?

मुश्किल यही थी कि रजवाड़ों की नजर में जो 'अन्याय' था, वही माउण्टबेटन एवं कांग्रेस की नजर में सिर्फ एक 'अनिवार्यता' थी। माउण्टबेटन उन रजवाड़ों को आसानी से समझा नहीं पा रहे थे कि नए युग को पहचानिए। भारत में जो लोकतंत्र इतने विशाल पैमाने पर पैदा हो रहा है, उसमें तानाशाह और पिद्दी रजवाड़े कैसे निभ सकेंगे?

अब तक रजवाड़ों ने जो किया; सो किया जो भोगा, सो भोगा, लेकिन आगे यह नहीं चलेगा। गनीमत इसी में रहेगी कि रजवाड़े चुपके से, सहर्ष, विलीन हो जाएं ताकि भारत के जबर्दस्त लोकतंत्र का उदय हो सके। रजवाड़ों को भारत या पाकिस्तान में से किसी एक का चुनाव करना ही होगा, कि जिस में वे शामिल हो जाएं।

माउण्टबेटन ने इस बारे में, सबसे पहले, वल्लभभाई पटेल से चर्चा की जो गृह-मंत्री होने के नाते रजवाड़ों के प्रति जिम्मेदार थे। वायसराय ने गृह-मंत्री से कहा कि अगर देशी राजाओं से उनकी पदवियां न छीनी जाएं, महल ज्यों-के-त्यों उन्हीं के पास बने रहें, अगर उन्हें गिरफ्तारी से मुक्त रखा जाए और प्रिवीपर्स की सुविधा जारी रहें; अंग्रेजों द्वारा दिए गए किसी भी सम्मान को स्वीकार ने से अगर उन्हें रोका न जाए, तो वायसराय इस बात पर उन्हें राजी कर लेंगे कि वे अपने राज्यों को भारतीय संघ में विलीन करें और स्वयं अलग से आजाद होने का विचार त्याग दें।

प्रस्ताव जोरदार था। पटेल अच्छी तरह समझते थे कि कांग्रेस में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो देशी रजवाड़ों के साथ उस स्तर पर बातचीत कर सके, जिस स्तर पर वायसराय लॉर्ड माउण्टबेटन। ''लेकिन ....'' पटेल ने अपनी शर्त सामने रखी।

''इक्के-दुक्के रजवाड़ों से काम नहीं चलेगा। सारे-के-सारे रजवाड़ों को अगर आप मेरे झोले में डाल सकें तो मैं इस प्रस्ताव को स्वीकार कर सकता हूं। पेड़ के सभी सेब नीचे गिर जाने चाहिए। ऐसा नहीं कि दस-बीच लटके रह गए।''

"क्यों? क्या आप दर्जन भर सेब भी मेरे लिए लटकते नहीं छोड़ेंगे?" वायसराय ने मुस्करा कर पूछा।

"दर्जन तो बहुत ज्यादा होते हैं।" पटेल ने जवाब दिया, "ऐसा करिए, दो रख लीजिएगा।"

"मात्र दो?"

भारत के अन्तिम वायसराय और भावी गृह-मंत्री के बीच कुछ मिनटों के लिए, ऐसी सौदेबाजी हुई; गोया वे रजवाड़ों के मुक्ति दाता नहीं, बल्कि कालीनों के व्यापारी हों। वह बहस उन रजवाड़ों पर हो रही थी, जिनमें संयुक्त राज्य अमेरिका की दो तिहाई आबादी जितनी जनता बसी हुई थी। सौदा आखिर छह पर तय हुआ।

उलझन जहां 565 रजवाड़ों के बीच फंसी हुई हो, वहां मात्र छह रजवाड़ों की छूट मिल जाने से कार्य की दुष्करता में भला क्या अन्तर आना था! साढ़े पांच सौ से ज्यादा रजवाड़े अभी भी रह जाते थे, जिनकी मान-मनौती में न जाने कितना वक्त जाया होगा—जबकि 15 अगस्त के आगमन में अब गिनती के ही सप्ताह शेष रह गए थे।

जवाहरलाल नेहरू ने जो प्रस्ताव लॉर्ड माउण्टबेटन के सामने रखा उससे बेहतर प्रस्ताव किसी अंग्रेज के सामने किसी भारतीय द्वारा न कभी रखा गया, न रखा जा सकेगा। साम्राज्य संकुचन के इतिहास में उसकी मिसाल ढूंढ़े नहीं मिलेगी। वायसराय के अध्ययन-कक्ष में, जहां उन दोनों ने न जाने कितने तनावपूर्ण घंटे साथ-साथ बिताए थे, भारत के प्रथम प्रधानमंत्री होने जा रहे जवाहरलाल नेहरू ने भारत के अन्तिम वायसराय लॉर्ड माउण्टबेटन को एक ऐसा पद ऑफर किया, जिससे ज्यादा सम्भावनापूर्ण कोई और पद स्वतंत्र भारत ऑफर कर नहीं सकता था—भारत के गर्वनर जनरल का पद। यह ऑफर उस व्यक्ति को दी जा रही थी, जिसने उस सिंहासन पर बैठने का अधिकार पाया था, जिसे हिला देने के लिए असंख्य भारतीयों ने वर्षों से संघर्ष किया था—

एक तरह से—

भारत ने जो राजनीतिक सत्ताएं वायसराय से छीनी थीं, उन्हीं सत्ताओं को उसी वायसराय पर वापस न्यौछावर करने के लिए वही भारत प्रस्तुत हो रहा था।

नेहरूजी का वह प्रस्ताव पूर्णतया मौलिक नहीं कहा जा सकता। उनके प्रतिद्वन्दी जिन्ना के एक सुझाव में उस की जड़ें थीं। जिन्ना ने माउण्टबेटन से आग्रह किया था कि वह 15 अगस्त के बाद भी यहीं, इसी देश में बने रहें—सर्वोपरि न्यायाधीश जैसी हैसियत से। इस आग्रह के पीछे, दरअसल, जिन्ना की यह आशंका छिपी हुई थी कि विभाजन के बाद, हो सकता है, भारत से योग्य मालमत्ता हासिल करने में पाकिस्तान को दिक्कत हो। सारा हिसाब-किताब और लेन-देन समाप्त होने तक यदि माउण्टबेटन को मौजूद रखा जा सके, तो आशका

टल जाए.... नेहरू जी का वह प्रस्ताव निस्सन्देह परम सम्मान से ओतप्रोत था, किन्तु कई गम्भीर कारणों से न तो माउण्टबेटन उसे स्वीकार करने को उत्सुक थे और न लेडी माउण्टबेटन ने ही उसका अनुमोदन किया।

लार्ड और लेडी माउण्टबेटन ने भारत में जो चार मास बिताए थे, उस दौरान उन्होंने जगमगाती सफलताओं का वरण किया था। चरम सफलता और प्रसिद्धी के क्षणों में ही व्यक्ति अगर हट जाए, तो उसके सम्मान की सर्वाधिक रक्षा होती है। आगे भारत के सामने ऐसे रद्दी दिन आने जा रहे थे कि उस दौरान भारत में ही बने रहने पर माउण्टबेटन दम्पत्ति की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंच सकता था। इसके अलावा, इसी तरह का प्रस्ताव जब तक जिन्ना की तरफ से भी न मिले, तब तक माउण्टबेटन उस पद के साथ पूरा न्याय कर भी नहीं सकते थे।

लेकिन मृत्यु की ओर तेजी से बढ़ रहा वह मुसलमान नेता, अपने राष्ट्र के सर्वोच्च पद पर स्वयं बैठने की आकांक्षा को दबा नहीं पा रहा था। उस पद के लिए उसने कठोर परिश्रम किया था और उसे मालूम था कि अब वह थोड़े ही दिनों का मेहमान है। उस नेता ने वायसराय को स्पष्ट बता दिया कि पाकिस्तान का प्रथम गवर्नर जनरल वह स्वयं ही बनेगा।

माउण्टबेटन ने विरोध किया, ''लेकिन यह आपकी भूल होगी। भारत और पाकिस्तान दोनों देशों में इंग्लैण्ड की जो लोकतान्त्रिक प्रणाली स्वीकारी गई है, उसमें राष्ट्र संचालन की सारी शक्तियां प्रधानमंत्री पर केन्द्रित होती हैं, न कि गवर्नर-जनरल पर। गवर्नर जनरल का कार्यालय तो केवल सांकेतिक शक्तियों का स्वामी होता है।''

जिन्ना इस तर्क से प्रभावित न हुए। ठण्डे स्वर में उन्होंने उत्तर दिया, ''पाकिस्तान में गवर्नर जनरल मैं बनूंगा और प्रधानमंत्री को वही करना होगा, जो मैं कहूं।''

किन्तु नेहरू जी का प्रस्ताव इतना महान् था कि उससे केवल माउण्टबेटन का नहीं, बल्कि सम्पूर्ण इंग्लैण्ड का सम्मान बढ़ जाता था। न केवल चर्चिल और एटली ने बल्कि माउण्टबेटन के दूर के भाई स्वयं महामना सम्राट ने भी सन्देश भिजवाया कि नेहरू का प्रस्ताव लार्ड माउण्टबेटन को स्वीकार कर लेना चाहिए। जिन्ना ने भी इसका अनुमोदन किया।

लेकिन इससे पहले कि माउण्टबेटन हां कहें, एक और व्यक्ति की सहमति, बल्कि आशीर्वाद मिलना आवश्यक था। जिस व्यक्ति ने अहिंसा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था, वह एक ऐसे व्यक्ति को आशीर्वाद दें, जिसने अपना जीवन ही युद्ध कौशल के विज्ञान पर न्यौछावर कर दिया हो—कितनी असम्भव थी यह बात! इसके अलावा महात्मा गांधी ने अपनी लाक्षणिक आदर्शवादिता का परिचय देते हुए, विश्व के सामने उस व्यक्ति का नाम उद्घाटित भी तो कर दिया था, जिसे वह उस पद पर मनोनीत करना चाहते थे—वह अछूत-कन्या, जिसके हृदय में उदारता का सागर लहराता था, जो पवित्रता की साक्षात् मूर्ति थी, जिसके आदर्श हीरे की कनी की तरह शुद्ध थे।

तीव्रतर मतभेदों के बावजूद; महात्मा गांधी और उनसे तीस साल छोटे उस एडमिरल के बीच, कोमल भावनाओं के तन्तु पैदा हो गए थे। गांधी ने माउण्टबेटन को मन्त्रमुग्ध कर लिया था। उनकी निखालीस विनोदप्रियता लार्ड माउण्टबेटन के मन में बस गई थी। भारत में आगमन के साथ ही माउण्टबेटन ने पहचान लिया था कि देश भर में जितने भी खद्दरधारी हैं, सब कमोबेश अ-मौलिक हैं। पूर्णतया मौलिक और शुद्ध अगर कोई है तो अकेले महात्मा गांधी। इसीलिए, भारत के अन्तिम वायसराय ने महात्मा की बातों को हमेशा गौर से अत्यधिक खुले दिल से सुना था। प्रत्येक मुलाकात के साथ, गांधी के प्रति उनका निजी स्नेह व सम्मान बढ़ता जा रहा था।

गांधी स्वयं स्नेहशील व्यक्ति थे। माउण्टबेटन की ऊष्मा को उन्होंने पहचान लिया था—और ऊष्मा का उत्तर वह ऊष्मा से ही दे सकते थे। जुलाई की एक झुकती दोपहरी को वह व्यक्ति वायसराय के अध्ययन-कक्ष में आया, जिसने अंग्रेजों की जेलों में अनेक वर्ष गुजारे थे। वहां महात्मा गांधी ने वायसराय से आग्रह किया कि भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल बनने का कांग्रेस का आमन्त्रण उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। वायसराय के ही भाई-भतीजों से जिस राष्ट्र को वापस प्रात करने में महात्मा गांधी को 35 वर्ष लग गए थे, उसी राष्ट्र का सर्वोच्च सम्मान उसी वायसराय पर न्यौछावर करने के लिए महात्मा तैयार था।

गांधी जी के शब्दों में माउण्टबेटन के लिए व्यक्तिगत स्नेह का अतुल सागर लहरा रहा था। साथ-साथ, वे शब्द पूरी अंग्रेज जाति के लिए भी कम गौरव के नहीं थे। भावनाओं से आलोड़ित होकर माउण्टबेटन ने महात्मा गांधी की ओर देखा, जिनका संक्षिप्त शरीर उस बड़ी-सी कुर्सी में गायब सा हुआ जा रहा था।

'हमने इस व्यक्ति को जेलों में ठूंसा है, अपमानित किया है; निर्दयता से इसका मजाक उड़ाया है। हमने इसकी उपेक्षा भी की है।' वायसराय ने सोचा, इसके बावजूद इस आदमी का बड़प्पन देखो कि यह मुझे किस हद तक सम्मानित कर रहा है!

माउण्टबेटन की पलकें भीग आईं। आभार से दबे स्वर में उन्होंने गांधी जी को धन्यवाद दिया। इसके उत्तर में गांधी जी ने धीमे से सिर हिलाया और अपना कथन आगे चलाया। दुर्बल, नाजुक हाथ से उन्होंने वायसराय के शानदार निवास स्थान और महान मुगल गार्डन्स की तरफ इशारा किया, ''स्वतन्त्र भारत के वायसराय को यह सब नहीं मिलेगा। यह सारा रौब-दाब चला जाएगा।''

ये शब्द उस वायसराय से कहे जा रहे थे, जिसे अपने दमदार निवास स्थान के एक-एक इंच से प्यार था। नौकर हों, रसोइए हों, गलीचे बिछे हों, मन्द-मन्द संगीत चल रहा हो, मुगल गार्डन्स से कोयल की कूक सुनाई देती हो, पानी मांगों तो दूध और दूध मांगों तो शराब हाजिर होती हो, कतार लगाकर अंगरक्षक खड़े हों, नन्हें-नन्हें नाजुक कुत्ते मुर्ग-मुसल्लम खा रहे हों, सैर के लिए सोने से मढ़ी बग्घियां तैयार खड़ी हों....... यही तो है जीवन!

लेकिन गांधी जी ने हमेशा कहा था कि भारतीय नेताओं का जीवन किसी और ढंग का होगा। गरीब देश है। नेता मौज-मजे नहीं कर सकते। ऐसे देश के प्रथम अध्यक्ष के रूप में, लॉर्ड माउण्टबेटन को भी, सादगी का उदाहरण सामने रखना होगा। ''इस जबर्दस्त हवेली से बाहर आइए।'' गांधी जी कह रहे थे, ''मामूली मकान में रहिए, जहां कोई नौकर-चाकर न हो। क्यों न इस जबर्दस्त हवेली को अस्पताल में बदल दिया जाए?''

माउण्टबेटन सन्न रह गए। उनके चेहरे पर एक रूखी मुस्कान खेल गई। 'शैतान बुढ़ऊ!' उन्होंने सोचा, 'इसका बस चले, तो मेरा सण्डास भी मुझ ही से साफ करवाए!' महामना सम्राट, एटली, चर्चिल, नेहरू, जिन्ना—ये सब उन्हें जिस गरिमामय पद पर बिठाने को उत्सुक थे, उसी गरिमा को इस मसखरे शैतान ने किस प्रकार परिभाषित किया? जो माउण्टबेटन गले तक ग्लैमर में डूबे रहने के आदी थे, उन्हीं को भारत का प्रथम समाजवादी नेता बनाने के लिए यह हड्डियों का ढांचा प्रस्ताव रख रहा है कि टूटे-फूटे मकान में रहो और सुबह उठकर रोज अपने हाथ से झाड़ू लगाओ! वाह!

सर सिरिल रैडक्लिफ ने दिल्ली के हवाई अड्डे पर उतरने के कुछ ही घण्टों के भीतर, वायसराय लॉर्ड लुई माउण्टबेटन से मुलाकात की। माउण्टबेटन ने स्पष्ट किया कि सैद्धान्तिक रूप से, प्रत्येक प्रान्त में, चार-चार न्यायाधीशों की टुकड़ी रैडक्लिफ की सहायता के लिए प्रस्तुत रहेगी, जो सिफारिश करेगी कि विभाजन रेखा को कहां-कहां से चलना चाहिए, जबकि व्यावहारिक रूप से सारे निर्णय रैडक्लिफ को अकेले ही लेने होंगे, क्योंकि न्यायाधीशों की आधी टुकड़ी हिन्दुओं द्वारा और आधी मुसलमानों द्वारा नियुक्त होने के कारण, इस बात की अधिकतम सम्भावना है कि न्यायाधीश आपस में ही चोंचें लड़ाते रह जाएंगे और रैडक्लिफ के सामने कोई ठोस सुझाव नहीं रख सकेंगे।

विभाजन रेखा खींचते समय पहला ध्यान तो इसी का रखना होगा कि मुसलमानों और गैर-मुसलमानों में से आबादी का प्रतिशत किन का अधिक है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य तत्वों को ध्यान में न रखा जाए।

इन 'अन्य तत्वों' को किस प्रकार परिभाषित किया जाए, यह रैडक्लिफ को बताने के लिए कोई माई का लाल सामने न आया। 'अन्य तत्वों' की परिभाषा करने का नन्हा-सा प्रयास भी, नेहरू और जिन्ना को उनकी उसी सुप्रसिद्ध बहसबाजी की खाई में गिरा देता, जिसका कोई ओर छोर कभी सामने नहीं आया।

'भारतीय सेना' के कमाण्डर इन चीफ ने रैडक्लिफ को पूरा अधिकार दे रखा था कि विभाजन रेखा निश्चित करते समय उस मुद्दे को कतई ध्यान में रखना आवश्यक नहीं, जिसे कि ऐसे अवसर पर हर राष्ट्र अवश्य ध्यान में रखता है—सरहद पर सुरक्षा के प्रबन्ध की सम्भावनाएं। इस महत्वपूर्ण मुद्दे की अपेक्षा की छूट इस आधार पर दी जा रही थी कि—जैसा कि मान कर चला जा रहा था—विभाजन के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कभी आपसी संघर्ष तो होने वाला था नहीं! कितना भ्रामक अनुमान!

ये सब बातें, रैडक्लिफ के लिए, पर्याप्त आघातजनक थीं, लेकिन सबसे बड़ा आघात अभी सामने कहां आया था? दिल्ली आते समय रैडक्लिफ को भली-भांति अनुमान था कि उसे सौंपा गया काम आसान सिद्ध नहीं होने जा रहा, लेकिन उसने इतनी आशा तो रखी ही थी कि काम पूरा करने के लिए उसे पर्याप्त समय दिया जाएगा।

अब, सर्वाधिक आघातजनक जो शर्त सामने आई, वह यही थी कि तसल्ली से काम करने के लिए समय नहीं है। माउण्टबेटन ने स्पष्ट कर दिया कि 15 अगस्त तक विभाजन-रेखा अवश्य तय हो जानी चाहिए—और इसमें अब गिनती के ही हफ्तों की कसर रह गई थी। रैडक्लिफ ने वायसराय को सावधान किया कि इतनी हड़बड़ी मचाने पर गम्भीर भूलें होने का पूरा खतरा रहेगा। वायसराय का उत्तर था कि दोनों देशों को, 15 अगस्त तक, विभाजन-रेखा की इतनी सख्त आवश्यकता है कि वह रेखा जहां से भी गुजरेगी, दोनों स्वीकार कर लेंगे।

मगर रैडक्लिफ एक न्यायप्रिय व्यक्ति था। वायसराय के आश्वासन के बावजूद उसने नेहरू और जिन्ना, दोनों से मुलाकात की और पूछा कि क्या सचमुच 15 अगस्त तक विभाजन-रेखा तय हो जानी चाहिए? चाहे उसमें कितने ही दोष हों? दोनों नेताओं ने कहा कि दोष हम निभा लेंगे, किन्तु विलम्ब नहीं।

'तब तो ....' रैडक्लिफ ने सोचा, 'मुझे ऑपरेशन करने के डॉक्टरी औजारों की नहीं, बल्कि बूचड़खाने की कुल्हाड़ी की जरूरत पड़ेगी। जिन क्षेत्रों से विभाजन रेखा गुजरेगी, उनमें से अधिकांश को मैं आमने-सामने कभी देखूंगा भी नहीं........'

पंजाब; जुलाई, 1947

सिरिल रैडक्लिफ की कुल्हाड़ी जिस पंजाब पर चलने वाली थी, उसकी सरहद और वायसराय की खिड़की के बीच मुश्किल से बारह मील का फासला था।

पंजाब के दिल में बसा हुआ था वह शहर ज़ो दिल्ली से ज्यादा अन्तर्राष्ट्रीय मुम्बई से ज्यादा अभिजात्य और कलकत्ता से ज्यादा पुराना था, जिसे मुगल शासकों ने बेहद प्यार किया था, जहां मुगलों के अनेक महत्वपूर्ण स्मारक और मकबरे थे, जहां पुस्तकों की दुकानों से ज्यादा शराबघर थे, जहां मन्दिरों और मस्जिदों से ज्यादा भीड़ कैबरे देखने वालों की लगा करती थी, जहां की वेश्याओं का मोहल्ला भारत में सर्वश्रेष्ठ गिना जाता था, जिसे 'एक हजार एक रातों की राजधानी' और 'पूरब का वेनिस' कहलाने का गौरव प्राप्त था—लाहौर।

अंग्रेजों के सर्वश्रेष्ठ क्लब और कालेज इसी शहर में थे। धार्मिक उदारता के आदर्शतम उदाहरण के रूप में लाहौर को ही सामने रखा जाता, जहां पांच लाख हिन्दुओं छह लाख मुसलामनों और एक लाख सिखों को याद ही नहीं था कि किस का धर्म क्या है।

लेकिन धार्मिक उदारता का वह सुन्दर सपना बहुत अचानक टूटा। जनवरी, 1947 से पूरे पंजाब में मुस्लिम लीग द्वारा गुप्त रैलियां आयोजित होती रही थीं। हिन्दुओं की 'मक्कारी

और निर्दयता' के शिकार लोगों की खोपड़ियां और तस्वीरें उन रैलियों में प्रदर्शित होतीं। यदाकदा, जिन्दा और घायल मनुष्यों को भी एक रैली से दूसरी रैली में घुमाया जाता, तो सबके सामने अपने घाव दिखाते और बयान करते कि वे घाव उन्हें किस प्रकार 'मक्कार और निर्दय, हिन्दुओं के कारण लगे।'

ये रैलियां, जो कभी गुप्त होतीं और कभी सार्वजनिक; उस क्षेत्र की धार्मिक उदारता का भक्षण करती जा रही थीं। हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों की जिस मिली-जुली राज्य सरकार ने दस वर्षों तक सफलतापूर्वक शासन चलाया था, उसे एकाएक जो इस्तीफा देना पड़ा, उसके पीछे धार्मिक उदारता में पड़ चुकी दरारें ही थीं। शासन सम्भालने के लिए, आखिर, स्वयं गवर्नर को सामने आना पड़ा था।

हिंसा की पहली लहर मार्च में आई, जब एक सिख नेता ने मुस्लिम लीग के झण्डे को 'पाकिस्तान मुर्दाबाद!' के नारे के साथ नीचे गिरा दिया। लगभग 3000 लोग, जिनमें अधिकांश सिख थे, उन दंगों में मारे गए, जो नगर-नगर, देहात-देहात में फूट पड़े; क्योंकि लीग के अपमान का बदला लेने के लिए मुसलमानों ने हथियार उठा कर घर से निकलने में कोई देरी नहीं की।

इन दंगों से जो घृणा की किरणें फूटी, उनसे प्रभावित हुए बिना लाहौर भी नहीं रह सकता। सर सिरिल रैडक्लिफ ने जब वहां प्रवेश किया, तो इंग्लैण्ड में उसने लाहौर की रंगीनियों के बारे में जो कुछ सुन रखा था, उसका शतांश भी वहां शेष नहीं था। रंगीनियों की अपेक्षा, शहर में केवल तेज धूप थी, धूल के बगूले थे, दंगे थे और थीं आग की लपटें'।

लगभग एक लाख व्यक्ति शहर छोड़कर भाग गए थे। रात को खुले आकाश के नीचे सोने की पीढ़ियों पुरानी परम्परा गायब हो चुकी थी। हर वक्त, हर दरवाजा बन्द नजर आता। बेहद जरूरी काम से ही लोग बाहर निकलते। गया हुआ बन्दा लौटकर आएगा भी या नहीं, कभी भरोसा न होता।

जैसा कि एक अंग्रेज पुलिस अधिकारी ने लिखा है, लाहौर में 'मौत बिजली की तरह आया करती। यों आई, यों गई। इससे पहले कि कोई चिल्ला सके, ''बचाओ!'', लाश गिर चुकी होती। हर दरवाजा बन्द, हर गली सूनी, पता ही न चलता, कातिल कौन था और कहां चला गया।'

हिन्दू और मुसलमान, दोनों, एक-दूसरे से बढ़कर हिंसा कर रहे थे। सर सिरिल रैडक्लिफ को लाहौरियों ने इतना विवादास्पद माना कि पंजाब के गवर्नर ने उसे अपने यहां ठहराने से इन्कार कर दिया। उसे एक होटल में शरण लेनी पड़ी। उसने पंजाब की धरती के बारे में योग्य सूचनाएं प्राप्त करने की बहुत कोशिश की, लेकिन माउण्टबेटन ने सच कहा था। रैडक्लिफ की सहायता के लिए जो न्यायाधीश नियुक्त हुए थे, उन्होंने ऐसी-ऐसी परस्पर विरोधी रिपोर्टें दीं कि किसी रिपोर्ट का कोई अर्थ न रहा।

रैडक्लिफ जहां भी जाता, हिन्दू और मुसलमान उसे घेर लेते और प्रभावित करने की कोशिशें करते। रैडक्लिफ की कलम का एक झटका उन्हें जमा या उखाड़ सकता था। उस अंग्रेज को प्रसन्न करने के लिए वे किसी भी सीमा तक, कुछ भी करने को तैयार थे। फालतू की बहसें सुन-सुन कर रैडक्लिफ का दिमाग पक जाता। लोगों से दूर रहने का अवसर उसे केवल रात को मिलता, जब वह 'पंजाब क्लब' में जा घुसता। लाहौर का ऐसा अन्तिम क्लब वही था, जो 'केवल गोरों के लिए' खुला था।

'पंजाब क्लब' के लॉन में बैठ कर, अपने आई.सी.एस. सहायकों की मदद से, जैसा बन पड़ता, वैसा फैसला रैडक्लिफ करता रहता। रात की काली चादर में जगह-जगह, डरावनी रोशनी के झण्डे तन जाते—सुलगते बाजार और मोहल्ले। पुलिस के सायरन। 'अल्ला-हो-अकबर', 'सत् श्री अकाल' के खूंखार नारे। उग्र हिन्दूवादी संस्था आर.एस.एस. के ड्रमों की रोम सिहरा देने वाली आवाजें........

मार्च 1947 में मुसलमानों ने पंजाब के सिखों का जो संहार किया, उसकी प्रतिक्रिया में सिखों को भी तुरन्त हथियार लेकर निकल पड़ना चाहिए था। जब ऐसा न हुआ, तो सुरक्षा-अधिकारियों और राजनीतिज्ञों के लिए यह घोर आश्चर्य की बात थी। उन्होंने यही समझा कि सिखों जैसी वीर और लड़ाका कौम ने भी अपनी गर्म-जोशी खो दी है। दौलत ने उन्हें आरामपसन्द बना दिया है।

लेकिन, सिखों के मानस का यह मूल्यांकन पूर्णतया गलत था। जून के प्रारम्भिक दिनों में, जब वायसराय और भारत के नेता मिलकर देश के विभाजन की भूमिका तैयार कर रहे थे, लाहौर के एक होटल में सिख नेताओं की गुप्त बैठक हुई।

ये नेता तय करना चाहते थे कि यदि सचमुच विभाजन हो गया, तो सिखों की मोर्चाबन्दी क्या हो। उस बैठक में सबसे तेज आवाज नेता की थी, जिसने मुस्लिम लीग के झण्डे का अपमान करके, मार्च में हुए सिखों के संहार का कारण पेश किया था, तारासिंह नामक उस सिख को अनुयायियों द्वारा 'मास्टर' कहा जाता, क्योंकि वह तृतीय श्रेणी का एक स्कूल मास्टर ही था। उसने जो दंगा मार्च महीने में उकसाया था, उसमें उसी के परिवार के अनेक सदस्य मारे गए थे, अब उसके जीवन का एक ही उद्देश्य रह गया था—बदला!

"मेर सिख भाईयों!" अपनी एक सभा में उसने चिल्ला कर कहा, "जैसे जापानियों और नाजियों ने आत्म-बलिदान दिया, वैसे ही हमें भी आत्म-बलिदान के लिए तैयार हो जाना है। वह दिन दूर नहीं, जब हमारी धरती पर आक्रमण होगा और हमारी औरतों की इज्जत दांव पर लग जाएगी। उठो! इन मुगल आक्रमणकारियों को एक बार फिर तबाह कर दो। हमारी जन्मभूमि खून मांग रही है। धरती माता की प्यास हम जरूर बुझाएंगे—अपने खून से और दुश्मनों के खून से......."

जो दंगे जल्द ही पंजाब को हचमचा.देने वाले थे, उनकी आगाही इन शब्दों में छिपी हुई थी।

भारत के साठ लाख सिखों में से पांच लाख, उन दिनों, अकेले पंजाब में बसे हुए थे। भले ही वे, पंजाब की कुल आबादी के मात्र 13 प्रतिशत ही थे, किन्तु 40 प्रतिशत भूमि उन्हीं के कब्जे में थी। पंजाब की अनोखी फसलों का दो-तिहाई हिस्सा सिखों के ही हाथों पैदा होता था। हथियारों के प्रति उनके आकर्षण का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि भारतीय सशस्त्र फौज के एक-तिहाई सदस्य सिख थे और दोनों विश्व-युद्ध में 'भारतीय सेना' ने जो पदक जीते, उनमें से आधे सिखों के ही कारण जीते।

पंजाब में सिखों का दिल के साथ-साथ दिमाग भी था। लाहौर में उनकी सांस्कृतिक धड़कन होती थी। लाहौर से केवल पैंतीस मील पूरब में सिखों का एक और महान् शहर था—उनकी धार्मिक गतिविधियां और आस्थाओं का साक्षात् प्रतीक, अमृतसर। उनके, 'गुरु ग्रन्थ सांहब' की मूल पाण्डुलिपि जिस स्वर्ण मन्दिर में रखी है, उसने अमृतसर को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति दिलाई है। उस गुरुद्वारे की पवित्रता इतनी अधिक है कि वहां बुहराने का कार्य भी मयूर पंखों से होता है। 'गुरु-ग्रन्थ साहब' के पृष्ठ चांदी में लिपटे हुए हैं। उन पर हमेशा ताजा फूल न्यौछावर रहते हैं।

पंजाब की विडम्बना यह थी कि सिख और मुसलमान प्रजा, अंग्रेजों के तहत तो शान्ति से रह सकती थी; किन्तु एक-दूसरों के तहत नहीं।

उधर, नई दिल्ली में, वायसराय और उनके स्टाफ के सामने, रोज अनेकानेक समस्याएं आ रही थीं। आजादी के कारण अनेक अंग्रेज कर्मचारियों को समय से पहले रिटायर होना पड़ रहा था। उनकी पेन्शन की जिम्मेदारी कौन उठाए और कितनी उठाए? भारत और पाकिस्तान के निवेदन पर, कई अंग्रेज नागरिक एवं प्रशासनिक-अधिकारी, इस भूखण्ड पर आजादी के बाद भी, रुकना चाहते थे। उन सैकड़ों गोरों का वेतन क्या हो? उनके ठहरने की शर्तें क्या हों? सवालों का अटूट सिलसिला जारी था।

भारतीय ज्योतिषियों के आग्रह के सामने भी वायसराय को झुकना पड़ा। किसी भी राष्ट्र के आधुनिक इतिहास का प्रारम्भ 15 अगस्त को करना कदापि उचित नहीं रहेगा, इस चेतावनी को बार-बार दोहरा रहे ज्योतिषियों ने आखिर जो एक बीच का रास्ता सुझा दिया था, उनके अनुसार 14 अगस्त के दिन सितारों की स्थिति, 15 अगस्त की तुलना में, काफी बेहतर थी। लिहाजा, 14 अगस्त 1947 की ठीक आधी रात को यदि भारत और पाकिस्तान नामक राष्ट्रों को आजाद किया जाए, तो यह सभी दृष्टियों से बेहतर साबित होगा। वायसराय ने, छुटकारे की सांस के साथ, यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था।

वायसराय ने, मन्द मुस्कान के साथ, यह भी नोट किया था कि ज्योतिष-विद्या पर उन्हें सही सलाह देने के लिए स्टाफ में उचित प्रबन्ध नहीं है। उन्होंने अपने सुयोग्य, नौजवान

प्रेस सलाहकार एलन कैम्पबेल जॉनसन को, अन्य जिम्मेदारियों के साथ यह जिम्मेदारी भी सौंपी कि महत्व के मुद्दों पर हमेशा ज्योतिषियों से मशविरा कर लिया जाए।

आजादी ज्यों-ज्यों नजदीक आ रही थी, महात्मा गांधी की छत्रछाया में पले सभी नेताओं को महसूस होने लगा कि महात्मा जी की बातें अवैज्ञानिक और देहाती हैं। वे भारत को भविष्योन्मुखी बनाने की अपेक्षा भूतकाल-पर सम्मोहित स्थिति में डाल रही हैं। वे नेतागण चरखे को भारतीय देहात का जागरण चिन्ह न मान कर उसे 'गांधी जी का खिलौना' कहने लगे थे। गांधी जी के एतराज की उपेक्षा करके उन्होंने भारत के राष्ट्रीय झण्डे के मध्य से चरखे को हटा दिया था। सम्राट अशोक के युगल सिंहों में बीच फंसे धर्म-चक्र को राष्ट्रीय झण्डे के बीच जगह दी थी, ताकि अशोक जिस शक्ति और आधिपत्य का स्वामी था, उसकी संकेत किरणें राष्ट्रीय झण्डे से फूट सकें।

गांधी शक्ति और आधिपत्य के प्रचारक नहीं थे। उनके अनुसार, ये दोनों तत्व मनुष्य को हिंसा और पतन की ओर ले जाते हैं। वह तो आत्म-जागरण और त्याग के प्रचारक थे उन्होंने साफ कहा कि राष्ट्रीय झण्डा देखने में चाहे कितना ही कलात्मक क्यों न लगता हो; उसमें हिंसा का जो सन्देश छिपा है, उसके आगे मैं नत-मस्तक कैसे होऊंगा?

उन्हीं के द्वारा पोषित नेताओं और उनके बीच, मतभेदों की अभी तो वह शुरूआत ही थी।

सिख और हिन्दू शरणार्थियों का पहला जत्था पश्चिम पंजाब से भारत आ गया था। गांधी जी ने आग्रह किया कि वह उन शरणार्थियों से आमने-सामने मिलना चाहेंगे और उस समय, भावी प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को साथ चलना चाहिए।

प्रत्यक्ष आमने-सामने का वह अनुभव विकट ही कहा जाएगा। लगभग सौ गांवों और शहरों से बत्तीस हजार लोग, वीभत्स अत्याचार और अपमान सहकर, जान हथेली पर रखे हुए, भारत आए थे और उन्हें, दिल्ली से 120 मील के फासले पर, धूप और धूल के बीच, भारत के प्रथम शरणार्थी शिविर में बसाया गया था।

क्रोध से चीखते या दुःख से रिरियाते हुए वे लपक पड़े गांधी और नेहरू की कार को मनुष्यों के सागर ने चारों तरफ से घेर लिया। घृणा और गुस्से से उनके चेहरे विकृत हुए जा रहे थे। उनकी दर्द भरी आंखें सांत्वना मांग रही थीं। वे दांत किटकिटा रहे थे। उनकी मुट्ठियां भिंची हुई थी। उनके बदन घावों और खरोंचों से सने हुए थे, जिन पर भिनभिनाती मक्खियों के बादल मंडरा रहे थे। जब वे उस कार की ओर दौड़े, तो उनके पैरों ने धूल का झण्डा उठा दिया। उनके गले सूख चुके थे और नथुने फूल रहे थे। उनके बाल इतने रूखे और धूल-सने थे, जैसे वे हफ्तों से नहाए न हों। जिस तरह उनके पैरों ने धूल का झण्डा उठाया था, उसी तरह उनके शरीरों ने गन्ध का झण्डा उठा दिया। निस्सन्देह वे दुखियारे लोग थे।

सारा दिन गांधी जी ने उनके कन्धे-से-कन्धा भिड़ा कर काम किया। गांधी जी, सबसे पहले, उनके शिविर की स्वच्छता पर ध्यान देना चाहते थे। उन्होंने उन्हें सिखाया कि सण्डास किस प्रकार खोदे जाएं, अन्य स्वच्छताएं किस प्रकार बरती जाएं। गांधी जी ने वहां एक स्वास्थ्य केन्द्र खुलवाया। जितने भी अधिकतम मरीजों की सेवा वह कर सकते थे, उन्होंने की।

झुकती दोपहरी को दोनों नेता दिल्ली की ओर वापस चले। दु:ख-दर्द के उस सागर से साक्षात्कार करके गांधी जी की उदासी की सीमा नहीं थी। उनका 77 वर्षीय शरीर थक कर चूर हो गया था। गांधी जी कार की पिछली सीट पर लेट गए। उनकी आंखें मुंदने लगी। उभरी नसों वाले उनके पैर उस शिष्य की गोद में थे, जिसने केवल दो मास पहले उनकी ओर से मुंह फेर लिया था।

उस शिष्य का चेहरा इतना संवेदनशील था कि उसके भाव क्षण-क्षण बदलते रहते थे, किन्तु उस समय जवाहरलाल नेहरू का चेहरा एकदम भावहीन होने लगा था..... बिल्कुल पथरीला। उनकी शून्य आंखें सामने स्थिर थी। बड़ी देर तक नेहरू जी खामोश बैठे रहे। कार आगे बढ़ती रही। जो करुण दृश्य वे अभी-अभी देख कर आए थे, उस आधार पर आगामी दिनों की जो कल्पना नेहरू जी के दिमाग में उभर रही थी—कैसे थे वे दिन?

क्या वे दिन, भविष्य के भारत की झांकी प्रकट नहीं कर रहे थे? वह भारत जिस पर नेहरू जी को शासन करना था..........

फिर; सहसा, धीरे-धीरे , पूरी कोमलता से उन्होंने उस सोए महात्मा के पैरों को दबाना शुरू किया, जिस पर जवाहरलाल ने अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ दिन न्यौछावर कर दिए थे। महात्मा जी को उतना अधिक पीड़ित क्या इसलिए नहीं होना पड़ा कि जवाहरलाल ने उनका विरोध कर देश के बंटवारे का पक्ष लिया? जवाहरलाल ने उनके पैरों को ऐसे सौहार्द्र से दबाना शुरू किया, मानो महात्मा का दु:ख दर्द दूर करने का अब यही एक उपाय रह गया हो।

❑❑❑

10

'हम हमेशा भाई-भाई रहेंगे'

नई दिल्ली; जुलाई, 1947

साढ़े पांच सौ से भी ज्यादा देशी राजा-महाराजाओं के प्रतिनिधि बन कर 75 महाराजा, वायसराय से मिलने आए थे; ताकि जान सकें कि उनका भविष्य क्या है। वे 'चेम्बर ऑफ प्रिन्सेज' के नन्हे-से, किन्तु अत्यन्त दिव्यता से सजे-धजे कक्ष में बैठे हुए थे; जहां वायसराय ने शीघ्र ही प्रवेश किया।

अधिकांश 'सेब' सरदार पटेल के झोले में गिरा देने की तैयारी वायसराय ने कर ली थी। देशी राजाओं के घोर हिमायती अंग्रेज सर कॉनरैड कॉरफील्ड को समय से पहले रिटायर करके लन्दन रवाना किया जा चुका था।

यह बैठक 'चेम्बर ऑफ प्रिन्सेज' की आखिरी बैठक साबित होने वाली थी। उसके कुलपति महाराजा-पटियाला एवं अन्य सजे-धजे सम्मानित श्रोताओं के सामने वायसराय ने दो-टूक लहजे में स्पष्ट कर दिया कि भारत या पाकिस्तान में से किसी एक के साथ मिल जाने में ही उनकी भलाई है।

भाषण समाप्त करके वायसराय ने कहा कि अब अगर किसी को कुछ पूछना है, तो पूछें। जो सवाल पूछे गए, उनमें से कुछ इतने ऊट पटांग थे कि वायसराय दंग रह गए। यहां तक कि उन्हें इसी बात पर सन्देह हो गया कि मेरा भाषण इनकी समझ में आया भी है या नहीं? क्या इन्हें बिल्कुल गुमान नहीं कि इनके साथ क्या होने जा रहा है?

उस बैठक में मौजूद राजाओं में से एक को केवल इतनी चिन्ता थी कि अगर उसने अपने राज्य का विलयन स्वीकार कर लिया, तो भारतीय संघ के अन्तर्गत, क्या उसे शेरों का शिकार करने की पूरी छूट दी जाएगी?

एक ओर राजा ने इतनी नाजुक बैठक में भी, स्वयं उपस्थित रहना आवश्यक नहीं समझा था; ताकि वह यूरोप की यात्रा पर जा सके, जहां जुआघर थे, कैबरे-डान्सों के अड्डे थे। राजा की अपेक्षा उसका दीवान आया हुआ था, जिसने कहा कि मेरे राजा जी चूंकि विदेश यात्रा पर हैं; मैं कैसे कोई फैसला करूं?

समस्या जितनी जादुई शैली की थी, माउण्टबेटन ने उसे सुलझाया भी उतने ही जादुई स्तर पर। सामने कांच का एक बड़ा-सा पेपरवेट रखा था। तान्त्रिकों जैसी रहस्य-मुद्रा बना कर माउण्टबेटन ने उसे उठा लिया और कहा, 'यह मेरा क्रिस्टल बाल है। इसमें देखकर मैं अभी बता देता हूं कि आपके राजा साहब की राय क्या है।'

वायसराय ने भौहें सिकोड़ी, आंखों में जो भी विचित्र चमक वह पैदा कर सकते थे, उन्होंने पैदा की। उन रहस्य भरी आंखों से वह अपने 'क्रिस्टल-बाल' में घूरने लगे। सन्नाटा छा गया। केवल उन राजा-महाराजाओं की उत्सुक सांसें सुनाई दे रही थीं। तान्त्रिक विद्या को भारतीयों द्वारा कभी अ-गम्भीरता से नहीं लिया गया- महाराजाओं द्वारा भी नहीं।

''आह!'' वायसराय ने, काफी ड्रामा करने के बाद, आखिर कहा, ''मैं आप के राजा जी को देख सकता हूं। वह एक कप्तान की टेबल पर बैठे हुए हैं। मेरे मन में छिपा सवाल उन तक पहुंच रहा है। वह कह रहे हैं, 'हां..... जी हां..... विलयन की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दीजिए'।''

कश्मीर; जुलाई, 1947

जिस राज्य की सरहद पर भारत, चीन, तिब्बत और भावी पाकिस्तान की सरहदें मिलने को अभिशप्त थीं, उसके हिन्दू महाराजा हरीसिंह की स्टेशन वैगन सर्पीले, पहाड़ी रास्तों पर, पूरे जंगलीपने के साथ उछलती हुई आगे बढ़ रही थी।

उस सुबह, हरीसिंह का महत्वपूर्ण सहयात्री अन्य कोई नहीं, बल्कि स्वयं माउण्टबेटन थे। अनेक वर्ष पहले, जब माउण्टबेटन, प्रिन्स ऑफ वेल्स के साथ, भारत की सैर पर आए थे, तभी से वह हरीसिंह को जानते थे। जम्मू के पोलो-मैदान में उनके और हरीसिंह के घोड़े साथ-साथ दौड़ चुके थे। आज, माउण्टबेटन उसी हरीसिंह के साथ, स्टेशन-वैगन में बैठे हुए थे। आज उनकी हैसियत शाही परिवार के केवल एक सम्मानित सदस्य की नहीं, बल्कि भारत के अन्तिम वायसराय की थी।

हरीसिंह से वह पूरी अन्तरंगता से बात करना चाहते थे। खास इसी उद्देश्य से उन्होंने महाराजा के साथ स्टेशन-वैगन में यात्रा का कार्यक्रम बनाया था। स्टेशन-वैगन कश्मीर की राजधानी श्रीनगर की ओर बढ़ी जा रही थी और उनकी बातें भी आगे बढ़ रही थीं।

''मैं किसी भी सूरत में पाकिस्तान के साथ विलयन नहीं चाहता'' हरीसिंह ने कहा।

माउण्टबेटन ने उत्तर दिया, "अन्तिम फैसला तो आपको ही करना है, लेकिन ...... आपकी 90 प्रतिशत प्रजा चूंकि मुसलमान है, कोई भी निर्णय आपको काफी सोच-विचार के बाद ही करना चाहिए। आबादी के अलावा, आपकी भौगोलिक स्थिति भी ऐसी है कि..... यदि आप पाकिस्तान के साथ विलय करेंगे, तो भारत कोई विरोधी स्वर नहीं उठाएगा, ऐसा आश्वासन, खास आपके लिए, मैंने सरदार पटेल से लिया है। फिर भी यदि आप पाकिस्तान में नहीं जाना चाहते, तो आप को भारत में शामिल हो जाना चाहिए।

"नहीं।" महाराजा ने उत्तर दिया, "मैं भारत में भी विलय नहीं चाहता। मैं आजाद रहना चाहता हूं।"

"लेकिन आप आजाद कैसे हो सकते हैं?" वायसराय का स्वर आक्रोश से कांप गया, "आप के पास कोई समुद्री किनारा नहीं। चारों तरफ से आप धरती से घिरे हुए हैं। आप के राज्य का क्षेत्रफल जरूरत से ज्यादा और आबादी जरूरत से कम है। यदि आपका रुख ऐसा ही बना रहा, तो .... भारत और पाकिस्तान में आप के ही कारण सशस्त्र संघर्ष छिड़ जाएगा। आप का सुन्दर राज्य युद्ध-भूमि बनकर तबाह होने लगेगा। यदि आप सावधानी से न चले, तो राज्य तो हाथ से जाएगा ही; कहीं आपको अपनी जान के ही लाले न पड़ जाएं। इतनी दूर तक कभी सोचा है आपने?"

महाराजा ने गहरी सांस ली और सिर हिलाया। वायसराय के तर्क अभी भी उन की समझ में नहीं आ रहे थे। श्रीनगर पहुंचने के बाद, आगामी दो दिन तक, वायसराय अपने तर्कों को धाराप्रवाह दोहराते रहे।

तीसरे दिन महाराजा ने कहा, "अच्छी बात है! जब आप इतनी ही जिद कर रहे हैं तो!"

लेकिन मामला यहां तक पहुंचकर हमेशा के लिए टूट गया। अगली सुबह, महाराजा के ए.डी.सी. ने आकर, माउण्टबेटन को बताया कि हिज हाइनेस हरीसिंह जी को पेट में सख्त दर्द हो रहा है—इतना सख्त कि डॉक्टर की राय के अनुसार, हिज हाइनेस आपसे मिलने के लिए आ नहीं सकेंगे। पेट दर्द की बात सफेद झूठ है—लॉर्ड माउण्टबेटन उसी क्षण समझ गए। जब वह दिल्ली की ओर वापस चले, तब भी महाराजा उन्हें विदा करने तक के लिए सामने न आए। डाक्टर के आदेश की दुहाई देकर क्षमा याचना कर ली! इस प्रकार, जिस कश्मीर समस्या के कारण भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध दिनों-दिन बिगड़ते जाने वाले थे, उस का मूल एक व्यक्ति के राजनयिक पेट-दर्द में छिपा हुआ था!

कुछ रजवाड़ों ने अपना विलय स्वीकार तो किया, लेकिन बेहद रंजिश के साथ। मध्य भारत का एक राजा विलय के कागजात पर हस्ताक्षर करने के साथ लड़खड़ा कर गिरा और दिल के दौरे में गुजर गया। धोलपुर के राणा ने आंखों में मोटे-मोटे आंसू भर कर माउण्टबेटन से कहा, "आप के महामना सम्राट के पुरखों के साथ मेरे पूज्य पुरखों के जो सम्बन्ध 1765 से चले आ रहे थे, वे आज हमेशा के लिए टूट रहे हैं........."

बड़ौदा के गायकवाड़, हस्ताक्षर करते ही, शिशु की तरह फूट-फूट कर रो पड़े और वी.वी. मेनन की बांहों में निढ़ाल हो गए। एक निहायत पिद्दी रजवाड़े का शासक, हस्ताक्षर-समारोह को दिनों-दिनों तक टालता रहा, क्योंकि उसे अब भी यही विश्वास था कि राजाओं का अवतरण ईश्वरीय आदेश के अनुसार होता है।

पंजाब के आठ महाराजाओं ने, पटियाला में आयोजित एक सामूहिक समारोह में, अपना विलय स्वीकार तो कर लिया, किन्तु वातावरण इतनी उदासी का था, जैसे वे सब किसी के अग्नि संस्कार के लिए एकत्र हुए हों।

अधिकांश राजा-महाराजा विलय के पक्ष में नहीं थे। सरदार पटेल और माउण्टबेटन के प्रभाव से बचने के लिए वे संघों की रचना करते जा रहे थे। पन्द्रह अगस्त का दिन ज्यों-ज्यों नजदीक आ रहा था, त्यों-त्यों उन राजा-महाराजाओं को सरदार पटेल के झोले में डालने के लिए वायसराय के प्रयासों में भी तीव्रता और व्यग्रता आती जा रही थी।

कई राज्यों की प्रजा ने बलवे, घेराव और जुलूसों द्वारा अपने शासकों को विलय के लिए मजबूर किया। त्रावणकोर के प्रधानमंत्री पर तो कांग्रेस के एक प्रदर्शनकारी ने सशस्त्र हमला ही कर दिया।

जोधपुर और जैसलमेर के महाराजाओं ने दिल्ली जा कर जिन्ना से गुप्त वार्ता कर पूछा कि हमारे राज्यों की बहुसंख्यक प्रजा हिन्दू होने के बावजूद यदि हम आपके पाकिस्तान में विलय करें, तो हमें क्या-क्या सुविधाएं दी जाएंगी ?

जिन्ना ने दोनों के सामने कोरा कागज रख कर कहा कि जो-जो सुविधाएं चाहिए, लिख दीजिए। मैं दस्तखत किए देता हूं। सुविधाओं की तालिका तैयार करने के लिए दोनों महाराजाओं ने थोड़ा समय मांगा। सोचने-समझने के नेक इरादे से वे अपने होटल में गए।

वहां, अपने कमरे में, उन्होंने वी.पी.मेनन को इन्तजार में बैठे देखा।

अपने रहस्यमय, निजी सूत्रों से वी.पी.मेनन को पता चल गया था कि दोनों महाराजाओं के मन में क्या है। उनकी देखा-देखी यदि अन्य रजवाड़ों ने भी 'विशेष सुविधाएं' पाने के फेर में पाकिस्तान में मिलना चाहा और यदि उन राज्यों की बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा ने बलवा कर दिया, तो जिस गृह-युद्ध से बचने के लिए विभाजन स्वीकारा जा रहा है, उसी गृह-युद्ध की लपटें देश को निगलना शुरू कर देंगी।

वी.पी.मेनन ने दोनों महाराजाओं से कहा कि वायसराय आप से अपने निवास पर तुरन्त मिलना चाहते हैं। मुखिया चूंकि जोधपुर-महाराजा थे, वायसराय के भवन में वह अकेले पहुंचे।

वी.पी.मेनन ने उन्हें एक प्रतीक्षालय में बिठाया। फिर उसने वायसराय की खोज में भागम्भाग मचा दी। उतने बड़े भवन में वायसराय को ढूंढ़ना आसान नहीं था। लॉर्ड माउण्टबेटन

आखिर अपने स्नानागार में मिले, जहां मेनन ने उनसे बड़ी मिन्नत से कहा कि कृपया तुरन्त आकर इस जिद्दी शासक को सुबुद्धि दीजिए।

माउण्टबेटन ने जोधपुर-महाराजा को समझाया कि केवल अपने निजी स्वार्थों की रक्षा के लिए बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को पाकिस्तान में घसीट ले जाना, मूर्खता के अलावा और कुछ नहीं है। "मैं और मेनन मिलकर पटेल से आग्रह करेंगे कि आपकी सुविधाओं का वह विशेष ध्यान रखें, लेकिन कृपया पाकिस्तान में जाने की न सोचें।" वायसराय ने कहा।

वायसराय तो कह कर चले गए, इधर जोधपुर-महाराजा ने जेब से एक ऐसा फाउण्टेन-पेन निकाला, जिसे उन्होंने खास अपने लिए तैयार करवाया था। विलय के कागजात पर दस्तखत करने के बाद उन्होंने फाउण्टेन-पेन का ढक्कन खोला; जिससे एक नन्ही-सी; 22 पिस्तौल नंगी हो कर मेनन की खोपड़ी पर तन गई।

"सब तुम्हारे कारण हुआ! अपने को समझते क्या हो?" महाराजा ने चिल्ला कर कहा।

सौभाग्यवश; खटके का आभास पा कर माउण्टबेटन ऐन वक्त पर वहां आ पहुंचे। उन्होंने महाराजा से पिस्तौल छीन ली।

बरसों बाद; माउण्टबेटन जब जादू और हाथ की सफाई की कलाओं के प्रति आकृष्ट हुए, तो उन्होंने 'द मेजिक सर्कल' की सदस्यता पाने के लिए उसी पिस्तौल का चमत्कारिक प्रदर्शन किया। जोधपुर के उस पेन-पिस्तौल को उन्होंने 'द मेजिक सर्कल' के नाम दान दे दिया, जो आज भी सर्कल के संग्रहालय में रखी है।

पांच रजवाड़ों ने, जिनकी बहु-संख्यक प्रजा मुसलमान थी, जिन्ना का साथ दिया। शेष सब-केवल तीन अपवादों को छोड़ कर-सरदार पटेल की झोली में गिरने को तैयार हो गए।

किन्तु वे तीन अपवाद काफी बड़े थे।

हैदराबाद के निजाम के मन से यह आशंका किसी प्रकार दूर नहीं की जा सकी कि भारत के हिन्दू वातावरण में उनके हितों की पूरी रक्षा नहीं हो सकेगी। निजाम ने अपना स्वतन्त्र राज्य जमाने का फैसला कर लिया था।

कश्मीर-महाराजा भी इधर या उधर न जुड़ कर स्वतन्त्र ही बने रहने की सोच चुके थे।

तीसरा राज्य, स्वयं को, जिस आधार पर, भारत से जुदा रखना चाहता था, वह उपर्युक्त दोनों राज्यों से पर्याप्त भिन्न था। मुस्लिम लीग के एक एजेण्ट ने जूनागढ़ के नवाब को विश्वास दिलाया कि स्वतन्त्र भारत में उनके प्रिय कुत्तों को ताबड़तोड़ जहर देकर मार डाला जाएगा। न केवल जूनागढ़ की बहुसंख्यक प्रजा हिन्दू थी, उस रजवाड़े की सरहद कहीं भी

पाकिस्तान को छू नहीं पाती थी। इसके बावजूद, जूनागढ़-नवाब ने इतना तो तय कर ही लिया था कि स्वतंत्र भारत में विलय स्वीकार नहीं करना है—चाहे स्वतन्त्र रहना पड़े, अथवा पाकिस्तान के साथ ही क्यों न जुड़ना पड़े।

"मेहरबान! आपसे मिलिए। आप हैं पंजाब सी.आई.डी. के मिस्टर सेवेज।" लुई माउण्टबेटन ने, 5 अगस्त के दिन, अपने अध्ययन-कक्ष में, उन दोनों भारतीय राजनीतिज्ञों को इन शब्दों के साथ चौंका दिया, "यह एक ऐसी कहानी ले कर आए हैं, जिसे आप के समक्ष अवश्य रखा जाना चाहिए।"

कहानी चाहे जो भी थी, जिन्ना और लियाकत अली खान उसे पूरे गौर से सुनने वाले थे; क्योंकि मिस्टर सेवेज का सम्बन्ध जिस संस्था से था, उसे भारत का सर्वश्रेष्ठ गुप्तचर विभाग होने का गौरव मिल चुका था।

सेवेज ने खखार कर गला साफ किया, ताकि कहानी शुरू की जा सके जो सूचना अब सेवेज के मुंह से प्रगट होने वाली थी, उसे सी.आई.डी. ने कुछेक कैदियों से पूछताछ करके प्राप्त किया था। यह पूछताछ सी.आई.डी. के जिस केन्द्र में की गई, वह लाहौर के पागलखाने के एक ऐसे कोने में स्थित था, जिसका अन्यथा कोई उपयोग नहीं होता था। सूचना इतनी गुप्त थी कि लाहौर से दिल्ली के लिए चलते समय सेवेज ने उसे कागज के किसी भी टुकड़े पर दर्ज नहीं किया था। उच्च अधिकारियों के आदेशानुसार, उस सूचना को वह कण्ठस्थ याद करके ही दिल्ली लाया था।

'राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ' की संज्ञा के अन्तर्गत, संकीर्ण हिन्दू विचारधारा के अनेक उन्मादी व्यक्ति, दल के रूप में एकत्र हो गए थे! वह दल 'आर.एस.एस.' के संक्षिप्त नाम से प्रसिद्ध हो चला था। संकीर्ण मनोवृत्ति के सिखों के एक दल ने आर.एस.एस. के साथ गठबन्धन कर लिया था। उन सिखों का नेता वही मास्टर तारासिंह था, जिसने लाहौर में हुई उस गुप्त बैठक में अपने सिख अनुयायियों से ललकार कर कहा था कि भारत की धरती को खून से भिगो देने का वक्त आ गया है। इन दोनों दलों ने अब फैसला किया था कि अपनी आतंकवादी गतिविधियों को मिलजुल कर चलाएंगे।

विस्फोटक पदार्थों का बेहतर ज्ञान और प्रशिक्षण रखने वाले सिख, जो संस्थागत व्यवस्था में भी बढ़े-चढ़े थे, दिल्ली से करांची की ओर जाने वाली उन विशेष रेलगाड़ियों को नष्ट करेंगे, जिन्हें 'पाकिस्तान स्पेशल' कहा गया था और जिन्हें भारी पहरे के नीचे चलाया जाने वाला था। पाकिस्तान को जो महत्वपूर्ण मालमत्ता और कर्मचारी प्राप्त हुए थे, उनकी खेपें इन्हीं रेलगाड़ियों द्वारा जाने वाली थी। तारासिंह ने एक वायरलेस सेट और एक ऑपरेटर को किसी महत्व की जगह में स्थापित कर देने में सफलता पा ली थी, ताकि उन खास रेलगाड़ियों की दिल्ली से रवानगी आदि की सूचनाएं उन हथियार बंद सिख टुकड़ियों को मिल जाएं, जिन पर उन रेलगाड़ियों को तहस-नहस कर देने की जिम्मेदारी थी।

आर.एस.एस. के सदस्यों को एक ऐसा काम सौंपा गया था, जिसे सिखों द्वारा सम्पन्न किया ही नहीं जा सकता था। अलग ही झलक आते रूपरंग के कारण सिख अपने-आप को मुसलमानों के रूप में खपा नहीं सकते थे, जबकि आर.एस.एस. के हिन्दू सदस्य ऐसा करने में समर्थ थे। आर.एस.एस. ने, न जाने कितनी बड़ी संख्या में, अपने सर्वश्रेष्ठ अनुयायियों को मुसलमानों के साथ मिलाकर करांची भेज दिया था। प्रत्येक अनुयायी को ब्रिटिश आर्मी मिल्स का बना एक-एक हथगोला दिया गया था। कोई अनुयायी किसी भी अन्य अनुयायी को पहचानता तक नहीं था, ताकि किसी एक की गिरफ्तारी की सूरत में दूसरों की भी गिरफ्तारियां हो जाने का कोई खतरा न रहे।

14 अगस्त के दिन इन अनुयायियों को करांची के उन भीड़भरे रास्तों पर खड़े हो जाना था, जहां-जहां से मोहम्मद अली जिन्ना का विजय-जुलूस निकलने वाला था— पाकिस्तान के संसद सदन से लेकर नए गर्वनर जनरल के अधिकृत निवास-स्थान तक जुलूस.......

पाकिस्तान का जन्मदाता, अपने जीवन के सर्वोच्च क्षणों में खुद की जनता के बीच से, जब खुली गाड़ी में गुजर रहा हो, तब उन अनेक उन्मादियों में से किसी को ऐसा अवसर अवश्य मिलने वाला था, जब वह अपना हथगोला फेंक कर उस राजनयिक की हत्या कर सके।

आर.एस.एस. को पूरा विश्वास था कि उस वीभत्स हत्याकाण्ड से पूरे उप-महाद्वीप में भयंकर गृह-युद्ध छिड़ जाएगा; जिस में हिन्दू किसी अन्य आधार पर नहीं, तो इस आधार पर अवश्य ही विजेता साबित होंगे कि उनकी जनसंख्या मुसलमानों की तुलना में बेहद बढ़ी-चढ़ी थी।

वे उन्मादी हिन्दू जिस व्यक्ति की जान लेना चाहते थे, उसका चेहरा सेवेज के शब्द सुन कर फीका पड़ गया। बगल में बैठे लियाकत अली खान ने माउण्टबेटन से आग्रह किया कि वह सिखों के सारे नेताओं को तुरन्त गिरफ्तार कर लें।

''ऐसा करने पर तो वही गृह-युद्ध शुरू हो जाएगा, जिसकी आर.एस.एस. वाले इतनी आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे हैं।'' वायसराय ने उलझन में पड़ते हुए कहा।

इसके अलावा, जैसा कि सेवेज ने सूचित किया, सिखों के नेता अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर में जा छिपे थे। पुलिस का कोई भी सिख या हिन्दू कर्मचारी उन्हें गिरफ्तार करने के लिए स्वर्ण-मन्दिर में घुसने से साफ इन्कार कर जाएगा। यदि मुसलमान-पुलिस को अन्दर भेजा गया, तब तो........ नहीं, नहीं; इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

माउण्टबेटन ने आखिर कहा कि ऐसी नाजुक स्थिति से उबरने के लिए क्या किया जाना चाहिए, इस बाबत वह पंजाब के गवर्नर से राय लेंगे। साथ ही, उन दो व्यक्तियों से भी मशविरा करेंगे, जिन्हें 15 अगस्त के बाद भारतीय और पाकिस्तानी पंजाब के टुकड़ों का शासन संभालना होगा।

यह सुनकर लियाकत अली खान अपनी कुर्सी से आधे उठ पड़े, "याने आप कायदा-ए-आजम की हत्या करवाना चाहते हैं।"

"यदि सचमुच आपको ऐसा लग रहा है, तो खुली गाड़ी में मैं भी मिस्टर जिन्ना के साथ यात्रा करुंगा, ताकि बम फटने पर उनके साथ मैं भी मारा जाऊं।" माउण्टबेटन ने उत्तर दिया, "इतना निश्चित जानिए कि जब तक गवर्नरों की सहमति नहीं मिल जाती, मैं पचास लाख सिखों के नेताओं को जेल में बन्द करने नहीं जा रहा।"

सेवेज उसी रात लाहौर के लिए वापस चल पड़ा। पंजाब के गवर्नर सर ईवान जेनकिन्स के नाम वह लॉर्ड माउण्टबेटन का निजी पत्र ले जा रहा था—अपनी अण्डर वियर में छिपा कर।

पत्र पढ़ कर सर ईवान जेनकिन्स ने निराशा से कन्धे उछाले और कहा, "हम क्या कर सकते हैं ? हमारे हाथों में रह ही क्या जाता है ? उन्हें हम कैसे रोक सकते हैं ?"

पांच दिन बाद, आधीरात को, जब अगस्त की 11वीं तारीख 12वीं में बदल रही थी, तारासिंह के सिखों ने अपने उस कार्यक्रम का प्रथम चरण पूरा कर लिया, जो उन्होंने आर.एस.एस. के साथ मिलकर तैयार किया था। फिरोजपुर जिले के गिद्दर बाहा रेलवे-स्टेशन से पांच मील पूरब में, रेलवे लाइन पर जो दो विस्फोट हुए, उनमें प्रथम 'पाकिस्तान स्पेशल' रेलगाड़ी उड़ गई।

दिल्ली के वायसरीगल एस्टेट का एक बंगला। सर सिरिल रैडक्लिफ ने आबादी की तालिकाओं, सच्ची-झूठी सिफारिशों और विभिन्न नक्शों की मदद से पंजाब और बंगाल को विभाजित करने वाली रेखाएं खींचने का कार्य शुरू कर दिया। जैसा कि रैडक्लिफ को पहले से अनुमान था, पंजाब या बंगाल को अच्छी तरह घूम-फिर कर देख लेने का अवसर उसे नहीं मिला था। उन खेतों और लोगों के साथ उस का कोई सीधा संवाद स्थापित नहीं हो सका था; जिन्हें न केवल विभाजित, बल्कि तबाह कर देने की क्षमता उसके द्वारा खींची जाने वाली विभाजन रेखाओं में थी।

रैडक्लिफ को रोज औसतन तीस मील लम्बी विभाजन रेखा अवश्य खींचनी थी, अन्यथा काम उतनी स्पीड के साथ हो ही नहीं सकता था जो कि भारत और पाकिस्तान दोनों देशों के नेताओं द्वारा रैडक्लिफ पर थोप दी गई थी।

एक विचित्र विचार चमगादड़ की तरह उसके सिर पर चक्कर काटने लगा था, 'यह घटिया काम मैं बेहतर-से-बेहतर ढंग से करने की कोशिश में हूं; लेकिन उससे अन्तर क्या पड़ेगा ? विभाजन-रेखा मैं इधर से खींचू चाहे उधर से, अन्त में होना वही है जो कि सबको मालूम है...... और जिसकी शुरुआत हो भी चुकी है.......ज्यों ही मेरा काम खत्म होगा, वे हथियार खींच कर एक-दूसरों पर भूखे भेड़ियों की तरह टूट पड़ेंगे.......मेरे इस काम का अर्थ क्या है ? अर्थ क्या है ?

पंजाब में तो दंगों की शुरुआत हो ही चुकी थी। जिस राज्य का प्रशासन भारत में सर्वश्रेष्ठ माना जात था, उसी की सड़कें और रेलें अब किसी तरह सुरक्षित नहीं थी। सिख टुकड़ियां हर तरफ घूम रही थीं, जो मुसलमानों पर उसी तरह टूट पड़ती, जैसे लाशों पर गिद्ध। मुसलमानों के मुहल्ले-के-मुहल्ले, गांव-पर-गांव तबाह हो रहे थे। ये सिख अपने पीछे एक खास तरह का संकेत छोड़ जाते। जब भी वे किसी मुसलमान व्यक्ति की हत्या करते, उस का लिंग काटकर उसी के मुंह में भर देते। मुसलमान स्त्रियों की लाशें भी, मुंह में ठुंसे खतना-किए लिंगों के साथ दिखाई पड़ती।

उस शाम......... लाहौर के एक भीड़-भरे कॉफी- हाऊस में शहर के नामी मुसलमान दादा बैठक लगाए हुए थे। अचानक सामने से एक साइकिल वाला गुजरा, जिसने उनकी तरफ पीतल का एक हण्डा फेंका। वैसे हण्डे-दूध लाने-ले-जाने के लिए उपयोग किये जाते थे। जिधर-जिधर से वह लुढ़का, लोग कूद-कूद कर ओट लेने और दुबकने लगे। सब को यही आशंका थी कि हण्डे में विस्फोट होगा। जब ऐसा न हुआ, तो बैरा ने उसे खोलकर देखा। पता चला कि उस में जो भी है वह अमृतसर के सिखों ने लाहौर के मुसलमानों को सौगात में भेजा है। हण्डे में जो था, उस की शिनाख्त क्षण-मात्र में हो गई और मुसलमान मारे क्रोध के उसी तरह सुलग उठे, जैसे वहां सचमुच विस्फोट हो गया हो। वह गोल बर्तन, खतना किए हुए सैकड़ों लिंगों से भरा हुआ था।

लाहौर में हत्या, आगजनी बलात्कार और लूट-खसोट की घटनाएं इतनी बेतुकी, और अमानवीय हो चली थी कि एक अंग्रेज अधिकारी ने लिखा, लगता है, 'सारा शहर आत्महत्या करने निकला है।'

जैसा कि पंजाब में प्राय: सभी जगह था, लाहौर पुलिस के अधिकांश बन्दे मुसलमान थे। हिन्दुओं की रक्षा करने में उनकी विशेष रुचि नहीं थी। पंजाब पुलिस दिनों दिन निष्क्रिय और फालतू साबित होती चली। हिंसा को काबू में करने की जिम्मेदारी उन अंग्रेज अधिकारियों के ही कन्धों पर अधिकाधिक आती चली गई, जो कि संख्या में मुट्ठी भर थे। जैसाकि स्वाभाविक था उन की बौखलाहट अति की सीमा भी पार कर गई। सिखों और मुसलमानों दोनों को वे कोस रहे थे, लेकिन सबसे ज्यादा नाराजगी उन्हें उस गर्वीले एडमिरल से थी जो नई दिल्ली में वायसराय के सिंहासन पर बैठा हुआ था और जो भारत पर से अंग्रेजी राज्य हटा लेने के काम में इतनी हड़बड़ी मचा रहा था कि सारी तबाही का मूल कारण वही जल्दबाजी थी।

अमृतसर की दशा लाहौर से भी बुरी कही जानी चाहिए। बाजारों और गलियों में जितनी आसानी से लोग सरेआम शौच कर लेते, उतनी ही आसानी से एक-दूसरे की हत्याएं भी कर लेते। शहर के हिन्दुओं ने मुसलमानों पर अत्याचार करने का एक नया तरीका सोचा। किसी मुसलमान को देखते ही वे उसके पीछे चुपके से आते और अचानक नाइट्रिक या सल्फ्यूरिक एसिड से उसका चेहरा सान देते।

आखिर सेना बुलाई गई और 48 घण्टों का कर्फ्यू लगा दिया गया। ये सारे कदम भी केवल अस्थायी शान्ति ला सके। एक दिन जब शहर में भयानक आगजनी की घटनाएं घटी, हताशा से दबे एस.पी. मिस्टर डीन ने 'अन्तिम उपाय आजमाने की लिए' एक ऐसा काम किया, जिसकी मिसाल पुलिस के इतिहास में ढूंढे नहीं मिलेगी। पुलिस का बैण्ड साथ लेकर एस.पी. आ पहुंचा शहर के सदर चौराहे पर। वहां उसका आदेश पाकर बैण्ड वालों ने गिल्बर्ट और सल्लिवान की धुनें बजानी शुरू की! जिस शहर में चारों तरफ आग की लपटें उठ रही थीं, उसी शहर के बीचों-बीच पुलिस वालों ने संगीत सरिता बहा दी! एस.पी. को आशा थी कि इस से शहर वालों की सोई हुई मानवीयता जागेगी......

15 अगस्त के बाद भी पंजाब में अमन-चैन कायम रहे, इसके लिए माउण्टबेटन ने पचपन हजार सैनिकों की एक विशिष्ट सेना तैयार करवाई। उस में केवल उन सैनिकों को जगह दी गई, जो हिन्दू मुसलमानों के बीच फूट पड़ी नफरत से प्रभावित न तो हुए थे, और न हो सकते थे। मसलन; गोरखा। इस सेना का नामकरण किया गया, 'पंजाब बाउण्ड्री फोर्स'

शान्ति स्थापना के लिए पंजाब के गवर्नर ने जो सिफारिश की थी, उससे वह सेना ठीक दो गुनी बड़ी थी। इसके बावजूद जब दंगों का विस्फोट हुआ, तो सेना उसी तरह हवा में चली गई, जैसे तूफान में मूंगफली का छिलका।

कड़वी सच्चाई यह थी कि एक भी व्यक्ति ने दंगों की भयानकता का सही अन्दाजा नहीं लगाया था। पंजाब के दूरदर्शी गवर्नर, जिन्ना, नेहरू यहां तक कि स्वयं वायसराय ने सोचा भी नहीं था कि हिंसा का कितना बड़ा तूफान अचानक आने वाला है। इन नेताओं की यह सामूहिक विफलता, भविष्य में, इतिहासकारों को चकित करने वाली थी। भारत के अन्तिम वायसराय की कटुतम आलोचना इसी विफलता के कारण होने वाली थी।

अंग्रेजों की गुप्तचर व्यवस्था ने भी उतने विशाल पैमाने पर दंगों की कोई भविष्यवाणी नहीं की थी। यह बात अपने-आप में बड़ी अजब है कि जिस गुप्तचर व्यवस्था ने पिछले एक सौ वर्षों में अंग्रेजों की अत्यधिक सहायता की थी, वही उस मौके पर ढीली साबित हुई। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि भारत बिल्कुल सोते में पकड़ा गया; किन्तु तस्वीर उस सीमा तक भयंकर होगी, इसका गुमान देश को नहीं था। विपत्ति का आभास तो उसे मिल गया था, किन्तु सही चेतावनी नहीं मिली थी। फलस्वरूप, स्थिति एकाएक काबू से बाहर चली गई।

विडम्बना यह कि विभाजन के कारण फूट पड़ने वाली हिंसा और प्रतिहिंसा का निश्चित पूर्वाभास जिस व्यक्ति को था, उसकी उन दिनों विशेष सुनी नहीं जाती थी, क्योंकि वही एकमात्र ऐसा व्यक्ति था, जिसने विभाजन रुकवाने के लिए हार्दिक प्रयास किया था। भारत की आम जनता के साथ गांधी जी इस सीमा तक घुले-मिले थे कि जनता का दुःख दर्द गांधी जी का दुख-दर्द और जनता का अस्तित्व ही गांधी जी का अस्तित्व बन चुका था। इसीलिए, जनता के मानस की जो पहचान उन्हें थी, वह अन्य किसी नेता को नहीं।

लेकिन उन दिनों वह अकेले थे और उनकी हर चेतावनी अरण्यरोदन की तरह व्यर्थ जा रही थी।

माउण्टबेटन की सबसे डरावनी समस्या पंजाब में नहीं, बल्कि कलकत्ता में फंसी हुई थी। उन्हें मालूम था कि कलकत्ता में सेना भेजने का भी अब कोई अर्थ नहीं। वह शहर इतना गिचपिच और घना बसा हुआ है कि अगर वहां दंगे फूट पड़े तो चाहे कितनी ही बड़ी संख्या में सैनिक भेजे जाते, कलकत्ता क्षण-मात्र में सब को निगल लेने वाला था। इसके अलावा, पंजाब में शान्ति स्थापना के लिए जो विशिष्ट सेना तैयार की गई, उसी में 'भारतीय सेना' के अधिकांश ऐसे सैनिक समा गए, जिन्हें कि हिन्दू-मुसलमान दंगों के प्रति निर्लिप्त और तटस्थ माना जा सकता। कलकत्ता के लिए अलग से शान्ति-सेना बनाई जा सकने की संभावना थी भी नहीं।

सेना के जोर पर नहीं, बल्कि किसी और ही उपाय से कलकत्ता को शान्त रखना होगा। जो एकमात्र उपाय उन्हें सूझा, वह बहुत बड़े जुए जैसा लग रहा था, किन्तु कार्य इतनी शीघ्रता के साथ किया ज़ाना था और साधन इस हद तक सीमित थे कि उस 'जबर्दस्त जुए' को खेले बिना गुजारा भी तो नहीं था। विश्व के सबसे गिच-पिच और दयनीय शहरों में से एक कलकत्ता में कौमी दंगों का दावा नल न फूट पड़े; इस उद्देश्य से उन्होंने मात्र एक आदमी को वहां भेजने की योजना बनाई। महात्मा गांधी को।

अपना यह विचार उन्होंने गांधी जी के सामने जुलाई के अन्तिम दिनों में रखा। 'बाउण्ड्री फोर्स' के ज़ोर पर पंजाब को तो एकबारगी काबू में रखा जा सकता था, लेकिन यदि कलकत्ता में दंगे शुरू हो गए?

"तो मैं कुछ नहीं कर सकूंगा। हमारी एक ब्रिगेड वहां जरूर है, लेकिन मैं उसे मैदान में उतारने तक की नहीं सोच सकता। उतारने का कोई अर्थ भी तो हो! ब्रिगेड को व्यर्थ ही भस्म करवाने से क्या हो जाएगा? यदि कलकत्ता में आग लगी, तो हम केवल देखते रहने को मजबूर होंगे। करने के लिए हमारे बूते में कुछ न होगा।"

"हां, मेरे दोस्त!" गांधी जी ने दो टूक उत्तर दिया, 'ये सब आपकी विभाजन योजना के फल हैं।'

"असम्भव नहीं," माउण्टबेटन ने स्वीकार किया, "लेकिन मेरे सामने कोई और चारा भी तो होता। स्वयं आप भी ऐसा कोई उपाय नहीं सुझा सके, जिस पर कांग्रेस की सहमति मिल जाती। अब..... बीती बिसार कर यदि आगे की सुध न ली, तो पिछला खेल चाहे जैसा भी रहा, आगे का खेल जरूर बिगड़ जाएगा। यदि आप कलकत्ता में जा बैठें, तो सेना के सैकड़ों-हजारों सैनिक भी जो नहीं कर सकेंगे, वह शायद आप के व्यक्तित्व के जोर पर, आप की अहिंसा के सहारे, सम्पन्न हो जाएगा। आपकी उपस्थिति से कलकत्ता में शान्ति की गारण्टी शायद पाई जा सकती है। पंजाब में मैंने हजारों सैनिक भेजे हैं—आधे लाख से ज्यादा सैनिक.... कलकत्ता में मैं केवल एक सैनिक भेजना चाहता हूं-आपको।"

माउण्टबेटन के उतने आग्रह के बावजूद, कलकत्ता जाने का फिलहाल कोई इरादा गांधी जी के मन में नहीं था। उन्होंने पहले से सोच रखा था कि भारत के स्वतन्त्रता दिवस पर वह उपवास रखेंगे, प्रार्थनाएं करेंगे और चरखा कातेंगे—नोआखाली के उन हिन्दुओं के बीच, जो उस क्षेत्र में अल्पसंख्यक थे और जिनकी सुरक्षा का बीड़ा गांधी जी ने तब उठा रखा था, जब से वहां उन्होंने अपनी प्रायश्चित यात्रा निकाली थी।

मौत के ज्वालामुखी पर बैठा कलकत्ता शहर आशंका से थरथर कांप रहा था। अकेले माउण्टबेटन का ही स्वर ऐसा नहीं था, जिसने गांधी जी से कलकत्ता जाने का आग्रह किया, ऐसा ही एक स्वर और भी था।

सम्पूर्ण भारतीय भूखण्ड में यदि महात्मा गांधी से ठीक विपरीत व्यक्ति की खोज की जाती, तो निश्चित रूप से शहीद सुहरावर्दी का नाम सामने आता। यह बात कल्पनातीत लगती है कि दूसरा स्वर इसी व्यक्ति का था। महात्मा गांधी ने शुरू से स्पष्ट रखा था कि स्वतंत्र भारत के आदर्श नेता का रहन-सहन, आचार व्यवहार कैसा होना चाहिए। उसके ठीक विपरीत मूर्ति की यदि कल्पना की जाए, तो सुहरावर्दी के सिवा कोई दूसरा व्यक्ति सामने आ ही नहीं सकता था।

सुहरावर्दी की उम्र, उन दिनों, 47 वर्ष की थी। राजनीति में उन्होंने प्रवेश शायद इसी एक उद्देश्य से किया था कि घूस खोरी करें, भ्रष्टाचार करें, गुलछर्रे उड़ाएं। जनता के चन्दे के जोर पर उन्होंने निजी गुण्डों की एक पूरी टुकड़ी पाल रखी थी, जो उनके विरोधियों को शान्त करने का सबसे कारगर उपाय यही समझती थी कि हमेशा का छुटकारा पाने के लिए विरोधियों को 'हमेशा के ही लिए' शान्त क्यों न कर दिया जाए?

1942 के बांगल-दुर्भिक्ष के दिनों में सुहरावर्दी ने न जाने कितने टन अनाज, जो कलकत्ता की भूखों मर रही जनता के लिए भेजा गया था, बीच में ही रोककर गायब कर दिया था, ताकि उसे काले बाजार में बेचकर लाखों की दौलत एकत्र की जा सके। पैरों में मगर मच्छ के चमड़े के शानदार जूते। बदन पर रेशमी सूट की बहार। हर सुबह एक खास नाई आकर उनके काले बालों को 'सेट' किया करता। उन बालों की ब्रिलिएण्टाइन की चमक दूर से ही पहचानी जाती। एक ओर गांधी जी थे, जो पिछले चालीस वर्षों से अपने जीवन से यौन-भावना के सूक्ष्मतर संस्पर्श को भी मिटा देने के लिए संघर्ष कर रहे थे। दूसरी ओर थे सुहरावर्दी जो कलकत्ता की हर शानदार वेश्या और प्रत्येक कैबरे-डान्सर के साथ हम-बिस्तर होने के लिए हर क्षण जमीन आसमान एक करते रहते। गांधी जी के हाथ में यदि शुद्ध जल अथवा सोडा बायकार्बनेट का ग्लास था, तो सुहरावर्दी के हाथ में हमेशा शेम्पेन का गिलास दिखाई देता। गांधी जी यदि सोआ के साग और दही पर पल रहे थे, तो सुहरावदी मुर्ग मुसल्लम, मछली और केक-पेस्ट्रियों आदि के बिना अपना भोजन पूरा ही नहीं मानते थे। चरबी की पर्तों पर पर्तें सुहरावर्दी को घेरती जा रही थीं। उन का वक्ष इतना थुलथुल हो चला था, मानो झूलकर पेडू तक पहुंचना चाहता हो।

इन सब से बुरी बात यह थी कि उनके हाथ खून से सने हुए थे। अगस्त, 1946 में; जिन्ना के 'डायरेक्ट एक्शन' अभियान के लिए, सुहरावर्दी ने एक ऐसा दिन चुना था जब सार्वजनिक छुट्टी थी और पुलिस का ध्यान अन्यत्र लगा होने के कारण, हिन्दुओं पर यदि अचानक आक्रमण कर दिया जाता, तो ज्यादा-से-ज्यादा हिन्दू चुटकियों में कत्ल होकर लेट जाने वाले थे। हुआ भी यही। ऐन उसी दिन 'मुस्लिम लीग ने डायरेक्ट एक्शन' किया और कलकत्ता में हिन्दुओं की इतनी लाशें बिछ गई कि उठाई न उठें।

अब, सुहरावर्दी को भय लग रहा था। 'डायरेक्ट एक्शन' दिवस के कत्लेआम को हिन्दू भूले नहीं होंगे। अवश्य वे चुपके-चुपके उस का बदला लेने की तैयारियों में जुटे होंगे। यदि उन्होंने मुसलमानों पर व्यवस्थित आक्रमण किया, तो....... यही वह भय था, जिस के कारण सुहरावर्दी, गांधी जी को पुकारने के लिए, मजबूर हो गए थे।

जिस शाम गांधी जी नोआखाली की दिशा में रवाना होने वाले थे, ऐन उसी शाम सुहरावर्दी उन के सोदेपुर आश्रम में पहुंच कर, अत्यधिक दीनता से कहने लगे कि आप कलकत्ता चलिए। आप-और केवल आप—कलकत्ता के मुसलमानों का नरसंहार होने से बचा सकते हैं।

"मुसलमानों का भी आप पर आखिर उतना ही हक है, जितना हिन्दुओं का।" सुहरावर्दी ने तर्क दिया, "आपने हमेशा कहा है कि आप जितने हिन्दुओं के हैं, उतने ही मुसलमानों के भी।"

गांधी जी ने उत्तर दिया, "क्यों नहीं! बेशक मैं कलकत्ता चलने की सोच सकता हूं, लेकिन दो शर्तों पर। नोआखाली के मुसलमानों से ऐसा वचन लाकर दीजिए कि वे अपने हिन्दू पड़ोसियों के जान-माल की पूरी रक्षा करेंगे। यदि वहां एक भी हिन्दू मारा गया, तो मैं आमरण अनशन करूंगा। "

गांधी जी ने अपनी लाक्षणिक शैली में, स्वयं के जीवन की पूर्ण नैतिक जिम्मेदारी, सुहरावर्दी के कन्धों पर डाल दी थी। नोआखाली के मुसलमानों का वैसा वचन लाकर सुहरावर्दी ने जब गांधी जी को दे दिया, तो उन्होंने दूसरी शर्त सामने रखी। वह एक ऐसा सन्धि-प्रस्ताव था, जो दुनिया के किसी अन्य व्यक्ति के जेहन में नहीं आ सकता था। उन्होंने कहा कि मैं कलकत्ता चल सकता हूं, बशर्ते आप अर्थात् कि शहीद सुहरावर्दी— दिन-रात मेरे साथ रहें, आप के पास कोई हथियार न हों, न आप की सुरक्षा का कोई अलग से प्रबन्ध किया जाए। हम दोनों, संग-संग, कलकत्ता की किसी अधम झोपड़पट्टी में रहेंगे।

वहां, भारतीय उपमहाद्वीप की वह सब से विकट जोड़ी, सामूहिक रूप से, नगर की शान्ति के लिए, अपना जीवन दांव पर लगाएगी।

'मुझे यह उलझन सुलझानी होगी।' गांधी जी ने, सुहरावर्दी द्वारा उन की दूसरी शर्त भी स्वीकार कर लिए जाने पर, दिल्ली को सूचित किया, "निस्सन्देह यह एक गहरा दांव है...... क्या होगा, क्या नहीं, भविष्य बताएगा। नियमित सम्पर्क बनाए रखें......"

माउण्टबेटन ने जो विशिष्ट कैलेण्डर सरकारी विभागों में लगवाया था, वह खासा प्रसिद्ध हो चला था और अब उस के थोड़े से ही पन्ने फटने के लिए शेष थे।

कांग्रेस नेताओं की इच्छा थी कि स्वतन्त्रता दिवस पूरे दमखम और ठाठबाठ से मनाया जाए। उन का गम्भीर समाजवाद बाद में प्रकट हो सकता था। कांग्रेस ने आदेश दिया कि 15 अगस्त के दिन देश भर के बूचड़खाने बन्द रहेंगे। देश का हर सिनेमा-हाल फ्री शो दिखाएगा। दिल्ली की पाठशालाओं के हर विद्यार्थी को मिठाई और एक-एक 'आजादी-पदक' दिया जाएगा।

किसी सिक्के ने हवा में उछलकर जो फैसला किया था, उसके अनुसार पाकिस्तान को कुछ शाही बग्घियां मिल गई थी। जिस बग्घी में बैठकर मोहम्मद अली जिन्ना, करांची की सड़कों पर, अपनी प्रथम राजकीय यात्रा पर निकलने वाले थे, उस का एक घोड़ा ऐन मौके पर लंगड़ा हो गया। प्रशिक्षित घोड़ा था। कोई और घोड़ा उस की जगह नहीं ले सकता था। लिहाजा, उस ऐतिहासिक यात्रा के लिए वायसराय ने जिन्ना को एक खुली रॉल्स-रॉयस गाड़ी प्रस्तुत की। पाकिस्तान के जन्म-दिवस पर क्या-क्या समारोह कब-कब किए जाएं, इस की पूरी रूपरेखा जिन्ना ने स्वयं तैयार कर ली थी।

भारत और पाकिस्तान के नेताओं के साथ, अन्तिम वायसराय, अभी भी अनेक छोटी-बड़ी बातें तय करने में व्यस्त थे। दूसरी ओर, देशभर में हजारों विदाई पार्टियां दी जा रही थीं।

वे अधिकांश अंग्रेज नागरिक, जो भारत में शासन नहीं बल्कि व्यापार करने की इच्छा से आए थे, विभाजन के बाद भी यहीं रुके रहने की योजना में थे। अन्य लगभग साठ हजार अंग्रेजों के लिए अब भारत-भूमि को नमस्कार करके अपनी मातृभूमि की ओर चल पड़ने का समय आ गया था। इन अंग्रेजों में से कोई सिपाही था, तो कोई आई.सी.एस. अधिकारी, उन में पुलिस-इन्सपेक्टर थे, रेलवे इंजीनियर थे, वन-अधिकारी और संचार लिपिक थे। लन्दन से जो खास-खास सजावटी सामान और फर्नीचर आया था—दसियों साल पहले—उसे फिर से बांधा जाने लगा था, वापस लन्दन ले जाने के लिए। उनके साथ, भारत की यादगार बन सकें, ऐसी न जाने कितनी चीजें भी बंध रही थीं।

दिल्ली के चांदनी चौक में भारत छोड़ रहे गोरों की भीड़ उमड़ पड़ी। भारतीयों के साथ वे अपनी चीजों की अदल-बदल करने को उत्सुक थे। रेफ्रिजरेटर या कार इत्यादि को उन्होंने कालीन, हाथीदांत, सोने-चांदी की वस्तुओं आदि से सहर्ष बदल लिया। शेर की खाल और 'मसाला' भरे हुए जानवरों की खूब मांग रही। भारतीय भूखण्ड पर जिन जानवरों को वे कभी मार नहीं सके, उनकी 'मसाला भरी' खालें ले जाकर ही अंग्रेज कम प्रसन्न नहीं थे।

किन्तु, विभाजन और विदाई का वह अवसर केवल प्रसन्नता का नहीं था। खुशियों के साथ वह दु:खों का भी पिटारा लेकर आया था। पोलो अंग्रेजों का प्रिय खेल रहा था,

जिसके विशिष्ट घोड़ों को वे बेहद प्यार किया करते। अब, उन घोड़ों को वे अपने साथ लन्दन तो ले नहीं जा सकते थे। उनकी विदाई के बाद कौन उन घोड़ों को उतने जतन से रखेगा? कहीं उन नाजुक प्राणियों को तांगों या बग्घियों में न जुतना पड़े! अनेक अंग्रेजों ने अपने घोड़ों को स्वयं ही गोली मार कर मौत के घाट उतार दिया—और उन के लिए यह जीवन के कठोरतम कार्यों में से एक था।

नई दिल्ली; अगस्त, 1947

मोहम्मद अली जिन्ना ने आज वह पोशाक पहनी थी, जिसे कि वह शायद ही कभी पहना करते थे। अब अपने अत्यन्त स्वच्छ लिनेन-सूट में नहीं थे। उन्होंने चूड़ीदार पायजामा और शेरवानी पहनी थी। आज वह करांची के लिए उड़ान जो भरने वाले थे! वायसराय ने उन्हें उस ऐतिहासिक उड़ान के लिए चांदी के रंग का सुन्दर डी.सी.-3 हवाई जहाज दिया था।

डी.सी.-3 की सारी सीढ़ियां चढ़ने के बाद मोहम्मद अली जिन्ना ने पलटकर उस शहर के क्षितिज पर उड़ती नजर डाली, जहां पाकिस्तान का सपना साकार करने के लिए उन्होंने वर्षों संघर्ष किया था। "शायद मैं दिल्ली को दुबारा कभी न देख सकूं......." वह बुदबुदाए।

10-औरंगजेब रोड पर स्थित उन का मकान बिक चुका था। उसे खरीदा था सेठ डालमिया ने। व्यंग्य यह कि जिस मकान में पाकिस्तान का सपना रूपायित हुआ, वहीं सेठ डालमिया अब एक ऐसी संस्था का मुख्यालय खोलने वाले थे, जिस का नाम था 'एण्टी काउ-स्लाटर लीग'—गोहत्या-विरोधी लीग।

जिन्ना ने करांची तक की अपनी उड़ान निहायत खामोशी से पूरी की। उन का चेहरा इस सीमा तक पथरीला बना रहा कि चरम सफलता के उन क्षणों की कैसी प्रतिक्रिया उन के मन पर हो रही थी, यह उन के चेहरे पर लेश-मात्र भी झलक नहीं रहा था।

करांची नजदीक आने पर जिन्ना के ए.डी.सी. सैयद अहसान ने देखा कि हवाई-जहाज के नीचे नन्ही-नन्ही पहाड़ियों वाली जो जबर्दस्त मरुभूमि है, वह मनुष्यों से पट गई है। लोगों के सफेद कपड़े धूप में चमक रहे हैं। मरुभूमि मानो सफेद झील जैसा रूप पा गई है।

जिन्ना की बहन ने रोमांचित होकर उनका हाथ पकड़ लिया और हुलस कर कहा, जिन, "जिन, देखो तो!"

जिन्ना ने ठण्डी नजरों से खिड़की से बाहर देखा। जिस जनता के नाम पर उन्होंने पाकिस्तान की मांग की थी, फिर उसे पूरा भी करवाया था, उसी जनता का वह लहराता समुद्र वास्तव में एक असाधारण दृश्य था।

"हां..... " जिन्ना बुदबुदाए, "बहुत सारे लोग......"

डी.सी.-3 ने पाकिस्तान की धरती को स्पर्श किया। उड़ान-पट्टी पर दौड़कर वह थम गया। हवाई यात्रा ने उस प्रसिद्ध मुसलमान नेता को इस हद तक थका दिया था कि उन्हें अपनी सीट से उठने तक में तकलीफ हो रही थी। एक सहयोगी ने उन्हें बांह का सहारा देना चाहा। जिन्ना ने तुरन्त विरोध किया। नहीं! करांची तो अपना घर है। अपने ही घर लौटते समय कायदा-ए-आजम को किसी का सहारा लेना पड़े? असम्भव!

शारीरिक शक्ति भले ही जवाब दे रही थी, किन्तु इच्छा-शक्ति ने उनका साथ हमेशा दिया था। उसी के जोर पर, इस अवसर पर भी, वह तनकर खड़े हो गए। बिना किसी सहारे के उन्होंने हवाई-जहाज की सीढ़ियां उतरी। लोग..... लोग...... उन्मादित चीखते लोग...... आनन्द से झूमते, उछलते लोग...... उनकी भीड़ के बीच से गुजर कर जिन्ना जब प्रतीक्षा में खड़ी अपनी कार तक पहुंचे, तो किसी का सहारा लिए हुए नहीं थे।

हवाई-अड्डे से शहर तक की पूरी यात्रा लोगों के समुद्र को चीरते हुए सम्पन्न की गई। कन्धे से कन्धा छील रहे वे लोग एक लय में, लगातार, (जप) रहे थे, "पाकिस्तान जिन्दाबाद!"

वह मुसलमान नेता, अब धीरे-धीरे राज-भवन की सीढ़ियां चढ़ रहा था। पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर जनरल का अधिकृत निवास स्थान वही था। यहां, पहली बार, जिन्ना के चेहरे से ऐसा लगा, जैसे उस अनोखे अवसर के रोमांच से उनके मन में थोड़ा-बहुत आन्दोलन अवश्य हो रहा है। उनके ठण्डे चेहरे की रेखाओं में मनोभावों की फीकी झिलमिलाहट आभास देने लगी थी। उनकी आंखें चमकने की तैयारी में थीं। उनके होंठ इस तरह सिहर उठे कि शायद उसे मुस्कान ही कहा जाना चाहिए।

"जानते हो?" बगल में खड़े अपने ए.डी.सी. सैयद अहसान से वह बोले, "मैंने आशा नहीं रखी थी कि पाकिस्तान को मैं जीते-जी देख सकूंगा।"

वह महान् क्षण, जिसके लिए लुई माउण्टबेटन को भारत प्रेषित किया गया था, अब नितान्त निकट आ चुका था। भारत में, पिछली तीन शताब्दियों से, अंग्रेज जो-जो अनुभव लेते रहे, यहां उन्होंने जो-जो भी किया, उन सबका अन्त होने में अब मुश्किल से 36 घण्टे रह गए थे।

लॉर्ड माउण्टबेटन चाहते थे कि इन अन्तिम क्षणों में अत्यधिक दोस्ताना माहौल बनाए रखा जाए, ताकि स्वतन्त्र होने के बाद भी पाकिस्तान और भारत अपने मन में इंग्लैण्ड के प्रति कोई कटुता न रखें। अन्तिम वायसराय, अन्तिम क्षणों के दोस्ताना माहौल की रचना, बड़ी सावधानी से कर रहे थे—और उन्हें मालूम था कि एक बात ऐसी है, जो इस तमाम चेष्टा को क्षण-मात्र में धूल में मिला सकती है। वह बात थी, सर सिरिल रैडक्लिफ द्वारा खींची जा चुकी विभाजन रेखाएं।

माउण्टबेटन किसी सूरत में नहीं चाहते थे कि आजादी के समारोह अभी समाप्त भी न हुए हों और उन रेखाओं की बारीकियां सामने रख दी जाएं। वायसराय को मालूम था कि विभाजन रेखाओं का प्रकाशन दोनों ही देशों को न केवल असन्तुष्ट, बल्कि आहत करेगा और निसन्देह गम्भीर उलझनें सामने आएंगी। आजादी पाने का आनन्द दोनों ही देशों में डूबने लगेगा। माउण्टबेटन उक्त आनन्द में किसी प्रकार की बाधा नहीं चाहते थे। इसीलिए उन्होंने तय किया था कि दोनों देश पहले आजाद हो लें, आनन्दित हो लें, फिर जरा शांत भी होलें—तब उन्हें बताया जाए कि यहां से यहां तक पाकिस्तान और यहां से यहां तक भारत। किसी भी देश के लिए उसकी सरहदों का मुद्दा अत्यधिक महत्व का हुआ करता है। इसके बावजूद; आजादी पाते समय, भारत या पाकिस्तान में से किसी भी देश को यह जानकारी नहीं मिलने वाली थी कि उसकी सम्पूर्ण सरहदें क्या हैं, ठीक-ठीक आबादी कितनी है, क्षेत्रफल सही-सही कितना बैठता है।

पंजाब और बंगाल के सैकड़ों गांवों के हजारों लोग 15 अगस्त के शुभ अवसर को मारे खुशी के उछल-उछल कर नहीं, बल्कि भय, आशंका और अनिश्चय के भार-तले पिसते हुए गुजरने वाले थे, क्योंकि उन्हें इसका पता ही नहीं चलना था कि वे भारत में हैं या पाकिस्तान में।

रैडक्लिफ के आई.सी.एस. सहकर्मी ने, 13 अगस्त की सुबह, दो भूरे, मनिला-लिफाफों में सीलबन्द करके, विभाजन-रेखाओं की रिपोर्ट वायसराय भवन में पहुंचा दी थी। माउण्टबेटन के आदेश पर, उस रिपोर्ट को हरे रंग के एक विशेष डिस्पैच-बॉक्स में बन्द कर दिया गया था। जिस दोपहर वह करांची के लिए उड़ान भरने वाले थे, उस दिन, उड़ान से. ठीक पहले, उस बन्द डिस्पैच-बाक्स को उनकी मेज पर रख दिया गया। करांची में माउण्टबेटन को, पाकिस्तान के जन्मोत्सव में शामिल होना था। आगामी 72 घण्टों तक, जब दोनों नव-निर्मित देश खुशी से नाच रहे होंगे, वे सीलबन्द लिफाफे, वायसराय के डिस्पैच-बॉक्स में, तसल्ली से पड़े रहने वाले थे— केवल एक चाबी की प्रतीक्षा में, जिसके घूमते ही डिस्पैच-बॉक्स खुले, लिफाफों की सीलें टूटें और ऐसी प्रेतात्माएं बाहर निकलें, जो खीसें निपोड़कर दोनों नवनिर्मित देशों से कहें, ''खामोश!''

'इण्डियन आर्मी' की बैरकों में, छावनियों में, हिन्दू, सिख और मुसलमान सिपाही अभी भी एक-दूसरों को भावभीनी विदाई देने में मगन थे। उन्होंने सम्मिलित परेडें निकालीं, प्रीति-भोज दिए। नाचे-कूदे। चीखे-चिल्लाए। हंसे-खिलखिलाए। एक-दूसरे की सेहत के जाम पीए। सीटियां मारीं। भांगड़ा किया।

रावलपिण्डी के मुसलमान सिपाहियों ने अपने सिख और हिन्दू साथियों को भव्य प्रीति-भोज दिया। प्रत्येक हिन्दू और सिख अधिकारी ने, आंखों में आंसू भरकर, अपने मुसलमान भाइयों को धन्यवाद दिया और विदा मांगी।

इसके उत्तर में, मुसलमान कर्नल मोहम्मद इदरिस ने कहा, ''आप चाहे जहां भी जाएं, यह न भूलें कि हम हमेशा भाई-भाई रहेंगे, क्योंकि हमारा खून, अनेक अवसरों पर, साथ-साथ बहा है।''

भावी पाकिस्तान आर्मी के मुख्यालय से मोहम्मद इदरिस को आदेश मिला था कि भारत जा रहे फौजियों से उनके हथियार रखवा लिए जाएं। इदरिस ने इस आदेश का पालन नहीं किया था। ''ये सच्चे सिपाही हैं।'' उसके शब्द थे, ''यहां यह अपने हथियारों के साथ आए थे। जाते समय भी हथियार इनके साथ रहेंगे।''

अगली सुबह, वे सैनिक, जो मोहम्मद इदरिस के कमाण्ड के नीचे कभी साथ-साथ लड़ चुके थे, केवल इसलिए जिन्दा बच गए कि इदरिस ने उनके हथियार रखवा नहीं लिए थे। रावलपिण्डी से निकलने के एक घण्टे के भीतर, उन्हें भारत ले जा रही ट्रेन पर 'मुस्लिम लीग नेशनल गार्डस्मेन' ने जो आक्रमण किया, उसमें वे अवश्य जान से मारे जाते, अगर निहत्थे होते।

'भारतीय सेना' की जो टुकड़ियां उतने प्यार से जुदा हो रही थीं, वे अपने हथियारों को जल्द ही एक-दूसरों पर तान देने के लिए मजबूर होने वाली थीं.......

❑❑❑

11

‘जब दुनिया सो रही थी’

कलकत्ता; 13 अगस्त, 1947

भारत का स्वतन्त्रता दिवस आने में जब मात्र छत्तीस घण्टों की कसर रह गई थी, तब महात्मा गांधी ने सोदेपुर आश्रम के नारियल वृक्षों की शांतिदायक छाया का त्याग कर, एक चमत्कार की खोज में कदम उठा दिए। आश्रम और उनकी मंजिल के बीच मुश्किल से दस मील का फासला था, लेकिन वही फासला दस प्रकाश वर्ष की बराबरी कर सकता था। धरती पर यदि नरक के दर्शन करने हों, तो जहां जाना चाहिए, महात्मा जी उसी ओर बढ़ रहे थे—कलकत्ता की झोंपड़पट्टी। दुनिया के सबसे गुस्सैल शहरों में से एक कलकत्ता की क्रूरताओं और विडम्बनाओं के बीच रहकर अहिंसा का वह फरिश्ता उस चमत्कार को सम्पन्न कर दिखाना चाहता था, जो कि वायसराय की सेना के लिए भी अंसभव था। फिर से एक बार, भारतीय आजादी के उस जनक ने अपना जीवन अपने ही देशवासियों पर न्यौछावर करने की तैयारी कर ली थी। इस बार उसका उद्देश्य यह नहीं था कि देशवासी अंग्रेजों के आतंक से छूटें, बल्कि यह था कि वे अपने ही दिलों में पैदा हो चुकी जातीय द्वेषता के जहर से मुक्ति पा जाएं।

गांधी जी की उस छोटी-सी यात्रा के समापन पर जिस शहर का प्रारंभ होने जा रहा था, वह अपनी प्राचीन परम्पराओं से ही खून-खराबे और हिंसा का पूजक था। यह हिंसा उसकी पौराणिक कथाओं में, धर्म ग्रन्थों और ईश्वरीय मूर्तियों में प्रतिष्ठा पा चुकी थी। कलकत्ता तो विध्वंस की देवी काली का पूजक था और है। काली! जिसकी डरावनी जीभ बाहर निकली हो, जिसके गले में जिन्दा सर्प मालाओं की तरह लिपटकर बिलबिला रहे हों जो नरमुण्डों की माला पहन कर प्रलय का आह्वान कर रही हो.........।

रोज, कलकत्ता के लाखों नागरिक, इसी काली के सामने मस्तक झुकाते थे। प्राचीन काल में, काली के सम्मान में, मानव-शिशुओं की बलि चढ़ती रही थी। पशुबलि का रिवाज तो अभी तक जिन्दा था। बलि के बाद, पशु के रक्त से, भक्त-गण स्वयं को सान देते और गौरव से झूमने लगते।

अगस्त, 1947 के उन दिनों में, भौतिक प्रगति की चमक-दमक के नीचे कलकत्ता का वास्तविक रूप दब-सा गया था, किन्तु वह चमक-दमक उतनी ही नकली थी, जितना कि फिल्म की शूटिंग का कोई सेट। ऊंची अट्टालिकाओं के पीछे—ऐन पीछे—जो झोंपड़ीपट्टी मीलों-मीलों तक फैलती चली गई थी, उसमें दुनिया की सबसे घनी आबादी बिलबिला रही थी। शहर के चार लाख बेकार और भिखारी, उसी झोंपड़पट्टी में, चालीस हजार कौढ़ियों के साथ, सह-अस्तित्व के नियमों का पालन करते थे।

वह झोंपड़पट्टी गंद और गंदगी का साक्षात् अवतार बनी हुई थी। उसकी वीभत्स गलियां कूड़े-कर्कट और गू-मूत की नहरों जैसा रूप पाने लगी थीं। जिसके बीच-बीच में छूट गई सूखी धरती पर चूहे और काकरोच पिकनिक उड़ाते, मक्खियां और मच्छर भिनभिनाहट के गीत गाते।

वहां के नलकों से सड़ा हुआ पानी निकलता था, क्योंकि वह जिस हुगली नदी से आता था, उसका पानी तैरती लाशों की सड़ांध से प्रदूषित हो चुका था। झोंपड़पट्टी की उन गलियों में हर महीने हृदयहीन जमींदार गश्त लगाया करते, ताकि उस नरक-भूमि के कोने-कोने का किराया वसूल कर सकें।

उस क्षण; जब भारत को आजादी पाने में गिनती के ही घण्टों की देरी थी, कलकत्ता में तीस लाख मानव अपोषण की इतनी दारुण स्थिति में जी रहे थे कि यदि उनके दैनिक भोजन की कैलोरी नापी जाती, तो पता चलता कि हिटलर के मृत्यु शिविरों के अभागों को भी जो भोजन मिलता था, उसमें ज्यादा कैलोरी हुआ करती थी।

झोंपड़पट्टी के उन दयनीय क्षेत्रों में हिंसा अपने नाना रूप प्रकट करने को तैयार बैठी थी। चावल के एक कौर के लिए भी कलकत्ता में हत्या हो सकती थी। अगस्त 1946 के 'डायरेक्ट एक्शन दिवस' पर जो वहशी हत्याकाण्ड हुए, उन्होंने हिंसा और प्रतिहिंसा का नया आयाम उद्घाटित कर दिया था। धार्मिक और जातीय उन्माद, हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को नचा रहा था। अब एक दिन भी ऐसा नहीं गुजर रहा था, जब किसी-न-किसी की जातीय हत्या न होती। राजनीतिक दलों ने गुण्डों की टोलियां संगठित कर ली थीं, जो छुरे-चाकू, पिस्तौल और मुदगरों से लैस थीं। उन्होंने लोहे की सलाखों द्वारा 'शेर के पंजे' भी बनाए थे, जो मनुष्य की आंखों को क्षण-मात्र में बाहर निकाल सकते थे।

दोनों पक्ष एक-दूसरे से डर रहे थे और एक-दूसरे को डराते भी जा रहे थे। क्षण-क्षण उनकी पारस्परिक आशंकाएं चक्रवृद्धि ब्याज की दर से बढ़ रही थीं। बरसों से प्रतीक्षित

आजादी का समारोह मनाने की तैयारियों में जब भारत जुटा था, तब कलकत्ता की झोंपड़पट्टियों में जातीय दंगों की वह आग सुलगने की तैयारी कर रही थी, जो वहां के पहले से ही दुःखी बाशिंदों को और भी ज्यादा दुःखी—एकदम तहस-नहस कर देने में सक्षम थीं।

13 अगस्त की झुकती दोपहर, जब तीन बजकर कुछ मिनट हुए थे, वह व्यक्ति उन दुःखी बाशिन्दों के बीच आ पहुंचा, जो न जाने कैसे यह आशा रखे हुए था कि वह उन्हें तहस नहस होने से बचा सकेगा। एक पुरानी, खस्ता-हाल शेवरलेट कार, गांधी जी को लिए हुए, कलकत्ता के बेलियाघाट रोड पर धीमे-धीमे आगे बढ़ने लगी। वह 151 नम्बर की पथरीली, नीची दीवार के सामने रुकी। दीवार के उस पार थोड़ी खुली जमीन थी, जिसकी धूल को मानसून की बौछारों ने कीचड़ में बदल दिया था। उसके बाद था वह मकान, जिसकी खस्ता हालत उसे किसी नाटक के सेट जैसा रूप दे रही थी।

किसी जमाने में वह मकान निःसंदेह खूबसूरत रहा होगा। उसकी छत, गलियारों, खंबों आदि की बनावट ऐसी थी, मानो किसी धनवान अंग्रेजी व्यापारी का निजी मकान इंग्लैण्ड से उठा कर भारत की ऊष्ण भूमि पर फिट कर दिया गया हो। हैदरी हाउस का मालिक एक अमीर मुसलमान था, लेकिन उसने वह जगह बहुत पहले लावारिस-सी छोड़ दी थी, ताकि चूहे और काकरोच वहां अपनी आवास-समस्या हल कर सकें। उसके फर्श और मैदान पर लोग हग-मूत गए थे। विष्ठा के सूखे, भूरे कुण्डल हर तरफ बिखरे पड़े थे। अब गांधी जी के स्वागत के लिए उस जगह की सफाई और मरम्मत कर दी गई थी। गांधी जी के निवास स्थान के रूप में खास उसी जगह की सिफारिश इसलिए की गई थी कि वहां सण्डास की समुचित व्यवस्था थी, जो कि कलकत्ता की झोंपड़पट्टी में एक विलासिता ही मानी जाएगी। गांधी जी और उनके अनुयायियों को धारण करने के लिए वह मकान अब पूरी तरह तैयार था। झोंपड़पट्टी के कीचड़, गन्ध और घिनौनेपन के बीच खड़े उस हैदरी हाउस में रह कर महात्मा गांधी को अब एक सपनीले चमत्कार की अपनी खोज पूरा करनी थी।

जिन व्यक्तियों पर वे अपना जादू चलाने आए थे वहां उन्हीं की प्रतीक्षा में अकुलाते हुए खड़े थे। वे बण्डियां और धोतियां पहने हुए थे। वे सब हिन्दू थे और उनमें से कईयों ने अपनी आंखों से देखा था कि 'डायरेक्ट एक्शन' को निकली मुसलमान टोलियों ने किस प्रकार उनके रिश्तेदारों को कत्ल किया, कैसे उनकी बहू-बेटियों पर बलात्कार गुजारे। वह पुरानी शेवरलेट कार ज्यों ही नजदीक आई, उन हिन्दुओं ने नारे लगा-लगाकर गांधी को कोसना शुरू किया। तीन दशकों में यह पहला अवसर था, जब हिन्दुओं ने मोहनदास करमचंद गांधी का स्वागत न करके उनके विरूद्ध नारे लगाए।

आधी दुनिया जिस व्यक्ति को महात्मा के नाम से पूजने लगी थी, उसी की कर पर उन्होंने पत्थरों और बोतलों की बौछार कर दी। धीमे से कार का एक दरवाजा खुला। वह प्रसिद्ध पुरुष बाहर निकला। गांधी जी का चश्मा उनकी नाक पर से फिसला जा रहा था। एक

हाथ से वह अपनी शाल संभाल रहे थे। दूसरा हाथ शांति की मुद्रा में उठा हुआ था। वह 77 वर्ष का बूढ़ा, पत्थरों की बौछार में, अकेला निकल आया था। बढ़ रहा था। आगे।

"आप लोग मुझे मारना चाहते हैं।" गांधी जी ने कहा, "ठीक है। मैं खुद सामने आ रहा हूं। मारिए।"

उस निहत्थे व्यक्ति का यों प्रस्तुत हो जाना और उन चुनौती भरे शब्दों का उच्चारण करना....... प्रदर्शनकारी बर्फ की तरह जमे रह गए। गांधी जी एकदम नजदीक आकर उन्हीं के बीच खड़े हो गए। उन्होंने सबको समझाया कि नोआखाली के हिन्दुओं को उन्होंने असुरक्षित नहीं छोड़ दिया है, बल्कि अपना जीवन दांव पर लगाकर उन्होंने उनकी पूर्ण सुरक्षा का वचन प्राप्त किया है। यदि नोआखाली में एक भी हिन्दू मारा गया, तो गांधी जी आमरण अनशन करेंगे....... बेलियाघाट में बैठ कर गांधी जी नोआखाली के हिन्दुओं और कलकत्ता के मुसलमानों दोनों की सुरक्षा का आश्वासन पाना चाहते थे। यदि वह आश्वासन टूटा, तो गांधी जी जान दे देंगे— चाहे वह आश्वासन हिन्दुओं ने तोड़ा हो, या मुसलमानों ने।

गांधी जी के शब्दों ने प्रदर्शनकारियों को उलझन में डाल दिया। धीरे-धीरे वे शांत होने लगे। गांधी जी ने कहा कि मैं आपकी हर आशंका का उत्तर दूंगा। अपने मध्य से कुछ प्रतिनिधि चुनिए और चर्चा के लिए मेरे पास भेजिए।

और वह महात्मा, अपने अनुयायियों सहित, उस टूटे-फूटे मकान में प्रवेश कर गया।

प्रदर्शनकारी अपनी शान्ति को अधिक समय तक स्थिर न रख सके। शीघ्र ही वहां, गांधीजी के साथ रहने के लिए, सुहरावर्दी का आगमन हुआ, जो कि उन हिन्दुओं की द्वेषता का प्रमुख केन्द्र था। चीखती-चिल्लाती भीड़ ने हैदरी हाउस को दुबारा घेर लिया। जिस कमरे में गांधी जी बैठे थे, उसकी खिड़की पर पत्थर आ कर लगा। कमरे के फर्श पर दूर तक कांच बिखर गए। उसके बाद तो, पत्थरों और बोतलों की बौछार ही जारी हो गई।

गांधी जी की मुखमुद्रा से बिल्कुल ऐसा नहीं लगता था, जैसे उन्हें खलल पहुंचा हो। मध्य के एक कमरे में वह पांव मोड़ कर फर्श पर बैठे थे और शान्ति से पत्रों के जवाब लिखे जा रहे थे। उस शान्ति के बावजूद, आज वह अपने जीवन के एक असाधारण मोड़ पर खड़े थे। अगस्त की उस झुकती दोपहरी को, जब आजादी की मंजिल तक पहुंचने की भारत की लम्बी यात्रा समाप्त होने में मात्र कुछेक घण्टों की देरी थी, उनके अपने ही देश के लोग उनका विरोध करते हुए बिफर गए थे। जनवरी, 1915 में गांधी जी ने अफ्रीका से लौट कर जब भारत-भूमि पर पैर रखे थे, तब से लेकर अब तक, ऐसा यह पहली बार हुआ था। हैदरी हाउस की दीवारों और खिड़कियों से टकराते उन पत्थरों का अर्थ, घृणा से तपी जा रही उस भीड़ के नारों का अर्थ, गांधी के लिए, भारत के लिए और दुनिया के लिए भी यही था कि एक दुखान्त नाटक के करुण समूह गान का प्रारम्भ हो चुका है..........

करांची; 13 अगस्त, 1947

जिन्ना की खुली गाड़ी पर बम गिराने की आर.एस.एस. की साजिश की जो सूचना सी.आई.डी. ने लॉर्ड माउण्टबेटन तक दिल्ली में ही पहुंचा दी थी, उसी सूचना को करांची में, गहरी चेतावनी के रूप में फिर से दोहराया गया। अभी-अभी करांची पहुंचे वायसराय से सी.आई.डी. अधिकारियों ने स्पष्ट कहा कि हमें आर.एस.आर. के उन छिपे हुए अनुयायियों को पहचानने में रंच मात्र भी सफलता नहीं मिली है; और यदि जिन्ना के साथ वायसराय ने भी खुली गाड़ी में यात्रा की, तो दोनों की जीवन रक्षा का कोई उपाय किसी के पास नहीं।

"हां, एक तरीका हो सकता है।" सी.आई.डी. अधिकारी ने लॉर्ड माउण्टबेटन से कहा, "आप मिस्टर जिन्ना से आग्रह करिए कि वह खुली गाड़ी की इस राजकीय यात्रा को रद्द कर दें।"

गुरुवार; 14 अगस्त, 1947 की सुबह, नौ बजे, जब शताब्दी के सब से महान् भारतीय पर भारतीयों की ही उत्तेजित भीड़ द्वारा किए गए पथराव को अठारह घण्टे बीत चुके थे, बेलियाघाट रोड से 1800 मील के फासले पर, करांची में, गांधी जी के प्रमुख राजनयिक प्रतिद्वन्दी, मोहम्मद अली जिन्ना ने, अपने एक लम्बे संघर्ष के समापन समारोह की सारी तैयारियां सम्पन्न कर ली थीं।

हैदरी हाउस के खण्डहर में बैठा वह उदास नेता जहां विफल रहा था, वहीं मोहम्मद अली जिन्ना ने जगमगाती सफलता पाई थी। गांधी जैसे देव-पुरुष के विरोध के बावजूद तर्क और न्याय की कसौटी पर कदापि खरे न उतरने के बावजूद, और...... फेफड़ों को गला रही उस भयानक बीमारी के बावजूद, जिन्ना ने भारत का विभाजन कर डाला था।

थोड़ी ही देर में—

करांची का एक अत्यन्त सजा-धजा असेम्बली हॉल, विश्व की सर्वाधिक घनी मुसलमान आबादी के एक नए राष्ट्र के जन्मोत्सव का, गवाह बनने वाला था। उस हॉल की शानदार कुर्सियों पर उन साढ़े चार करोड़ मुसलमानों के प्रतिनिधि आकर बैठ चुके थे, जिन्हें जिन्ना की बदौलत अपना अलग राष्ट्र प्राप्त हुआ था।

लॉर्ड माउण्टबेटन, जिन्ना की बगल में बैठे थे। उनकी झकाझक सफेद पोषाक पर नौसेना के वे तमाम पदक शोभायमान थे, जिन्हें धारण करना माउण्टबेटन को बेहद अच्छा लगता था। आगामी 36 घण्टों में जो अनेक समारोह होने वाले थे—उस भूखण्ड पर से इंग्लैंड का आधिपत्य समाप्त कर देने वाले समारोह—उनमें से प्रथम में वह शामिल हो रहे थे।

नए राष्ट्र के प्रति महामना सम्राट की शुभ-कामनाएं व्यक्त करने के लिए जब वह उठे तो उनके सुन्दर चेहरे पर एक कसी हुई मुस्कान खिल गई।

उस महान् अवसर के उपयुक्त वाक्यों और मुहावरों का उच्चारण लॉर्ड माउण्टबेटन किए जा रहे थे....... और उन्हें लगातार याद था कि थोड़ी ही देर में एक ऐसी कार-यात्रा शुरू होगी। जिसमें वह क्षण-क्षण अपनी मौत की प्रतीक्षा करेंगे..... मौत भी उस राष्ट्र की खातिर, जिसकी रचना करना उन्होंने कभी नहीं चाहा.....मौत भी उस व्यक्ति की खातिर, जिसके ठण्डे और क्रूर व्यक्तित्व को उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया....... करांची की सड़कों पर प्रथम राजकीय यात्रा खुली कार में करने का कार्यक्रम रोकने के लिए वायसराय ने जिन्ना से काफी आग्रह किया था, लेकिन जिन्ना किसी भी शर्त पर तैयार नहीं हुए। यह यात्रा यदि रद्द की गई; या फिर उसे बन्द कार में सम्पन्न किया गया, तो वह अपनी कायरता का ही परिचय देने जैसा होगा।

जिस देश के जन्म के लिए जिन्ना ने जीवन भर संघर्ष किया, उसी के उद्गम समारोह में कायदा-ए-आजम जैसा नेता मुंह छिपाकर निकल जाए? सवाल ही नहीं। प्रथम राजकीय यात्रा खुली कार में ही सम्पन्न होगी और इस कार को जनता के बीच में तेजी से भगाया नहीं जाएगा। कार धीरे-धीरे ही आगे बढ़ेगी ताकि जनता अपने कायदा-ए-आजम के स्वागत में जितना चाहे उतना आनन्द मना सके।

खुली छत वाली कार जब धीरे-धीमे सरक रही होगी, तब बम फेंकने वाले को निशाना साधने में रंच-मात्र भी कष्ट नहीं होगा। इन्हीं विचारों के भंवर में फंसे माउण्टबेटन ने अपना भाषण किसी तरह पूरा किया। वह बैठे और जिन्ना उठे।

जिन्ना की सफेद शेरवानी गले तक बन्द थी। वह इस तरह आगे आए जैसे कोई पोप धार्मिक सम्भाषण देने के लिए अवतरित हुआ हो।

जिन्ना और माउण्टबेटन, दोनों के भाषण, झटपट समाप्त हो गए। खुली कार में प्रथम राजकीय यात्रा का अवसर आमने-सामने आ खड़ा हुआ। वे दोनों व्यक्ति, जो अब तक अनेक क्षेत्रों में प्रतिद्वन्दी रहे थे, असेम्बली हॉल के जबर्दस्त दरवाजों को पार करके, अगल-बगल चलते हुए, काले रंग की उस खुली रॉल्स-रॉयस गाड़ी की तरफ बढ़े, जो उन्हें उस सनसनीखेज और खतरनाक यात्रा पर ले जाने वाली थी। 'कम्बख्त कार!' माउण्टबेटन ने सोचा, 'अभी से यह शव-गाड़ी जैसी लग रही है।'

क्षणांश के लिए लॉर्ड माउण्टबेटन ने अपनी पत्नी की आंखों में आंखें डालकर देखा। खुली कार में बम फेंकने की साजिश को, बहुत चाहने के बावजूद, वायसराय अपनी पत्नी से छिपाकर नहीं रख पाए थे। लेडी माउण्टबेटन ने बहुत जिद की थी कि उस खुली कार में वह भी अपने पति के साथ यात्रा करेंगी, लेकिन लॉर्ड माउण्टबेटन ने यह कह कर साफ मना कर दिया था कि मेरे साथ तुम्हारी भी धज्जियां उड़ जाएं इसमें भला क्या तुक है? अर्थात्, घोर आशंका से थरथराती एडविना माउण्टबेटन को, पति से जुदा रहकर ही, उस घातक जुलूस में शामिल होना था। वायसराय ने पत्नी के चालक को सख्त आदेश दे रखा था

कि तुम्हें मेरी कार से पर्याप्त फासला बनाए रखकर ही चलना है, किन्तु उन्हें मालूम था कि चालक इसका पालन कर नहीं पाएगा। एडविना की जिद के सामने झुकते हुए उसे अपनी गाड़ी वायसराय की खुली रॉल्स-रॉयस के नजदीक ...... और नजदीक ले आनी पड़ेगी।

लॉर्ड माउण्टबेटन ने लेडी माउण्टबेटन की आंखों पर से तुरन्त आंखें हटा लीं। जिन्ना की बगल से चलते हुए वह उस कार की तरफ बढ़े, जो उन्हें अभी से शव गाड़ी जैसे लगने लगी थी।

कार ज्यों ही स्टार्ट हुई, जिन्ना और माउण्टबेटन ने एक-दूसरे की तरफ देखा। दोनों में से कोई कुछ न बोल सका। जब उन्होंने करांची की सड़कों पर बढ़ना शुरू किया, तो वायसराय की 31 तोपों की सलामी आकाश में गड़गड़ाने लगी। प्रत्येक गड़गड़ाहट ऐसी थी कि दिल दहल जाए।

सड़कों के किनारे मनुष्यों का समुद्र उन्हीं की प्रतीक्षा में लहरा रहा था। खुशियों के नारे लगाते और खिलखिलाते उस समुद्र में, न जाने कहां, किस गली के किस नुक्कड़ पर, उस व्यक्ति का अजनबी चेहरा छिपा हुआ था, जो उन दोनों की जान का ग्राहक था। वह अजनबी न जाने किस छत पर बैठा था, न जाने किस खिड़की से झांक रहा था। वह अकेला नहीं था उस जैसे अनेक व्यक्ति थे, जो तीन मील लम्बे उस रास्ते पर बिखर चुके थे—उन्हीं के इन्तजार में अकुलाते हुए। तीन मील लम्बे उस रास्ते पर बिखर चुके थे—उन्हीं की प्रतीक्षा में अकुलाते हुए। तीन मील लम्बे इस पूरे रास्ते पर सेना के जवान मौजूद हैं, लेकिन वे क्या कर सकेंगे? उनकी पीठें भीड़ की तरफ घूमी हुई हैं। हत्यारे ने कब हाथ घुमाया और बम फेंक दिया, उन्हें पता भी नहीं चलेगा।

वह यात्रा 30 मिनट में पूरी हो जाने वाली थी, किन्तु माउण्टबेटन के लिए वे 30 मिनट 24 घण्टों से भी ज्यादा लम्बे थे। भीड़ से घिरी उनकी कार इतनी धीमी चल रही थी कि वैसी चाल तो पैदल चलने वालों की होती है। पूरे रास्ते पर इतने लोग थे कि बीते भर की जगह भी खाली नहीं। दोनों फुटपाथों पर छह-छह व्यक्ति गहरी भीड़ लगी थी। बिजली और टेलीफोन के खम्भों से लटकते, खिड़कियों से झूलते, छतों पर से झांकते लोग.....लोग.....लोग..... काश, वे जान रहे होते कि उस समय जिन्ना और माउण्टबेटन किस डरावने ड्रामा के पात्र बने हुए उस काली, मनहूस खुली कार में बैठे थे, जिसके चारों ओर केवल 'जिन्दाबाद' के नारे बार-बार आकाश की ऊंचाइयों तक उठ रहे थे। पाकिस्तान जिन्दाबाद...... कायदा-ए-आजम जिन्दाबाद....... माउण्टबेटन जिन्दाबाद......।

उनकी कार मानो मात्र मानव-चेहरों से बनी किसी सुरंग में से गुजर रही थी। जब कोई हाथ, अचानक, बम फेंकेगा; तो इस उबलती भीड़ में शायद पता भी न चले कि वह हाथ किस मानव चेहरे की सम्पत्ति थी!

भावनाओं के तूफानी उन्माद से घिरी उस भीड़ की मुस्कानों का उत्तर मुस्कानों से ही देने के लिए दोनों नेता मजबूर थे। उनकी स्थिति किसी वीभत्स पहेली के कठपुतली-पात्रों से बेहतर नहीं थी। माउण्टबेटन जनता के स्वागत में लगातार हाथ हिला रहे थे, उनके होठों पर लगातार हार्दिक मुस्कान खिली हुई थी—और उनकी आंखें भीड़ के एक-एक चेहरे को पकड़ने व समझने की कोशिश में दु:ख रही थीं।

'कौन है वह ?' उनका दिमाग झनझना रहा था, 'क्या वही, जिसकी ओर अभी मैं हाथ हिला रहा हूं ? या उसकी बगल का वह......'

माउण्टबेटन जानते थे, उस व्यक्ति को यों पहचाना नहीं जा सकता। इसके बाजवूद, बचकाने विचारों से वह छूट नहीं पा रहे थे। उन्हें वह सच्ची घटना याद आई, जब बंगाल के एक गवर्नर पर किसी ने बम फेंका, लेकिन सचिव ने बम को हवा में ही पकड़कर वापस उछाल दिया! बम तो बम, माउण्टबेटन ने कभी कोई क्रिकेट-बॉल भी हवा में नहीं पकड़ा था। उन्हें निरन्तर अपनी पत्नी की याद आती रही, जो पीछे की किसी कार में साथ-साथ आ रही थी। क्या एडविना अपनी कार को, पति के आदेश का उल्लंघन करके, इस मनहूस खुली कार कें एकदम नजदीक ला चुकी है ? एक क्षण के लिए भी माउण्टबेटन ने अपनी नंजर जनता पर से हटाई नहीं थी, न वह हटाने का साहस ही कर सकते थे। घूम कर पत्नी की तरफ वह कैसे देखते ?

"लोग मुझे चाहने लगे हैं।" वह बार-बार स्वयं को आश्वस्त करते, 'आखिर यह मैं ही हूं, जिसने उन्हें आाजदी दी है। वे जिन्ना को मारने की एक बार सोच सकते हैं, लेकिन क्या साथ में मुझे भी मार डालेंगे ? बम फेंकने पर मैं भी साथ मरूंगा इसीलिए...... शायद वे बम न फेंके........ न फेंके......'

एकाएक, कार के चारों ओर से उठ रही 'जिन्दाबाद! जिन्दाबाद!' की आवाजें चुप हो गई। भीड़ तो थी, लेकिन डरावने ढंग से खामोश। माउण्टबेटन समझ गए कि कार एक हिन्दू मुहल्ले से गुजर रही है। 'यहीं ...... यहीं वह होगा..... यहीं.......' उन्होंने अपने आप को मृत्यु के आलिंगन के लिये तैयार कर लिया। वे पांच मिनट, जब एल्फिंस्टन स्ट्रीट की भीड़ में से कार गुजरी, उस यात्रा के सब से भयानक पांच मिनट थे। करांची के प्रमुख व्यापार-क्षेत्र एल्फिंस्टन स्ट्रीट की अधिकांश दुकानें हिन्दुओं की थीं और वे अपने मुसलमान पड़ौसियों का उन्माद भरा आनन्द देखकर बुरी तरह आशंकित हो रहे थे।

वह क्षेत्र गुजर गया। कुछ न हुआ। गवर्नमेंन्ट हाउस के दरवाजे रॉल्स-रॉयस के सामने एकाएक प्रगट हुए। लॉर्ड माउण्टबेटन के जीवन की सबसे डरावनी कार-यात्रा पूरी हो गई थी।

कार ज्यों ही रुकी; जिन्ना का चेहरा, जो उस पूरे दौर में अत्यन्त चिन्तातुर और रंगहीन बन रहा था, पहली बार जरा प्रसन्न दिखाई दिया। एक गर्म मुस्कान उस कमजोर चेहरे

पर चमकने लगी। अपने हड्डी-हड्डी हाथों से जिन्ना ने माउण्टबेटन के घुटने पकड़ लिए और बुद-बुदाकर कहा, "खुदा का शुक्र है! मैं आपको जिन्दा बचा कर ले आया!"

माउण्टबेटन दंग रह गए। ढिठाई की हद है! उन्होंने सोचा और अत्यन्त आश्चर्य से कहा, "माई गॉड! कौन किसे बचाकर लाया है? आप मुझे या मैं आपको?"*

* कराची में जिन्ना की कार पर बम क्यों नहीं गिरा, इस रहस्य की तह तक पहुंचने के लिए लेखकों ने बहुत चेष्टा की। जालंधर में, साइकिल-रिपेरिंग का काम करते एक सिख, प्रीतमसिंह ने दबे स्वर में जो स्वीकार किया, उनके अनुसार; आर.एस.एस. ने अपने अनुयायी करांची तक पहुंचाने में सफलता पा ली थी मगर उन अनुयायियों को बम फेंकने का संकेत ही न मिल सका; क्योंकि संकेत का प्राथमिक विस्फोट जिस नेता को करना है, उसकी हिम्मत ऐन उस वक्त छूट गई, जब कार सामने से गुजरी। प्रीतमसिंह को सी.आई.डी. ने गिरफ्तार किया था— "पाकिस्तान स्पेशल्स" ट्रेनों को उड़ाने की साजिश में भाग लेने के आरोप पर।

कलकत्ता; 14 अगस्त 1947

जैसा कि हमेशा होता था, वह बिल्कुल ठीक समय पर तैयार हो गए। शाम के पांच बजने वाले थे। गांधीजी उन दोनों युवतियों के कन्धों पर हाथ रख कर हैदरी हाउस के दरवाजे से बाहर निकले जिन्हें वह लाड़ से अपनी बैसाखियां कहा करते थे। हैदरी हाउस के आंगन में काफी बड़ी भीड़ उन्हीं का इन्तजार करती खड़ी थी। आज महात्माजी अपनी प्रार्थना-सभा में क्या कहेंगे?

देश की जनता तक अपनी बात पहुंचाने का, गांधी जी का सबसे बड़ा साधन वे प्रार्थना-सभाएं ही थीं। शहरों में, गांवों में, लन्दन की झोंपड़पट्टी में और अंग्रेजों की जेलों में; गांधीजी चाहे जहां होते, शाम को प्रार्थना-सभा का आयोजन अवश्य करते। उन सभाओं में उन्होंने जो भी कहा, वह हमेशा एक मुंह से दूसरे मुंह, एक अखबार से दूसरे अखबार सारे देश में पहुंच गया।

उस दिन, भय और घृणा से सिहरते कलकत्ता के उस टूटे-फूटे मकान के आंगन में उन्होंने एक ऐसी प्रार्थना-सभा का आयोजन किया, जो कि अपने तरह की अन्तिम थी, अंग्रेजों द्वारा शासित भारत में आयोजित अन्तिम प्रार्थना सभा!

"कल से हम अंग्रेजी राज से मुक्त हो जाएंगे।" उन्होंने भीड़ को सम्बोधित करते हुए कहा....... "लेकिन आज आधी रात को भारत के टुकड़े भी होने वाले हैं। कल का दिन आनन्द का होगा, लेकिन उतने ही दु:ख का भी होगा। यह आजादी हम सबको एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी सौंप रही है। हमें अपना विवेक और भाईचारा नहीं छोड़ना है। यदि इस विवेक और भाईचारे की रक्षा कलकत्ता में हो गई, तो समझ लीजिए कि सारे देश में हो गई। कलकत्ता के उदाहरण से सारे देश की मानवता जाग जाएगी।"

वह व्यक्ति, जिसने भारत को आजादी का उपहार ला कर दिया था, उस प्रार्थना-सभा में बोला कि आजादी का ऐसा आगमन मुझे आनन्दित नहीं कर रहा। कल, आजादी दिवस पर, मैं उपवास रखूंगा; भारत के कल्याण के लिए प्रार्थनाएं करुंगा, चरखा कातूंगा। आप लोग भी इस में मेरा साथ दें। उपवास रखें। प्रार्थनाएँ करें। चरखा कातें।

वह व्यक्ति, जिसने पाकिस्तान का सपना पहली बार देखा था, 14 अगस्त के उस दिन को अपने सूने कमरे में बिताने के लिए अभिशप्त था। कैम्ब्रिज के हम्बर स्टोन रोड की तीसरी मंजिल पर वह रहमत अली अकेला बैठा हुआ था, जिसके सम्मान में करांची की किसी सड़क पर कोई जुलूस निकलने वाला नहीं था। पाकिस्तान के सपने का प्रारम्भ भले ही रहमत अली ने किया, लेकिन उस सपने की चोरी आखिर उस व्यक्ति ने कर ली थी, जिसने उसी सपने को 'असम्भव' की संज्ञा देते हुए रद्द कर दिया था। रहमत अली अब एक नया मसौदा तैयार कर रहा था। पंजाब का विभाजन स्वीकार करके जिन्ना ने कितनी बड़ी भूल कर डाली है इसका गम्भीर विश्लेषण उसने पहली बार लिख कर तैयार किया-ठीक वैसे ही जैसे किसी वक्त उसने 'पाकिस्तान' नामक एक ऐसे देश की रूपरेखा पहली बार तैयार की थी, जो मुसलमानों का अपना अलग देश हो-किन्तु इस बार रहमत अली के शब्दों पर ध्यान देने वाला कोई माई का लाल दुनिया में नहीं था। पाकिस्तान की आभारी जनता, मोहम्मद अली जिन्ना की यादगार में, दस लाख डॉलर जितना खर्च करके लाहौर में उनका स्मारक खड़ा करने की क्षमता रखती थी; किन्तु वही जनता उस रहमत अली को याद रखने वाली भी नहीं थी जिस ने पाकिस्तान की रूपरेखा पहली बार लिखकर तैयार की। मृत्यु के बाद रहमत अली को न्यू मार्केट के कब्रस्तान में दफन किया गया।

नई दिल्ली; 14 अगस्त, 1947

मद्रास के नटराज मन्दिर से पीताम्बर एवं अन्य पवित्र वस्तुएं ले कर जो साधु दिल्ली आए थे, उसका भव्य जुलूस यार्क रोड के सत्रह नम्बर के सादे बंगले की ओर बढ़ रहा था ताकि उस व्यक्ति को ईश्वर का आशीर्वाद दिया जा सके, जिसे ईश्वर पर बिल्कुल विश्वास नहीं था और जो कुछ ही घण्टों बाद इस देश का कर्णधार बनने जा रहा था। ब्राह्मण होते हुए भी जवाहरलाल नेहरू ने एक नहीं, अनेक बार सरेआम ऐलान किया था कि ईश्वर के नाम पर भारत में ऊंच-नीच और वैमनस्य को बल मिला है; कि ईश्वर ने इस देश का कल्याण नहीं, अकल्याण ही किया है; कि धर्म का नाम सुनते ही मेरे मन में जुगुप्सा जैसी भावना कांपने लगती है।

ऐसे व्यक्ति को उन सन्यासियों ने पीताम्बर पहनाया अन्य पवित्र वस्तुओं से विभूषित किया, उसके मस्तक को राख और तिलक से सान दिया; ताकि उसे एक ऐसी शक्ति मिले, जिससे वह उन तमाम विचित्र समस्याओं को हल कर सके जो देश का कर्णधार बनते ही उस पर टूट पड़ने वाली थीं।

उतने नास्तिक और तर्कवादी उस व्यक्ति को ईश्वरीय वस्तुओं के बोझ तले दबा देना—इसे उन सन्यासियों की असाधारण सफलता माना जाना चाहिए; लेकिन उस तर्कवादी ने कैसे उन ईश्वरीय वस्तुओं को ग्रहण कर लिया, यह प्रश्न उतना रहस्यमय नहीं है जितना कि शुरू में लगता है। जो विकट समस्याएं आगे आने वाली थीं, उनका निश्चित आभास जवाहरलाल नेहरू ने अवश्य पा लिया था और वह जानते थे कि उन्हें हल करने के लिए प्रत्येक उपलब्ध साधन का पूरा-पूरा उपयोग करना होगा चाहे वह साधन आध्यात्म ही क्यों न हो; कि जिस पर स्वयं उन्होंने कभी विश्वास नहीं किया।

सैन्य छावनियों, सरकारी कार्यालयों निजी मकानों आदि पर फहराते यूनियन जैक को उतारा जाना शुरू हुआ। भारत के आकाश पर लहरा कर अंग्रेजी राज की घोषणा पिछली तीन शताब्दियों से निरन्तर करता आ रहा वह प्रतीक पहली बार ध्वज-दण्ड से अवतरण कर रहा था। लॉर्ड माउण्टबेटन के इस आग्रह को जवाहरलाल नेहरू ने स्वीकार कर लिया था कि ध्वज-दण्ड पर अपना राष्ट्रीय ध्वज चढ़ाते समय भारतीयों द्वारा भले ही समारोह किए जाएं किन्तु इंग्लैण्ड का ध्वज उतारने का कोई समारोह न हो, ताकि अंग्रेजों की नाजुक संवेदन शीलता को कोई आघात न पहुंचे।

14 अगस्त को जब सूर्य डूबा, तो देशभर में यूनियन जैक ने ध्वज-दण्ड का त्याग कर दिया, ताकि वह चुपके से भारतीय इतिहास के भूत-काल की एक चीज बन कर रह जाए।

संन्यासियों द्वारा मस्तक पर लगाई गई पवित्र राख उन्होंने अभी-अभी पोंछी थी। सहसा उनका फोन घनघनाने लगा। रात्रि भोजन करके वह अभी-अभी उठे थे। यदि उक्त फोन भोजन से पहले आ गया होता तो निश्चित था कि जवाहरलाल नेहरू, फिर, कुछ भी खा-पी न सकते। उस समय वहां उनकी पुत्री इन्दिरा और मेहमान पद्‌मजा नायडू मौजूद थीं। उन्होंने अध्ययन-कक्ष से आ रही नेहरू जी की तीखी आवाज से अनुमान लगा लिया कि अवश्य कोई कु-सन्देश दिया जा रहा है। साथ में अवश्य फोन की लाइन भी खराब है।

नेहरूजी जब वापस आए, तो उनका चेहरा इतना फक था कि दोनों महिलाएं चौंक गईं। कुर्सी में निढ़ाल होकर नेहरूजी ने दोनों हाथों से अपना सिर पकड़ लिया। वह इतने स्तब्ध थे कि कुछ भी बोल नहीं पा रहे थे। आखिर, जब उन्होंने सिर उठा कर महिलाओं की तरफ देखा, तो उन आंखों में आंसू चमक रहे थे। वह फोन-सन्देश लाहौर से आया था। हिन्दू और सिख इलाकों की पानी की आपूर्ति वहां, काट दी गई थी। भयानक गर्मी ने लोगों को प्यास से दीवाना कर दिया था। उनके मुहल्लों के बाहर मुसलमान टुकड़ियां हथियार ताने खड़ी थीं। पानी की एक डोल की भीख मांगने के लिए भी जो स्त्रियां और बच्चे मुहल्ले से बाहर आ रहे थे, उन्हें निर्दयता से मौत के घाट उतारा जा रहा था। कम-से-कम आधा दर्जन स्थानों पर शहर धू-धू कर जल रहा था।

स्तब्ध जवाहरलाल का स्वर इतना धीमा था कि उनके शब्द मुश्किल से ही सुने जा सके, "आज रात मैं क्या बोलूंगा? क्या कहूंगा? कैसे यह ढोंग रचूंगा कि आजादी पाने की खुशी मेरे दिल में समा नहीं रही; जबकि मुझे मालूम है कि हमारा सुन्दर लाहौर धू-धू कर जल रहा है?"

नई दिल्ली, 14 अगस्त, 1947 की आधी रात

आग लगी हुई थी, मगर वह आग किसी विध्वन्सकारी ने नहीं लगाई थी। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद के नई दिल्ली स्थित बगीचे में वह पवित्र आग पूर्ण वैदिक रीति से लगाई गई थी। पण्डितों के मन्त्रोचार ने उसे शुद्ध से शुद्धत्तर किया था।

"ओ अग्नि!" मन्त्रोच्चार अब भी जारी थे, "ओ अग्निदेव! विश्व की शक्ति आप ही देते हैं। आत्मा और परमात्मा, सभी को आपके अनुमोदन की एक-सी आवश्यकता पड़ती है..... आप मानवीय हृदय के उन गह्वरों तक भी पहुंच सकते हैं, जहां अन्य किसी की पहुंच नहीं। इस प्रकार आप सत्य के आविष्कार में अधिकतम सक्षम हैं।"

वे स्त्री-पुरुष, जो स्वतन्त्र भारत के प्रथम मन्त्री पदों को शीघ्र ही सम्भालने वाले थे, मन्त्रोच्चार के बीच उस पवित्र अग्नि की परिक्रमा कर रहे थे। इसके उपरान्त, उन पर गंगाजल छिड़का गया। मस्तक पर तिलक भी लगाया गया, जो हिन्दुओं के प्राचीन विश्वास के अनुसार तीसरे नेत्र का प्रतीक है—तीसरा नेत्र जो प्रस्तुत दृश्य के पीछे का वास्तविक दृश्य देख सके और जो दुर्भाग्य, विपत्ति, बद्दुआओं, तन्त्र-मन्त्र की घातकताओं आदि से व्यक्ति की रक्षा करे।

इस प्रकार वे भावी मन्त्रीगण उन विकट जिम्मेदारियों के वहन की तैयारी कर रहे थे, जो शीघ्र ही उनके कन्धों पर लद जाने वाली थीं। फिर , एक-के-बाद-एक उन्होंने संविधान सभा के उस भव्य कक्ष में प्रवेश किया, जिसकी सर्वाधिक सजावट राष्ट्रीय ध्वजों से की गई थी।

आदिकाल से ही, जब मानव ने अपने अनुभवों को पत्थर पर अंकित करना भी नहीं सीखा था, सुबह का स्वागत शंखनाद से करने की परम्परा भारत में रही है। आज वह शंखनाद आधी रात को होने जा रहा था। खादी पहने हुए एक व्यक्ति उस गलियारे में खड़ा था, जहां से वह संविधान सभा की पूरी भीड़ पर नजर रख सकता था। गुलाब की पंखुड़ियों के बीच उसने अपनी दोनों हथेलियों में एक शंख थाम रखा था।

उस मानव से ठीक नीचे, वक्ता के स्टैण्ड पर, जो नेता आ खड़ा हुआ था, उसकी सूती बण्डी के एक काज में गुलाब का ताजा फूल पिरोया हुआ था। ब्रिटिश जेलों में बिताए गए नौ वर्षों की अवधि को यदि अपवाद स्वरूप छोड़ दिया जाए, तो जवाहरलाल नेहरू की बण्डी में गुलाब का ताजा फूल रोज पिरोया जाता था। जिस कक्ष में भारत के वायसरायों की भव्य आयल-पेण्टिग्ज लगी रहा करती थीं. वहीं अब अनेक तिरंगे झण्डे शान से फहरा रहे थे।

नेहरू के ऐन सामने खद्दरधारियों की जो भीड़ उस भवन में ठसाठस बैठी थी; वह उस राष्ट्र की जनता का प्रतिनिधित्व कर रही थी, जिसका जन्म उस आधी रात को बस होने ही वाला था। वे तमाम प्रतिनिधि परस्पर इतने भिन्न थे, लेकिन उस भिन्नता के बावजूद अब वे इतने एक होने जा रहे थे कि अनेकता में एकता की वैसी मिसाल विश्व में अन्यत्र कहीं भी सम्भव नहीं हो सकी थी। रीति-रिवाज, धर्म, संस्कार, भाषा, रूपरंग, किसी धरातल पर भारत की जनता एकरूप नहीं थी। आध्यात्मिक उपलब्धियों की दृष्टि से जो देश विश्व में सर्वोच्च था, वहीं विश्व की सबसे दारुण गरीबी अपने पैने दांत धंसाए बैठी थी। भारत वह देश था, जहां स्वयं जनता अपनी जमीन से ज्यादा फलप्रद साबित होती थी; जहां लोगों की सबसे बड़ी शक्ति था ईश्वर, लेकिन जहां उसी ईश्वर द्वारा नियन्त्रित माना जाता मौसम उन्हीं भक्तों के प्रति बेहद क्रूर था। इन तमाम विडम्बनाओं के बावजूद, आध्यात्मिक क्षितिज पर भारत एक चमचमाता सूरज था। बौद्ध धर्म की जन्मभूमि और हिन्दुत्व की मातृभूमि भारत ने इस्लाम का प्रभाव भी कम ग्रहण नहीं किया था।

शाही शासकों द्वारा भारत का रंचमात्र भी औद्योगीकरण नहीं हुआ था। पटसन, चाय, कपास और तम्बाकू—ये चार चीजें ही भारत द्वारा प्रमुख रूप से निर्यात की जाती थीं; और इन चारों का निर्यात केवल कच्चे माल के रूप में होता इसीलिए, भारत में विद्युत का उपयोग इतना कम किया जाता था कि सुनकर हंसी आए। संयुक्त-राज्य अमेरिका में प्रत्येक व्यक्ति के पीछे, उन दिनों, जो विद्युत उपयोग होती थी; उसकी तुलना में भारत का प्रत्येक व्यक्ति केवल 1/200 विद्युत का उपभोग करता था। भारत की जमीन में विश्व के दसवें हिस्से का लोहा दबा पड़ा था, जबकि उस देश में प्रति वर्ष केवल दस लाख टन इस्पात का उत्पादन होता था। देश का समुद्री किनारा 3800 मील लम्बा होने के बावजूद, मछली उद्योग इतना भी विकसित नहीं हुआ था कि भूखों मर रहे भारतीयों को थोड़ी-बहुत भी राहत मिल सके।

विकट विडम्बनाओं के देश भारत को संचालित करने की जिम्मेदारी जिस व्यक्ति पर सर्वाधिक आने वाली थी, वह अपनी जनता के उन प्रतिनिधियों को सम्बोधित कर रहा था, जो संविधान सभा में उसके आमने-सामने बैठे हुए थे। लाहौर के समाचार टेलीफोन पर मिलने के बाद जवाहरलाल नेहरू का मन मर गया था। न तो उन्हें इच्छा रही थी और न इतना समय ही मिल पाया था कि अपना भाषण वह लिखकर तैयार कर सकते। वह आशु-वक्ता उस समय जो बोल रहा था, वह उसके दिल की आवाज थी—इतनी ईमानदार आवाज कि उसे पहले से लिखकर तैयार रखना लेश-मात्र भी आवश्यक नहीं था। जवाहरलाल की जीभ पर आज साक्षात सरस्वती विराजमान थी।

''आज.... हम सब जो यहां मिल रहे हैं.....'' वह कहते जा रहे थे, ''इस मिलन को स्वयं हमने बरसों पहले तय कर लिया था। हमारी वह प्रतिज्ञा आज पूरी हो रही है। यह सच है कि सपना ज्यों का त्यों साकार नहीं हो रहा, लेकिन फिर भी..... अधिकांश सपना तो

साकार हो ही गया है। आज ..... ज्यों ही आधी रात की टंकार होगी.....जब दुनिया सो रही होगी—भारत जागेगा और जागते ही आजाद हो जाएगा। इतिहास में ऐसे क्षण कभी-कभी ही आते हैं जब केवल एक दहलीज हम पार करें और पुराने को छोड़कर नए में आ खड़े हों........ जब उसी एक कदम से पूरा युग समाप्त हो जाए और बरसों से दबे पड़े किसी देश की आत्मा एकाएक सोते से उठ पड़े........।''

जैसा कि नेहरू जी ने बाद में अपनी बहन को बताया, ''मुझे होश नहीं था कि क्या कह रहा हूं..... शब्द जुबान पर आते और फिसलते जा रहे थे......... जबकि मस्तिष्क में लाहौर के ही आग-भरे दृश्य लगातार कांपते रहे......''

संविधान सभा के समक्ष नेहरूजी प्रस्ताव रख रहे थे, ''ज्यों ही आधी रात की टंकार समाप्त होगी, हम सब उठ पड़ेंगे और भारतीय जनता की अधिकतम सेवा करने की शपथ लेंगे।''

सभा-भवन से बाहर, आधी रात के आकाश में, अचानक, बिजली कड़क उठी और मानसूनी बारिश टूट पड़ी। भवन को चारों तरफ से हजारों भारतीयों ने घेर रखा था। वे भीगने लगे। चुपचाप। क्षण-क्षण नजदीक आ रही उस आधी रात की सम्भावना ने उन्हें इतना रोमांचित और तन्मय कर रखा था कि भीगने का उन्हें पता भी नहीं चल रहा था।

भवन के अन्दर, वक्ता के स्टैण्ड के ठीक ऊपर, जो बड़ी-सी दीवार-घड़ी लगी थी, उस के कांटों ने बारह की तरफ सरकना शुरू किया। जनता के प्रतिनिधि सिर झुका कर, गम्भीर खामोशी के साथ, बैठे रहे। आधी रात की टंकार की प्रतीक्षा में वे मानो समाधिस्थ हो गए थे। आखिर वह टंकार शुरू हुई, जिसने एक दिन के समापन और साथ में एक युग के भी समापन की घोषणा कर दी। टंकार के दौरान कोई व्यक्ति बिल्कुल न हिला।

बारहवीं टंकार की गूंज अभी शान्त हुई भी न थी कि गलियारे में खड़े उस मानव ने तीव्रतर शंखनाद कर के पूरे भवन में वह थर्राहट भर दी, जिस के प्रभाव में जनता के वे सारे प्रतिनिधि अचानक उठ पड़े। उन का देश, उस शंखनाद के साथ, सहसा अवतरित हो गया था। दुनिया की नजरों में, उस शंख-ध्वनि ने, मानव इतिहास के सबसे बड़े साम्राज्य को भारतीय भूखण्ड पर से विदा कर दिया। एक युग का प्रारम्भ। एक युग का अन्त।

दोनों नवनिर्मित राष्ट्रों में, उस शंखनाद के साथ, नई धड़कनें शुरू हो गई थीं। बड़ी बातों के अलावा, छोटी-छोटी भी अनेक बातें थीं, जिनसे पता चल रहा था कि अंग्रेजों का राज उठ गया।

'बाम्बे यॉट क्लब' के गेट पर पुलिस वाले ने बोर्ड लगा दिया—'बन्द!' बम्बई का वह क्लब गोरों ने अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए विकसित किया था। वहां गोरों के अलावा अन्य किसी का प्रवेश नहीं हो सकता था। अब वहां भारतीय नौसेना का भोजनालय खुलने वाला था।

कलकत्ता में, प्रमुख सड़कों के अंग्रेजी नामों को भारतीय नामों से बदल देने के लिए, कर्मचारी-गण अत्यन्त उत्सुकता से लपक चले। क्लाइव स्ट्रीट का नाम हो गया सुभाष मार्ग। यह उस भारतीय देश भक्त का सम्मान था, जिस ने द्वितीय महायुद्ध में अंग्रेजों के खिलाफ जापानियों का साथ दिया—नेताजी सुभाषचन्द्र बोस।

शिमला में, आधी रात की टंकार होते ही, हजारों, भारतीय नर-नारी धोतियां और साड़ियां पहन कर, हंसते-खिलखिलाते माल पर दौड़ पड़े। माल वह सड़क थी, जिस पर कोई भारतीय कदम नहीं रख सकता था। बाद में, जब कदम रखने की अनुमति मिली; तो इस शर्त पर कि वहां कोई भारतीय अपनी राष्ट्रीय पोशाक पहन कर नहीं निकलेगा। अब वहां साड़ियां और धोतियां इठला रही थीं।

कलकत्ता के 'फिर्पो,' लाहौर के 'फैलेटी' और बम्बई के 'ताज' जैसे होटलों में, जहां डिनर जैकेट और ईवनिंग गाउन पहन कर ही प्रवेश किया जा सकता था; आजादी मिलते ही लोगों ने मनचाही राष्ट्रीय पोशाकों में दनदना कर प्रवेश किया। डिनर के टेबल और डान्स के फ्लोर, लोगों का स्वागत कर-कर के अधा गए।

दिल्ली ने आजादी का स्वागत रोशनियों से किया। वह परिश्रमी और खूबसूरत राजधानी रोशनियों से जगमगा उठी। मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों, चर्चों आदि में जगमगाते बल्बों की झालरें झूल रही थीं। लाल किले की शान निराली थी। नई दिल्ली के नवीनतम बिड़ला मंदिर में बिजली चमचमा रही थी। सभी प्रशासकीय भवन जगमगाहट से ओतप्रोत थे। हरिजन कॉलोनियों में, जहां गांधी जी प्राय: आकर अछूतों के बीच रहा करते थे, पहली बार रोशनी यदि पहुंची, तो आजादी के ही कारण। नगरपालिका ने हरिजनों के बीच दीयों और मोमबत्तियों का नि:शुल्क वितरण किया था।

दिल्ली के बाशिन्दे घरों से निकल पड़े। साइकिलों, कारों, बसों, रिक्शों, तांगों-यहां तक कि हाथियों पर भी सवार होकर—लोगों ने दिल्ली के मध्य की ओर बढ़ना शुरू किया। लोग पैदल भी चल रहे थे, दौड़ रहे थे। वे नाच-गा रहे थे, अपने-आप को बधाई दे रहे थे। कनाट-प्लेस के रेस्तराओं और कॉफी-हाउसों में बैठने की जगह नहीं थी। दिल्ली का बड़े-से बड़ा आदमी फ़ुटपाथ पर निकल आया था।

इम्पीरियल होटल के बार में सम्भ्रान्त नागरिकों की भीड़ लगी थी। बारह की टंकार होते ही एक व्यक्ति मेज पर चढ़ गया और जनता को ललकार कर बोला कि आओ हम अपना नया राष्ट्र गीत गाएं। यह आमन्त्रण जनता ने सहर्ष स्वीकार कर लिया, लेकिन जयों-ज्यों राष्ट्र गीत आगे बढ़ा, त्यों-त्यों अधिकांश व्यक्तियों ने एक विशिष्ट असुविधा का आविष्कार किया—कि राष्ट्रगीत उन्हें आता ही नहीं था।

नि:सन्देह, आजादी की वह रात रोशनियों की रात थी, लेकिन जो तूफान जल्द ही आने वाला था, उसकी परछाइयां राजधानी के कई हिस्सों में प्रकट हो चुकी थीं। पुरानी दिल्ली

के मुसलमान इलाकों में मुस्लिम लीग के उन्मादियों द्वारा एक नारा, बुदबुदाहटों के रूप में, उछाला जा रहा था, ''हंस कर लिया है पाकिस्तान; लड़ कर लेंगे हिन्दुस्तान''।

उस सुबह, पुरानी दिल्ली की एक मस्जिद में, मुल्ला ने अपने शार्गिदों को याद दिलाया कि दिल्ली पर तो सदियों से मुसलमानों का राज्य रहा है; और यदि..... खुदा ने चाहा, तो ..... यही इतिहास फिर दोहराया जाएगा।

दूसरी ओर—

जो हिन्दू और सिख शरणार्थी पाकिस्तान से बर्बाद होकर आए थे और जिन्हें दिल्ली के नजदीक अनेक कामचलाऊ शिविरों में बसाया गया था; वे बदले की आग में जल रहे थे और राजधानी के मुसलमान इलाकों को आग की लपटों में झोंक कर आजादी का महोत्सव मनाने की साजिश पका रहे थे।

भारत और पाकिस्तान में लाखों लोग ऐसे थे, जिनके लिए आजादी के उत्सव का अर्थ था एक ऐसी पार्टी की शुरुआत, जो लगातार चौबीस घण्टों तक चले। कानपुर में, जहां गदर के समय बेतहाशा खून-खराबा हुआ था; आजांदी महकते ही गोरे और काले खुली सड़कों पर गले मिले। अहमदाबाद के टाउन-हाल पर राष्ट्र-ध्वज उस नौजवान स्कूल शिक्षक ने फहराया, जिसे राष्ट्र-ध्वज फहराने के ही आरोप में 1942 में गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया था।

लखनऊ रेजिडेन्सी में जब आधी रात को राष्ट्र-ध्वज फहराया गया, तो आमन्त्रित मेहमानों के सुन्दर-सजीले कार्डों पर छपा हुआ थां—'नेशनल ड्रेस धोतियों का स्वागत है!'

मद्रास, बैंगलोर, पटना आदि हजारों शहरों, नगरों गांवों में आधी रात को लोग मन्दिरों में गए; ताकि आजादी का उपहार देने का श्रेय जिन देवताओं को था, उन पर पुष्प-मालाएं न्यौछावर करें। बनारस का एक बेकरी वाला, अपनी छोटी-सी सूझ पर, हजारों कमा गया। उस ने राष्ट्र ध्वज के रंगों वाली 'आजादी-केक' बाजार में रखी, जो खटाखट बिकी।

आजादी का स्वागत बम्बई में जिस जोश-ओ-खरोश के साथ हुआ, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। जिस शहर के फुटपाथों पर लाठी-चार्जों के कारण इतना खून बहा था कि फिसलन के मारे चलना मुश्किल हो जाए; जिस शहर का इतिहास भारतीय आजादी के संघर्षमय इतिहास के साथ अजब ढंग से गुथा हुआ था; जिस शहर की गलियों ने अनेकानेक जुलूसों और हड़तालों से साक्षात्कार किया था; वह सारा ही शहर आजादी पाकर जैसे दीवाना हो चला।

मरीनड्राइव के राजसी ठाठ वाले मकानों से लेकर परेल जैसे सुदूर क्षेत्रों की झोंपड़पट्टी तक, मलाबार हिल्स के बंगलों से लेकर चोर-बाजार तक, बम्बई का रूपान्तार रोशनी की झील में हो गया।

कुछ शहर और कुछ समारोह ऐसे भी थे, जहां आजादी का स्वागत खुले दिल से न हो पाया। रजवाड़ों के अधिकांश देशी शासक उदास थे, क्योंकि आजादी ने उन के उन अधिकारों का भी विलय कर दिया था, जिन्हें अंग्रेजों तक ने बरकरार रखा।

लाहौर, जिसे उस भूखण्ड में सर्वाधिक प्रसन्न और सुन्दर दिखाई देना चाहिए था, विडम्बनाओं के भार से कुचला जा रहा था। शान्ति स्थापना के लिए अपने गोरखों के साथ कैप्टन राबर्ट एटकिन्स ने शहर में प्रवेश किया था। अपने शिविर में लौटने के साथ वह डरे हुए हिन्दुओं से घिर गया। इक्की-दुक्की अटैचियों और बच्चों को थामे हुए वे हिन्दू गिड़गिड़ाते हुए कह रहे थे कि हमें शिविर में ही रख लीजिए, ताकि हमारी जान बच सके। लगभग एक लाख हिन्दू और सिख पुराने लाहौर में कैद हो चुके थे। चारों ओर आग लगाकर, उन की पानी की आपूर्ति काट दी गई थी। उन के मुहल्लों से बाहर मुसलमानों की टोलियां गश्त लगा रही थीं। पानी लेने के लिए ज्यों ही कोई हिन्दू बाहर निकलता, हत्या कर दी जाती। शाह आलमी गेट के पास जो प्रसिद्ध गुरुद्वारा था, उसे एक भीड़ ने घेर कर आग लगा दी। अन्दर कैद सिख जब जिन्दा भुनने लगे, तो मुसलमानों ने आनन्द की किलकारियां मारीं।

कलकत्ता, जिसे हिंसा और प्रतिहिंसा के ज्वालामुखी की तरह फट पड़ना चाहिए था, एक ऐसे दौर से गुजर रहा था, जिसे अविश्वसनीय की सीमा तक आश्चर्य जनक कहा जाना चाहिए। उस का प्रारंभ बहुत उत्साह के साथ नहीं हुआ था। पहले कदम के रूप में, सन्ध्या से पहले, शहर में एक ऐसा जुलूस निकाला गया, जिस में हिन्दुओं और मुसलमानों ने बराबरी में भाग लिया। यह जुलूस गांधी जी के निवास-स्थान हैदरी हाउस तक पहुंचा। उस एक जुलूस से ही शहर का वातावरण बदल गया। हिन्दुओं और मुसलमानों ने अपने-अपने छुरे म्यान में रख लिए, ताकि उन्हें बाल्कनियों और लैम्प-पोस्टों से भारत का राष्ट्रीय झण्डा फहराने का समय मिल सके। काली के आराधकों के लिए मस्जिदों के दरवाजे खुल गए। उन आराधकों ने भी मुसलमानों को अपने मन्दिरों में पधारने के स्नेह भरे आमंत्रण दिए, जो सहर्ष स्वीकारे गए।

केवल 24 घण्टे पहले जो लोग एक-दूसरों के गले काट रहे थे, वे ही सड़कों और गलियों में हाथ मिलाते, खिलखिलाते घूमने लगे। हिन्दू-मुसलमान स्त्रियों और बच्चों ने, एक-दूसरे के धर्म को पूर्णतया भूलकर, केवल मानवता को याद रख कर, आपस में मिठाइयां बांटी।

भारत जब इन समारोहों में मग्न था, तब उस शानदार भवन में एक क्रान्ति लाई जा रही थी, जिस की दीवारों के बीच सुरक्षित रह कर अंग्रेजों ने अपनी राजनयिक क्षमताओं का परिचय देते हुए भारत का संचालन किया था। भवन के इस छोर से उस छोर तक नौकरों ने दौड़धूप मचा रखी थी। वे ऐसी प्रत्येक वस्तु को हटा रहे थे, जिसे देख कर नए-नए आजाद हुए भारत के नागरिकों को रंच-मात्र भी ठेस पहुंचने की सम्भावना हो। माउण्टबेटन ने प्रण

किया हुआ था कि इस 'गवर्नमेण्ट हाउस' में; जो अभी कल-परसों तक 'वायसराएज हाउस' कहलाता था, ऐसी कोई बात शेष नहीं रहनी चाहिए, जो कि अपने आजादी दिवस पर यहां आने वाले भारतीयों को जरा भी चुभे और उन्हें भूतकाल की आघात जनक याद आ जाए।

नौकरों की एक टुकड़ी इस के अलावा और कुछ नहीं कर रही थी कि जहां-जहां भी 'वायसराय हाउस' शब्दों वाली स्टेशनरी रखी हों, वहां-वहां से उसे उठाकर 'गवर्नमेण्ट हाउस' शब्दों वाली स्टेशनरी रख दें। एक और टुकड़ी दरबार हाल के ऊपर अंकित जबर्दस्त सील को ढकने में व्यस्त थी।

यह कामधाम अभी चल ही रहा था कि संविधान सभा द्वारा भेजा गया भारतीय नेताओं का प्रतिनिधि मण्डल आ पहुंचा। राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने, औपचारिक रूप से भारत के अन्तिम वायसराय को भारत का प्रथम गवर्नर जनरल बनने का आमन्त्रण दिया। उस आकर्षक एडमिरल ने, उसी शाम, एक और भी सम्मान प्राप्त किया था—महामना सम्राट जार्ज छठवें ने, भारत में माउण्टबेटन के प्रशंसनीय कार्यों को देखते हुए, उन्हें 'वायकाउण्ट' के स्तर से ऊपर उठा कर 'अर्ल' बना दिया था।

माउण्टबेटन ने राजेन्द्र प्रसाद का आमन्त्रण स्वीकार करते हुए वचन दिया कि वह भारत की सेवा उसी तरह करेंगे, जिस तरह कि स्वयं कोई भारतीय।

इसके बाद; नेहरू जी ने माउण्टबेटन को एक लिफाफा दिया, जिसमें उन व्यक्तियों की सूची थी; जो—गवर्नर-जनरल के अनुमोदन के बाद—स्वतन्त्र भारत की पहली सरकार की रचना करते।

नेताओं की विदा के बाद, शयन से पहले, माउण्टबेटन ने वह लिफाफा खोला उस में से जो चीज निकली, उसे देखकर माउण्टबेटन खिलखिला कर हंस पड़े। वह शाम इस हद तक व्यस्ततापूर्ण रही थी कि भारत के प्रथम मन्त्रिमण्डल के पदाधिकारियों के नाम कागज पर अंकित करने का भी समय नेहरूजी को नहीं मिला था। उस लिफाफे में सिर्फ कोरा कागज था।

अन्धेरे में डूबा लाहौर का मनहूस रेलवे-स्टेशन। इक्की-दुक्की रोशनियों के बीच कुछ अंग्रेज सामने खड़ी बॉम्बे-एक्सप्रेस की ओर बढ़ रहे थे। पंजाब में उन्होंने जो नहरें खोदीं, जो सड़के निकालीं, जो रेल-मार्ग तैयार किए, जो पुल बनाए, उन सब को भारतीय हाथों में सौंप कर वे अपने देश वापस जाने के लिए रवाना हो रहे थे।

ट्रेन के नजदीक आते ही उन्होंने देखा कि कुछ रेल-कर्मचारी मशीनी ढंग से प्लेटफार्म पर पानी डाल-डाल कर उसे धो रहे हैं। लाहौर स्टेशन पर, कुछ ही घण्टे पहले भारत की ओर पलायन कर रहे हिन्दुओं का वीभत्स नरसंहार हुआ था। उन अंग्रेजों ने एक ऐसा दृश्य देखा, जो उन्हें वर्षों तक याद रह जाने वाला था। कुछ कुली, एक ठेले में गडमड लाशों का

जबर्दस्त ढेर लाद कर उसी तरह ले जा रहे थे, जिस तरह वे किसी गाड़ी के सामान वाले डिब्बे में रखने के लिए भारी असबाब ले जाते।

बेलियाघाट रोड के 151 क्रमांक के उस टूटे-फूटे मकान में सन्नाटा छाया हुआ था। उस के गेट पर कुछ अहिंसक हिन्दू-मुसलमान स्वयं सेवक पहरा दे रहे थे। हैदरी हाउस की टूटी खिड़कियों में से रोशनी की एक किरण भी नहीं फूट रही थी। कोई बल्ब नहीं, लालटेन नहीं, मोमबत्ती नहीं।

गांधी जी के अनुयायी जो स्त्री-पुरुष भीतर थे, उन के दैनिक कार्यक्रमों में, उस अनोखी रात भी, कोई परिवर्तन नहीं आया था। उस बड़े-से कमरे में, जहां वे सब सोया करते थे, रुखी चटाइयों पर उन्होंने अपने शरीर निढ़ाल कर दिए थे। जैसी चटाइयां सब की थीं, वैसी ही उस बूढ़े की भी थीं; जिस के निद्राधीन शरीर के पास ही रखीं थी उस की स्वच्छ खड़ाऊं, उस की गीता, उस के नकली दांत और इस्पाती फ्रेम का उसका चश्मा।

जब सारे देश की घड़ियों ने उस जादुई अर्द्ध-रात्रि के आगमन की घोषणा में टंकार शुरू की; जब समस्त भारत में आजादी अंगड़ाई लेती हुई अचानक उठ पड़ी; तब मोहनदास करमचन्द गांधी नींद से बेखबर सोए हुए थे।

❑❑❑

12

‘आह! आजादी का उदय अनोखा!’

नई दिल्ली; 15 अगस्त, 1947

चली आ रही थी जनता। चारों दिशाओं से; बल्कि, दसों दिशाओं से चली आ रही थी। तांगों के पीछे तांगे। बैलगाड़ियों के पीछे बैलगाड़ियां। कारें। ट्रकों। रेलगाड़ियों-बसें। लोग छतों पर बैठ कर आए; खिड़कियों से लटककर आए। साइकिलों पर आए और पैदल भी। दूर-देहात के ऐसे लोग भी आए, जिन्हें गुमान तक नहीं था कि भारत देश पर अंग्रेजों का शासन अब तक था—और अब नहीं है। लोग गधों पर चढ़े, घोड़ों पर चढ़े। मर्दों ने नई पगडियां पहनीं, औरतों ने नई साड़ियां। बच्चे मां-बाप के कन्धों पर लद गए। छोटे बच्चों को टोकरों में डाल कर स्त्रियों ने सिर पर रख लिया। स्त्रियों ने गहने निकाले। हाथों में, पैरों में, गले में, कमर में, सिर में, उंगलियों में, नाक में, कानों में, बालों में गहने गहने-गहने। लोग चले दिल्ली।

पद, धर्म, जाति, गौरव-सब कुछ उस क्षण लुप्त हो गया था। हिन्दू, सिख, मुसलमान, ईसाई, पारसी, एंग्लो-इण्डियन्स..... सब हंस रहे थे, एक-दूसरों को बधाइयां दे रहे थे। भावावेश में, यदाकदा, उन्हें रोना भी आ जाता था।

देहात से आए ऐसे बहुत-से लोग थे, जो लोगों से पूछ रहे थे कि यह धूम-धड़ाका काहे का है। लोग बढ़-बढ़ कर बता रहे थे, “अरे! तुम्हें नहीं मालूम? अंग्रेज जा रहे हैं। आज नेहरूजी देश का नया झण्डा फहराएंगे। हम आजाद हो गए!”

चांदी के बिगुल की तीखी आवाज ने सुबह के वातावरण को चीर दिया। विक्टोरियन शैली की अजब शान-ओ-शौकत का वह आखिरी विस्फोट था—उस असाधारण दिवस के

अनेक सरकारी कार्यक्रमों में से प्रथम की शुरुआत हो रही थी। भारत नामक नव-निर्मित राष्ट्र के प्रथम संवैधानिक गवर्नर-जनरल का शपथ समारोह!

जितने धीर-गम्भीर वह करांची में थे, आज भी लॉर्ड माउण्टबेटन उतने ही धीर-गम्भीर दिखाई दे रहे थे। रानी विक्टोरिया के प्रपौत्र ने दृढ़ कदमों से उस सिंहासन की ओर बढ़ना शुरू किया, जहां उन्हें एक ऐसी जिम्मेदारी सौंपी जाने वाली थी और एक ऐसा सम्मान भी मिलने को था, जिस की कोई मिसाल साम्राज्य-संकुचन के भावी किसी इतिहास में अंकित होने वाली नहीं थी।

लेडी माउण्टबेटन उनकी बगल में चल रही थीं। चांदी की बुनाई वाला उनका गाउन बड़े रुतबे के साथ चमचमा रहा था। उनके भूरे बालों में मुकुट शोभायमान था। रौब-रुतबे के शौकीन लॉर्ड माउण्टबेटन ने, व्यक्तिगत रूप से रुचि लेकर सारा कार्यक्रम इस प्रकार तैयार करवाया था कि भारत का आजादी समारोह दिव्यता में अपना सानी न रखे। शोख रंगों की पोशाकों से सजे मार्गरक्षक शाही युगल के आगे-आगे चल रहे थे। केवल पांच महीने पहले जिन सिंहासनों पर लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन वायसराय और वायसरीन के रूप में स्थापित हुए थे, उन्हीं सिंहासनों की ओर अब उन्होंने कदम उठाना शुरू किया।

उन के दाएं और बाएं, मखमली छत्र के नीचे भारत के नए सूत्रधार उपस्थित थे। नेहरूजी सूती जोधपुरी पायजामे और बण्डी में थे। वल्लभभाई पटेल सफेद धोती में प्रकट हुए थे। वह किसी रोमन सम्राट से कम रौबीले नहीं लग रहे थे। शेष नेताओं को उनकी सफेद टोपियों से पहचाना जा सकता था।

अपनी जगह लेते समय माउण्टबेटन को एक अजब विचार आया। जो महिलाएं और पुरुष, भारत के नए सूत्रधारों की हैसियत से, उन के दाएं-बाएं उपस्थित थे; उन सब ने—लगभग सभी ने-ब्रिटिश जेलों में सजा अवश्य काटी थी। इंग्लैण्ड के महामना सम्राट के जेल अधिकारियों के उन भूतपूर्व मेहमानों को गवाह रखकर लुई माउण्टबेटन ने अपना दाहिना हाथ उठाया और शपथ ली कि स्वतन्त्र भारत के प्रथम सेवक के रूप में वह अधिकतम हार्दिकता और परिश्रम के साथ देश की सेवा करेंगे।

उन की शपथ के समापन पर, कल शाम जिन नेताओं के नाम कागज पर लिखना नेहरूजी से रह गया था, वे सभी नेता क्रमवार आते गए और जिस व्यक्ति के हाथों भारत ने आजादी पाई थी, उसी व्यक्तिके हाथों देश-सेवा की अपनी शपथ ग्रहण करते गए।

वायसराय की 31 तोपों की सलामी घटाकर, संवैधानिक गवर्नर-जनरल की सलामी 21 तोपां पर स्थिर की गई थी। भवन से बाहर, उन 21 तोपों ने, एक-के-बाद-एक गड़गड़ना शुरू किया। खुशियों में डूबी भारत की राजधानी के आकाश में उस गड़गड़ाहट ने दौड़ लगा दी।

लाल रंग के कालीन से सजी दरबार हाल की सीढ़ियां जहां खत्म हो रही थी, वहां माउण्टबेटन दम्पत्ति के इन्तजार में सोने की कारीगरी वाली वह शाही बग्घी खड़ी थी, जिस का निर्माण लगभग आधी शताब्दी पहले लन्दन की मैसर्स पार्कर एण्ड कम्पनी द्वारा किया गया था; ताकि जब भारत में जार्ज पंचम और क्वीन मेरी का शाही आगमन हो, तो वे उसी बग्घी पर आरूढ़ हो सकें। गवर्नर-जनरल के सभी अंगरक्षक उस बग्घी के सामने तैनात थे। गवर्नर-जनरल के निवास स्थान से वह महान् जुलूस जब रवाना हुआ, तो सारा रास्ता तोरनों और सजावटी भालों से शोभायमान था। बिगुलवाद और कमाण्डर, पॉइण्ट-मैन और कोचवान, मार्ग-रक्षक और अंगरक्षक.... घुड़सवार और प्यादे..... मानो प्राचीन काल का कोई ऐतिहासिक चित्र अचानक रंगीन और जिन्दा होकर रास्ते पर निकल पड़ा हो।

बग्घी में माउण्टबेटन दम्पत्ति उसी दर्प के साथ विराजमान हुए, जो कि जनता का सुचारु शासन करने वालों में सहज पैदा हो जाता है। बग्घी चली, सलामी देते सैनिकों के सामने से गुजरी और उन लौह-दरवाजों को पार करने लगी, जहां सम्पूर्ण भारत प्रतीक्षा में बैठा था।

यह वह भारत था, जिसके दर्शन पिछली तीन शताब्दियों में किसी अंग्रेज ने नहीं किए थे। वह भीड़ अंग्रेजों की शान-ओ-शौकत देखने और स्तब्ध होने के लिए नहीं आई थी। न वह किसी जबर्दस्त मनोरंजन के समारोह में शामिल हुई थी। वह भीड़ वहां क्यों आई थी, उसका राज तो सारी दुनिया के सामने खुला पड़ा था।

भारत अपने भीड़-भड़क्के के लिए विख्यात और कुख्यात रहा है। नई दिल्ली में आज वह भीड़ इतने घनत्व के साथ जमा हुई थी कि वैसी भीड़ इतिहास में पहले कभी नहीं देखी गई। लोग उल्लासित थे, जोश में थे और आवागमन के नियमों का उल्लंघन हसंते-हंसते कर रहे थे।

गवर्नर-जनरल के जुलूस को लोगों ने लपककर घेर लिया। अंग-रक्षकों के घोड़े बिल्कुल धीमे-धीमे चलने के लिए मजबूर हो गए। माउण्टबेटन ने सारी जोड़तोड़ बड़ी मशक्कत से कर रखी थी कि किस कार्यक्रम को कब, कहां, कैसे शुरू किया जाए; लेकिन उनकी सवारी को लोगों ने ऐसा जाम कर दिया कि सब हिसाब-किताब धरा-का-धरा रह गया। जो नया भारत आज पैदा हुआ था, उसने माउण्टबेटन की सुनहरी सवारी को काले मानव-शरीरों के समुद्र में डुबो दिया—हंसते, खिलखिलाते मानव-शरीर, जिस में आकांक्षाओं आशाओं और आभार की ऐसी भावना सिहर रही थी, जैसी किसी भी अंग्रेज के प्रति पहले कभी नहीं सिहरी थी।

आज कोई अमीर नहीं था, कोई गरीब नहीं। कोई स्वामी नहीं, शूद्र नहीं। कोई हिन्दू नहीं, मुसलमान नहीं। कोई जेबकतरा नहीं, कोई मालदार नहीं, आज सब केवल आजाद थे। लोग एक-दूसरों को 'आजाद साहब, आजाद साहब!' कह कर पुकार रहे थे।

देहात से आए अधिकांश लोग बहुत भोले थे। आजादी का अर्थ भी उन्होंने उतने ही भोलेपन के साथ लगाया। किसानों ने अपने बच्चों को बताया कि अब खेतों में ज्यादा फसल हुआ करेगी; ग्वालों ने अपनी पत्नियों से कहा कि अब गायें ज्यादा दूध देंगी; क्योंकि आजादी मिल गई है। लोगों ने बसों में टिकटें खरीदने से मना कर दिया। भला आजाद मुल्क में कहीं टिकट भी लगा करते हैं? आजादी का समारोह देखने आया एक भिखारी उस विभाग में दाखिल होने लगा, जो विदेश के राजनीतिज्ञों के लिए आरक्षित था। जब सिपाही ने पूछा कि तुम्हारा आमन्त्रण-पत्र कहां है; तो वह चकित हो गया। "आमन्त्रण?" उसने कहा, 'अब कैसा आमन्त्रण? हम आजाद हो गए हैं। समझे?'

उस अविस्मरणीय प्रात:काल को सारे भारत में खुशियों के फव्वारे फूट रहे थे। दिल्ली जैसा ही उत्साह दिखाने वाले शहरों की कमी नहीं थी। कलकत्ता में, सुबह आठ बजे, झोंपड़पट्टी के लोगों की एक भीड़, गवर्नर के सरकारी निवास-स्थान में अचानक घुस पड़ी। भवन के एक कोने में अन्तिम ब्रिटिश गवर्नर सर फ्रेडरिक बरोज, अपनी पत्नी के साथ, नाश्ता करते बैठे थे। उनके देखते-देखते लोग शयन-कक्ष में घुस गए। उन औसत भारतीयों ने, जो धूल के मुलायम बिस्तरों या चरमराती नंगी चारपाइयों से बेहतर किसी शयन-व्यवस्था से परिचित नहीं थे; उस पलंग पर नन्हे बच्चों की तरह उछल-उछल कर अपना आजादी दिवस मनाया, जिस पर अभी घण्टा भर पहले ही गवर्नर महोदय की श्रीमती जी शयन कर रही थीं।

भवन में, अन्यत्र, भारत के पूर्व गोरे शासकों की ऑयल-पेण्टिग्ज लगी हुई थीं। लपकते-झपकते लोगों ने, आजादी की खुशी में, अपने छातों की नोकें उन पेण्टिग्ज में घुसा दीं।

शहर की ट्रामें और ट्रॉलियां, सारा दिन फ्री चलती रहीं। जिस शहर ने आशंका रखी थी कि आज तो, बस, केवल बन्दूकों की आवाजें सुनाई देंगी, वही शहर अपेक्षाकृत अत्यन्त श्रेष्ठ आवाजें सुन रहा था—पटाखों के विस्फोट।

बम्बई, कलकत्ता, मद्रास सूरत, कानपुर, लखनऊ..... सारे शहरों के सारे होटल भरे पड़े थे। जहां हमेशा अंग्रेजों का झण्डा दिखाई देता रहा, वहीं भारतीय झण्डा फहराता देख-देख कर लोगों के नेत्र भीग रहे थे।

फांसी की सारी सजाएं आजादी की खुशी में माफ हो गई; हजारों कैदी रिहा कर दिए गए। सब जगह, अंग्रेजों के प्रति लोगों ने शुभेच्छा की ही भावना रखी। अंग्रेजों ने, उस अवसर पर भी जो कि उन के लिए निश्चित रूप से पराजय और ग्लानि का अवसर था, हंसते मुंह से सच्चाई को स्वीकारा और आजादी-समारोहों में भाग लिया। अपवाद स्वरूप कुछेक ऐसे उदाहरण अवश्य सामने आए; जब कुण्ठित अंग्रेज महिलाएं फूट-फूट कर रो पड़ीं। न जाने कितने अंग्रेज ऐसे थे, जिनका जन्म ही भारत में हुआ था। इंग्लैण्ड उन्होंने कभी-कभार छुट्टियां बिताई थीं, या

थोड़ी-बहुत पढ़ाई की थी। शेष सारी परवरिश भारत में ही हुई थी। भारत को, जो उन्हें 'अपना घर' लग रहा था; छोड़कर इंग्लैण्ड जाना और उस अजनबी देश को 'अपना घर' मानना—यह स्थिति, न जाने कितने अंग्रेजों को अत्यन्त असहनीय लग रही थी।

भूखण्ड के दूसरे हिस्से मं जो नया राष्ट्र अवतरित हुआ था; उसके लिए भी 15 अगस्त का दिन कम उल्लासपूर्ण नहीं था। रमजान के पवित्र महीने का आखिरी शुक्रवार भी, चूंकि उसी 15 अगस्त के दिन पड़ रहा था; लोगों का जोश दूना हो चला था।

समारोह कुछ इस प्रकार मनाए जा रहे थे कि पन्द्रह अगस्त का दिन, पाकिस्तान के संस्थापक के लिए, व्यक्तिगत समारोह का भी दिन हो चला था। गली-गली में, नुक्कड़-नुक्कड़ पर; हर खिड़की, हर बाजार, हर दुकान में जिन्ना की तस्वीरें लगी थीं और उन्हीं का नाम दोहराया जा रहा था। 'पाकिस्तान टाइम्स' ने यहां तक दावा किया कि लाहौर के चिड़िया घर में जो पशु-पक्षी हैं, वे भी अपने रक्षकों के माध्यम से कायदा-ए-आजम को शुभकामनाएं भेज रहे हैं और 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' के नारे लगाने में मग्न हैं।

पाकिस्तान का झण्डा उस देश के दूसरे सिर तक नहीं पहुंच पाया था। पूर्वी बंगाल में, जहां खुशी का वातावरण पाकिस्तान की मुख्य भूमि की तुलना में कहीं तेज था; राष्ट्रीय झण्डे की आपूर्ति न हो पाने के कारण ढाका में भी पाकिस्तान के झण्डे नहीं फहरा रहे थे—जबकि पूर्वी पाकिस्तान की राजधानी वहीं थी। झण्डे न सही, किन्तु जिन्ना की तस्वीरें वहां भी पहुंच गई थीं—भले ही उस जमीन पर जिन्ना ने कभी कदम नहीं रखे थे।

जिन्ना ने नव-राष्ट्र के निर्माण दिवस पर अपनी खुशी जाहिर करने के लिए, सभी राजकीय अधिकार अपने हाथ में ले लिए—जबकि उन्होंने जो पद स्वयं के लिए चुना था, वह केवल औपचारिक अधिकारों का पद था। लन्दन में प्रशिक्षित उस वकील ने हमेशा जनतान्त्रिक शासन-प्रणाली पर अपना अटूट विश्वास प्रकट किया था; किंतु उसी वकील ने जब उस नव राष्ट्र का शासन संभाला, तो तानाशाह की हैसियत से, भले ही उस तानाशाह को बाकायदा मालूम था कि जिन्दगी अब जरा-सी शेष रह गई है।

तानाशाह के पद पर वह सहर्ष बैठ तो गए, किन्तु उनके जिन्दा रिश्तेदारों के बीच जो सबसे नजदीकी और प्रिय था; वह उस हर्ष में शामिल होने के लिए उपस्थित नहीं था। करांची से 500 मील दूर, बम्बई के एक अत्यन्त सम्भ्रान्त क्षेत्र कोलाबा के फ्लैट में, एक नवयुवती ने अपनी बाल्कनी से दो झण्डे लटका रखे थे—एक झण्डा भारत का। दूसरा पाकिस्तान का। आजादी मिलते ही उस नवयुवती के सामने जो असाधारण समस्या पैदा हुई थी वे झण्डे उसी के प्रतीक थे। वह नवयुवती दीना नाम से पहचानी जाती थी और वह मोहम्मद अली जिन्ना की एक मात्र सन्तान थी। इसका फैसला करना उसके लिए असंभव रहा था कि किस राष्ट्र को अपना देश माने। क्या उस भारत को, जहां उसका जन्म हुआ था? या उस पाकिस्तान को, जिस का सृजन उसके पिता ने किया?

जिनके रिश्तेदार पंजाब में थे, उन्होंने किसी-न-किसी के कत्ल होने जिन्दा भुन जाने, तलवार से काटे जाने, छुरे से बिन्ध जाने, बलात्कारित होने या जिन्दा जल कर आत्महत्या कर लेने आदि के समाचार या तो सुन लिए थे; या सुनने की मानसिक तैयारी कर ली थी। ऐसे लोगों के लिए आजादी का गहरा अर्थ एक शब्द में समा जाता था—सर्वनाश।

पंजाब; 15 अगस्त, 1947

भारत का आनन्दभरा आजादी-दिवस, पंजाब के लिए वास्तव में प्रलय-दिवस था। अमृतसर में, शहर के नए अधिकारी जब आजादी-दिवस समारोह सहर्ष मनाने के सरकारी आदेश का पालन कर रहे थे, तब उनकी समारोह स्थली, यानि कि मुगलों के किले से, मुश्किल से एक मील दूर, सिखों की खूंख्वार टोली एक मुसलमान मुहल्ले को तबाह करने में जुटी हुई थी। बिना कोई अपवाद छोड़े, बिना कोई दया दिखाए, उन्होंने एक-एक मर्द को मार डाला। औरतों को नंगा किया। भोगा। फिर वैसी ही नंगी, थरथराती हालत में उनका जुलूस शहर भर में निकाला और अन्त में, स्वर्णमंदिर ले जाकर, उनमें से अधिकांश की गर्दनें काट डालीं।

लाल ईटों से बना अमृतसर का रेलवे-स्टेशन किसी शरणार्थी-शिविर का रूप पा गया था। पश्चिमी पंजाब से आए हजारों हिन्दू स्टेशनों पर डेरा डाले बैठे थे। प्रतीक्षालयों और प्लेटफार्मों में वे समा नहीं रहे थे। ज्यों ही कोई ट्रेन आती, वे टिड्डीदल की तरह उसकी दिशा में लपक जाते। सब का कोई-न-कोई दोस्त, रिश्तेदार, बच्चा पीछे छूट गया था। वे हर ट्रेन में उन खोए हुओं को पुकारते हुए झांकते। चिल्लाते। सीखचों पर सिर पटकते।

15 अगस्त की झुकती दोपहर को स्टेशन-मास्टर चानीसिंह, विलाप और उन्माद में डूबी शरणार्थियों की भीड़ को काटता हुआ आगे आ रहा था। वह नम्बर दस, डाउन एक्सप्रेस की अगवानी की तैयारी में था।

ट्रेन ने प्लेटफार्म में प्रवेश किया। चानीसिंह ने लाल झण्डी दिखाई और भारी-भरकम इंजन ने सीना फुलाकर ट्रेन रोक दी। चानीसिंह अब एक ऐसे दृश्य के आमने-सामने आने वाला था, जिसे वह जीवन भर नहीं भूल पाया।

उसने देखा कि इंजन-चालक का चेहरा एकदम फक हुआ जा रहा है और चार सशस्त्र सैनिक उसकी रक्षा में तैनात हैं। स्टेशन मास्टर को समझते देर न लगी कि अवश्य कोई बेहद गम्भीर घटना घटी है।

प्लेटफार्म पर खड़ी शरणार्थियों की बिलबिलाती भीड़ चकित रह गई थी। चानीसिंह ने ट्रेन की आठों बोगियों को घूर कर देखा। सारी खिड़कियां खुली थीं, लेकिन भीतर एक भी आदमी दिखाई नहीं दे रहा था। एक भी दरवाजा न खुला। एक भी आदमी बाहर न निकला। क्या उस ट्रेन में केवल अदृश्य भूत यात्रा कर रहे थे?

स्टेशन-मास्टर ने आगे बढ़कर पहली बोगी का दरवाजा खोला और अन्दर कदम रखे। सन्नाटे-भरे एक ही क्षण में वह समझ गया कि उस शाम, अमृतसर स्टेशन पर, दस-डाउन एक्सप्रेस से एक भी यात्री उतर क्यों नहीं रहा था। नहीं, उस ट्रेन से केवल अदृश्य भूतों ने यात्रा नहीं की थी। उस ट्रेन में केवल लाशें लदकर आई थीं। डिब्बे के फर्श पर मानवीय लाशों के ढेर-के-ढेर गड्डमड्ड पड़े हुए थे। कटे हुए, गले, फटी हुई खोपड़ियां, बाहर निकली जा रही आतें....... कटे-कटाए हाथ-पैर और धड़ डिब्बे के गलियारे में बिखरे पड़े थे। उस भयंकर, वीभत्स सन्नाटे में स्टेशन मास्टर ने, सहसा, किसी के कराहने का हल्का आभास पाया।

यह सोचकर कि शायद कोई जिन्दा बच गया हो, चानीसिंह ने पुकारा, "सुनते हो? यह अमृतसर है। तुम लोग हिन्दुओं और सिखों के बीच आ गए हो। पुलिस मौजूद है। डरो नहीं........"

इन शब्दों को सुनकर कुछ लाशों ने हिलना शुरू किया। जो लोमहर्षक दृश्य अचानक उठ पड़ा, उसकी भुतही छाप स्टेशन-मास्टर के मस्तिष्क पर सदा के लिए अंकित हो गई। एक औरत ने अपनी बगल में बन गए रक्त के चहबच्चे में से पति का कटा हुआ सिर उठाया और उसे बांहों में भरकर, दहाड़े मार-मार कर रोना शुरू कर दिया। चानीसिंह ने कत्ल हो चुकी माताओं की गोद में बिलख रहे बच्चों को देखा। लाशों के ढेर में से कुछ मर्द अपने प्रियजनों के शरीर खींच कर बाहर निकाल रहे थे। जब उन्होंने देखा कि वे प्रियजन भी लाशें बन चुके हैं, तो उनके आघात की सीमा न रही। प्लेटफार्म पर खड़ी भीड़ को जब समझ में आया कि कैसा और क्या घट गया है, तो एक-एक व्यक्ति क्रोध और उन्माद से फट पड़ा।

स्टेशन-मास्टर की बोलती बन्द हो गई थी। उसने पूरी ट्रेन के डिब्बों को चेक किया। सभी में वह दृश्य था। अंतिम डिब्बे तक पहुंचते-पहुंचते चानीसिंह की तबीयत खराब होने लगी। रक्त और लाशों की गंध से उसकी नाक फटी जा रही थी। लड़खड़ाहट को रोकने की चेष्टा के साथ प्लेटफार्म पर थमा रह गया। उसके सनसनाते दिमाग में एक ही सवाल गूंज रहा था, 'ईश्वर ने ऐसा क्यों होने दिया? क्यों होने दिया?'

आखिर वह ट्रेन के पिछले हिस्से की तरफ बढ़ा। उधर, बड़े-बड़े सफेद अक्षरों में, हत्यारों का चुनौती संदेश अंकित था—'यह ट्रेन हम, नेहरू और पटेल के नाम, आजादी की सौगात के बतौर भेज रहे हैं।'

कलकत्ता में; उस रहस्यमय बुढ़ऊ ने प्रार्थनाओं और चरखे की सहायता से, न जाने कैसे, शहर की उस झोंपड़पट्टी पर भी आखिर अपना जादू चला ही दिया था; जहां क्षण-क्षण ऐसे विस्फोट की आशंका थी कि जिसके फलस्वरूप पंजाब के सबसे वीभत्स दंगों को भी बच्चों का खेल साबित करने वाला हृदयहीन खूनखराबा गली-गली में रेंग सकता था। कल शाम, हिन्दू-मुसलमानों का जो सम्मिलित जुलूस हैदरी हाउस तक चला आया था, उसी की खूबसूरती और सहृदयता ने सम्पूर्ण कलकत्ता को एक नया संदेश दिया था।

मुश्किल से साल भर पहले 'डायरेक्ट एक्शन दिवस' मनाते मुसलमानों ने हिन्दुओं की लाशों से सारा शहर पाट दिया था। आज वे ही मुसलमान हिन्दुओं के साथ स्नेहभरे जुलूस में शामिल थे और आजादी का शानदार समारोह साथ-साथ मना रहे थे।

गांधी जी के सचिव प्यारेलाल नैयर ने लिखा है 'दीवानगी और घृणा के जो बादल साल भर से छाए हुए थे; वे अचानक फट गए। मानवीयता विवेक और शुभ-कामनाओं का सूरज चमक उठा......'

हैदरी हाउस में आयोजित प्रथम प्रार्थना सभा में लगभग दस हजार व्यक्ति शामिल हुए थे। आज आजादी दिवस की प्रार्थना-सभा में तीस हजार व्यक्ति उमड़ पड़े। गांधी जी उन सबको सही-सही दिखाई पड़ सकें, इस गरज से, मकान के चौगान में, लक्कड़ का एक चबूतरा-सा जल्दी-जल्दी तैयार किया गया, जिस पर बैठ कर उस बेमिसाल बुढ़ऊ ने कलकत्ता की जनता को बधाई दी, "जो एकता, जो मानवता आप लोगों ने दिखाई है.... मुझे आशा है इससे पंजाब के लोगों को भी प्रेरणा मिलेगी......."

जिस व्यक्ति के मार्गदर्शन में जनता ने आजादी पाई थी, उस व्यक्ति के पास, आजादी दिवस के अवसर पर, जनता के लिए कोई विशेष सन्देश नहीं था। आमने-सामने बैठकर, जो भी उनके मन में आया, गांधी जी ने कह दिया।

जनता के लिए न सही, किन्तु देश के शासकों के नाम अवश्य एक विशेष सन्देश उनके पास था। रायनयिकों की एक टुकड़ी, प्रार्थना-सभा से पहले आकर उनसे मिल चुकी थी। उन राजनयिकों ने उनका आशीर्वाद पाना चाहा था। जो गांधी जी ने कहा, वह आशीर्वाद था या चेतावनी?

"शक्ति पतन की ओर ले जाती है। शक्ति से हमेशा सावधान रहिएगा। शक्ति के साथ जो रौब-रुतबा आता है। उसके शिंकजे में कभी फंसिएगा नहीं। हमेशा याद रखिएगा; आप लोगों को शासन की बागडोर इसलिए सौंपी गई है कि आप उस गरीब आदमी की सेवा करें, जो देहात में बैठा है।"

बेलियाघाट रोड पर, तीस हजार लोगों की उस प्रार्थना-सभा में, गांधी जी के बाद जिस व्यक्ति ने भाषण दिया, वह कलकत्ता के मुसलमानों का एक छत्र नेता माना जाता था। चौबीस घण्टों के उपवास ने शहीद सुहरावर्दी का बदन तेजहीन कर दिया था। हिन्दुओं और मुसलमानों की उस मिली-जुली सभा में, अपने संक्षिप्त भाषण के बाद सुहरावर्दी ने नारा लगाया वह केवल मुसलमानों की रगें फड़काने के लिए नहीं था। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को, उस नारे ने एक जैसा रोमांचित किया।

सुहरावर्दी ने कहा, "अब मैं बोलूंगा, 'जयहिन्द'! मेरे बाद आप लोग भी बोलेंगे, 'जयहिन्द!"

सुहरावर्दी के जवाब में, तीस हजार लोगों के गले से, जब वही शब्द एक-साथ फूटा; तो उसकी गर्जना मानसूनी बादलों की गर्जना से भी बढ़ी-चढ़ी थी।

प्रार्थना-सभा के बाद ये दोनों नेता, गांधी जी की उसी पुरानी शेवरलेट गाड़ी में, शहर के दौरे पर निकले। इस बार कलकत्ता की भीड़ ने महात्मा की कार का स्वागत पत्थरों और बोतलों की बारिश द्वारा नहीं किया। हर जगह जनता ने उन पर गुलाब-जल छिड़का। आंखों में आभार के आंसू भरकर वह शहर कह रहा था, "गांधी जी! आपने हमें बचा लिया।"

पूना; 15 अगस्त, 1947

बम्बई से 119 मील दक्षिण-पूर्व में स्थित पूना शहर के एक खाली मैदान में जो समारोह किया जा रहा था, वह भारत के अन्य हजारों स्थानों में हो रहे समारोहों जैसा ही था—झण्डे का फहराया जाना।

किन्तु उस समारोह में एक बात ऐसी अवश्य थी, जो उसे अन्य अधिकांश समारोह से अलग किए दे रही थी। पांच सौ व्यक्तियों की टोली के बीचों-बीच खड़े खम्बे पर, धीमे-धीमे, जो झण्डा चढ़ाया जा रहा था; वह स्वतंत्र भारत का झण्डा नहीं था। वह एक नारंगी रंग का त्रिकोण था, जिस पर एक चिन्ह अंकित था; जिसने—जरा संशोधित रूप में—दस वर्षों तक सम्पूर्ण यूरोप को आतंकित कर रखा था। स्वस्तिक!

वह प्राचीन रहस्यमय चिन्ह, पूना में फहराए जा रहे उस नारंगी झण्डे पर; ठीक उसी उद्देश्य से अंकित था, जिस उद्देश्य से उसे हिटलर ने अपने झण्डे पर अंकित किया था। वह चिन्ह आर्यों का था। भारत पर, अत्यन्त प्राचीन किसी युग में, आर्यों के आक्रमण की जब पहली लहर आई थी, तब वह चिन्ह उन्हीं के साथ इस देश में आया और स्थापित हो गया।

पूना में, उस वक्त, जो व्यक्ति उस चिन्ह के चारों ओर जमा थे; वे स्वयं को उन्हीं आर्यों के वंशज मानते थे। वे राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ के सदस्य थे—वहीं 'आर.एस.एस.', जिसके अनुयायियों को 48 घंटे पहले, करांची में, जिन्ना और साथ में माउण्टबेटन को भी बम से उड़ा देने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी।

भूखण्ड के दूसरे छोर पर, इस्पाती फ्रेम के चश्मे वाला जो मसीहा बैठा हुआ था; उसके साथ आर.एस.एस. के वे अनुयायी एक खास मुद्दे पर पूर्णतया सहमत थे। देश के विभाजन पर वह मसीहा जितना दुखी था, उतने ही दुखी वे 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक' भी थे। विडम्बना यह कि इसके अलावा, उनके और गांधी के आदर्शों के बीच, अन्य कोई साम्य नहीं था।

वे व्यक्ति जिस दल के साथ प्रतिबद्ध थे, उसने एक रोमांचक सपना संजोकर रखा हुआ था—उस महान् हिन्दू साम्राज्य की पुनर्स्थापना, जो सिन्धु नदी के उद्‌गम से लेकर ब्रह्मदेश तक पहुंचे, और तिब्बत से लेकर केप कोमोरिन तक। गांधी और उनके तमाम कार्यों को वे हेय नजर से देखते थे। उनके अनुसार; भारत का वह राष्ट्रनायक हिन्दुत्व का भयानक दुश्मन

था। राष्ट्रनायक ने अहिंसा के जिन सिद्धान्तों की शक्ति से भारत को आजादी की मंजिल तक पहुंचाया, वे सिद्धान्त कायरों के थे और उनके कारण हिन्दुओं के परम्परागत वीरत्व का नाश हुआ जा रहा था। उन क्रुद्ध व्यक्तियों के सपनों में, हिन्दू-मुसलमान भाईचारे के लिए कोई जगह नहीं थी; जबकि गांधी जी इसी आदर्श के प्रचारक थे। वे व्यक्ति, जो स्वयं को भारत-विजेता आर्यों के पवित्र हिन्दू वंशज कहते थे; भारतीय भूखण्ड को अपनी वंश-परम्परागत सम्पत्ति समझते थे। मुसलमान, उनके अनुसार, उन मुगलों की सन्तान थे, जो इस देश में जबरन आ घुसे।

वैचारिक मतभेदों को एक बार शायद सहन कर भी लिया जाता; लेकिन भारत के उस बुजुर्ग नेता ने, उनकी नजर में, एक ऐसा पाप कर डाला था कि जिसे क्षमा करने का कोई प्रश्न ही न हो। मोहनदास कमरचन्द गांधी के जीवन का वह सबसे बुरा वर्ष था। उस में भी, गांधी को जिस 'अपराध' के लिए जिम्मेदार ठहराया गया; उसे उस बुरे वर्ष की सबसे करुण विडम्बना कहा जाएगा। गांधी वह एक मात्र भारतीय राजनीतिज्ञ थे, जिन्होंने अन्त तक विभाजन का विरोध किया। उन्हीं महात्मा गांधी को उन व्यक्तियों ने विभाजन के लिए पूर्ण जिम्मेदार ठहराया।

अगस्त की उस झुकती दोपहर को पूना में, उन उन्मादियों के सामने जो व्यक्ति तन कर खड़ा था; वह एक पत्रकार था। नाथूराम गोडसे ने अभी हाल अपने सैंतीसवें साल में प्रवेश किया था। इस उम्र में भी, उसके गालों पर चरबी की ऐसी परतें थीं, जो छोटे बच्चों की विशेषता मानी जाती उन परतों ने उसकी आयु छिपा दी थी। चेहरे से वह सचमुच भोला लगता था। उसकी बड़ी-बड़ी आंखों में विशेष तरह की उदासी कांपती रहती। उसकी पुतलियों में सूक्ष्म तिरछापन था। नाथूराम गोडसे जब किसी को घूरता, तो अपनी बात उस से मनवा ही लेता। जब वह शान्ति से खड़ा रहता, तब भी लगता; जैसे वह किसी से घोर असहमति लिए खड़ा है। उस के होठों और नथुनों पर हमेशा तनाव की रेखाएं आभास देती रहतीं-मानो उस ने किसी के घिनौने पसीने की गन्ध पा ली हो, किन्तु संकोच और विवेक के कारण कुछ कह न रहा हो।

और........ उस वक्त तो वह शान्त मुद्रा में खड़ा हुआ था भी नहीं। नाथूराम गोडसे एक दैनिक अखबार 'हिन्दू राष्ट्र' का सम्पादन करता था, जिसके माध्यम से उसने काफी पहले से स्पष्ट कर रखा था कि जैसे आजादी भारत स्वीकार कर रहा है, उस पर उसकी प्रतिक्रिया क्या है। जहां उसका सम्पादकीय रोज छपता था, उस पूरी जगह को आज सफेद छोड़ दिया गया था। उस कोरी जगह को मोटी, काली रेखाओं से घेर भी दिया गया था—गहनतम शोक के संकेत में।

उसने अपने अनुयायियों को बताया कि पूरे भारत में आजादी समारोह को जो इतने आकर्षक ढंग से मनाया जा रहा है, उसका एक खास राज है। खुशियों के इस दिखावे से

जनता को धोखे में रखने की कोशिश की जा रही है। हजारों हिन्दू पुरुष कत्ल कर दिए गए हैं। हजारों हिन्दू स्त्रियों का सतीत्व लूटा जा रहा है। सरकार इस सच्चाई पर पर्दा डाले रखना चाहती है। इसीलिए आजादी के समारोहों पर इतना अधिक खर्च किया जा रहा है।

नाथूराम ने चिल्लाकर कहा, ''भारत के विभाजन के कारण लाखों हिन्दुओं पर वीभत्स मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा है। यह सब कांग्रेस के कारण हुआ है; और ...... कांग्रेस ने जो किया, अपने नेता गांधी के इशारे पर किया।''

भाषण के बाद, नाथूराम गोडसे के आदेशानुसार, उसके 500 अनुयायियों ने अपने झण्डे को प्रणाम किया। अंगूठे हृदय पर दबा कर, हथेलियां धरती की तरफ रखकर, उन हथेलियों और छाती के बीच समकोण बनाकर, उन्होंने शपथ ली कि जिस मातृभूमि ने मुझे जन्म दिया है, जिसकी गोद में मेरी परवरिश हुई है, उस भारत-भूमि की रक्षा के लिए मेरा तन-मन-धन न्यौछावर है.........

उन शब्दों को सुनकर नाथूराम गोडसे का सीना फूल गया। जीवन में उसने विफलताओं के अलावा और देखा ही क्या था? स्कूली परीक्षाओं से लेकर दस-बारह व्यवसायों तक, नाथूराम ने जो कुछ भी किया? हमेशा केवल विफलता हाथ लगी। सहसा वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अतिवादी विचारधारा के सम्पर्क में आया। आर.एस.एस. के सपनों और साहित्य में वह खो गया। उसने न केवल उस अतिवादी आन्दोलन में भाग लिया, बल्कि उसमें अपनी जगह दृढ़ से दृढ़तर भी बना ली। एकाएक उसे वह जिन्दगी मिल गई थी, जिसमें वह स्वयं को सफल और महत्वपूर्ण साबित कर सकता था। उसने एक ऐसी आत्मा का रूप धर लिया, जो भारत को अपवित्र कर रही तमाम शक्तियों का हनन करने निकली हो। नाथूराम गोडसे को जीवन में पहली बार एक ऐसा रोल मिला था, जिसमें वह विफल होने नहीं जा रहा था।

नई दिल्ली; 15 अगस्त, 1947

प्रथम विश्व-युद्ध में, ब्रिटिश साम्राज्य की तरफ से लड़ते हुए नब्बे हजार भारतीयों ने अपनी जान दे दी थी। उनकी स्मृति में अंग्रेजों ने नई दिल्ली में इण्डिया गेट का निर्माण किया। आज शाम पांच बजे इसी इण्डिया गेट के मैदान में शासकीय स्तर पर, नए भारत का राष्ट्र-ध्वज फहराया जाने वाला था।

इस अवसर पर मनुष्यों की जो प्रचण्ड भीड़ एकत्र हुई, वह आगामी अनेक वर्षों तक लोगों को याद रह जाने वाली थी। आम अनपढ़ आदमी ने भी अपनी आजादी में जिस दिव्यता के दर्शन किए, उसका आभास उस प्रचण्डता से मिल गया।

लुई माउण्टबेटन को उनके सलाहकारों ने जो अन्दाजा दिया था, उसके अनुसार समारोह में लगभग तीस हजार लोगों के आने की सम्भावना थी। सारा प्रबन्ध इसी हिसाब से किया गया था। यह अन्दाजा बिल्कुल गलत निकला। गलत भी दो-चार हजार से नहीं, बल्कि

लगभग पांच लाख से! भारत की राजधानी में उतना विकट मानव-समुद्र पहले कभी नहीं देखा गया था।

ध्वज-दण्ड की बगल में, वक्ताओं के लिए, जो छोटा सा मंच तैयार किया गया था, उसे उस विकट-भीड़ ने चारों तरफ से निगल लिया। दूर से देखने पर यही लगता, जैसे कोई जीवन-नौका तूफानी समुद्र में फंस गई है। तीस-एक हजार लोगों को सम्भालने के लिए रस्सों की जो गैलरियां, रास्ते आदि बनाए गए थे; उनका पाँच-छह लाख की उस भीड़ में कहीं अतापता ही न चला। कुर्सियां इस तरह टूटने लगीं, जैसे कोई सूखी टहनी हाथी के पांव-तले आकर टूटे। आड़ और सहारे के लिए जो-जो चीजें रखीं गई थीं, सब रौंद डाली गई। गंगा के किनारे जो धार्मिक मेले लगते हैं; सिर्फ उन्हीं की भीड़ आजादी-समारोह की उस भीड़ का थोड़ा-बहुत मुकाबला कर सकती थी। अनेक देहाती, जो खाने-पीने की चीजें घर से बनाकर लाए थे, भूखे ही रह गए; क्योंकि लोगों के बीच वे इस हद तक भिंचे हुए थे कि पोटली खोलने और उन चीजों को मुंह तक ले जाने के लिए वे अपने हाथों को हिला ही न सके।

गवर्नर-जनरल माउण्टबेटन की सत्रह वर्षीय लड़की पामेला, अपने पिता के स्टाफ के दो व्यक्तियों के साथ, ठीक समय पर आ पहुंची। बड़ी मुश्किलों के बाद वे लोग लकड़ी के मंच की ओर बढ़ सके। जब केवल सौ गज का फासला रह गया, तो उन्होंने देखा कि अब तो एक इंच भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। लोगों की भीड़ इतनी सिमटकर इतनी भिंचकर, इतनी घिचीपिची बैठी हुई थी कि उस पूरे विस्तार में सूई रखने की भी जगह नहीं थी। पांव कहां रखे जाते?

मंच पर खड़े नेहरूजी ने पामेला की उलझन समझ ली। उन्होंने वहीं से चिल्ला कर कहा कि पामेला लोगों के ऊपर से चलती हुई मंच तक पहुंच जाए।

"लेकिन कैसे?" पामेला भी चिल्लाई, "मैं ऊंची एड़ी की जूतियां पहने हुई हूं।"

"उन्हें उतार दो।" नेहरू जी ने उत्तर दिया।

लेकिन पामेला जैसी उच्चकुल की लड़की, उस महान अवसर पर, सरेआम नंगे पांव चलने जैसी असभ्यता दिखाना भला कैसे गवारा कर सकती। 'नहीं।' वह चकराकर बोली, 'मुझ से यह नहीं होगा।'

"तो उन्हें पहने हुए ही चली आओ।" नेहरू जी का उत्तर था, "लोगों पर चढ़ो और बढ़ो। कोई बुरा नहीं मानेगा।"

"लेकिन ...ऊंची एड़ी से उन्हें चोट पहुंचेगी।"

"जो कहता हूं, करो! समझीं?" नेहरूजी ने मीठी झिड़की के साथ कहा, "जूतियां उतारो। लोगों पर चढ़ो! बढ़ो आगे।"

गहरे निश्वास के साथ, भारत के अन्तिम वायसराय की सुपुत्री ने अपनी जूतियां उतारीं हाथ में लीं और जिन्दा मनुष्य से बने उस कालीन पर चलना शुरू किया। पामेला की

जो उलझन थी और उसका जो उपाय निकला, उसे देखकर लोगों को मजे आ गए। पामेला को आगे बढ़ने में उन्होंने हंस-हंस कर सहायता दी। गोरी लड़की के हाथों में उठी, चमकीली जूतियों की ऊंची एड़ियां देख-देख कर वे दंग हुए जा रहे थे।

माउण्टबेटन की शासकीय बग्घी के आगे-आगे चल रहे अंगरक्षकों की चमकीली पगड़ियां दूर से ज्यों ही दिखाई दी; त्यों ही उस भीड़ ने यों आगे आना चाहा, जैसे किसी विराट लहर ने अपना सीना फुलाना शुरू कर दिया हो। धीमी गति से आगे आ रहे अपने माता-पिता को देखने में मगन पामेला अचानक एक अविश्वसनीय दृश्य की साक्षी बन गई। मंच को घेरकर बैठे उस मानवीय सागर में ऐसी अनेक महिलाएं मौजूद थीं, जो अपने नन्हे बच्चों को स्तनपान करा रही थीं। भीड़ ने जब अचानक आगे आना चाहा, तो वे डर गईं कि कहीं उनके शिशु दब न जाएं। उन्होंने शिशु-रक्षा का एक अनोखा उपाय आजमाया। रबर के गुड्डों की तरह उन्होंने अपने शिशुओं को हवा में उछालना शुरू कर दिया। शिशु ज्यों ही नीचे आता, त्यों ही मां उसे पकड़कर फिर से उछाल देती। क्षण-मात्र में सैकड़ों बच्चे, स्प्रिंग की तरह, हवा में उछलने गिरने लगे।

माई गॉड! आश्चर्य से आंखें फैलाकर पामेला ने सोचा, 'यहां तो बच्चों की बारिश होने लगी है।'

बग्घी में बैठे गवर्नर-जनरल लॉर्ड माउण्टबेटन को समझते देर न लगी कि झण्डारोहण का कार्यक्रम जैसा उन्होंने चाहा था, वैसा आगे नहीं बढ़ाया जा सकेगा। धूम-धड़ाके का सारा प्रदर्शन अपने झोले में ही बन्द रख लेना होगा। हालत यह थी कि स्वयं माउण्टबेटन अपनी बग्घी से उतर नहीं सकते थे।

उन्होंने चिल्लाकर नेहरू जी से कहा, 'झण्डा यों ही फहरा दीजिए। बैण्ड भीड़ में फंस गया है। आगे नहीं आ सकता। जहां फंसा है, वहां भी वह बज नहीं सकता। गार्ड्स भी हिलने-डुलने की हालत में नहीं।'

भीड़ के शोर के बावजूद, वे शब्द मंच के लोगों तक पहुंच गए। आजाद भारत के झण्डे ने अपनी केसरिया सफेद और हरी धारियों के साथ ध्वज-दण्ड पर चढ़ना शुरू किया। रानी विक्टोरिया के प्रपौत्र ने अपनी बग्घी में ही चुस्ती से खड़े होकर चढ़ते ध्वज को सलामी दी।

ध्वज ज्यों ही लहराया, त्यों ही पांच लाख से भी ज्यादा लोगों की उस भीड़ ने अद्भुत हर्ष-ध्वनि की। वह क्षण इतना गौरवपूर्ण था कि भारत प्लासी की लड़ाई को भूल गया, सन् 1857 के गदर और अमृतसर के नरसंहार को भूल गया। मार्शल ला ने जनता को कैसे-कैसे अपमानित किया, लाठी-चार्जों में पुलिस ने हमेशा कैसी निर्दयता बरती, आजादी के सेनानियों को कैसे अन्याय के साथ सूली पर चढ़ा दिया गया—उस दिव्य क्षण में भारत को कुछ भी याद न रहा। तीन-तीन शताब्दियों की कठिनाइयों और कटुता को देश ने ताक पर रख दिया ताकि उस एक क्षण की विलक्षणता पूरी-पूरी ग्रहण की जा सके।

लगता था, देवताओं ने भी उस ऐतिहासिक पल को अपने आशीर्वाद से विभूषित करने का फैसला कर लिया है। भारत का राष्ट्रध्वज ज्यों ही फहराया, त्यों ही आकाश में एक सुन्दर इंद्रधनुष खिल उठा। भारतीय जनता, जो कि मानव के प्रत्येक कदम को नियति द्वारा पूर्व-निश्चित मानती है और छींकने से भी पहले सगुन-असगुन का विचार करती है, उस इंद्रधनुष को ईश्वरीय संकेत के ही रूप में देख सकती थी। चमत्कार यह कि राष्ट्रीय झण्डे के केसरिया, सफेद और हरे रंगों के साथ उस इंद्रधनुष के रंग बिल्कुल मेल खा रहे थे। इंद्रधनुष में ज्यों-ज्यों प्रखरता आती गई, त्यों-त्यों मंच को घेर कर बैठे उस जिन्दा समुद्र में हर्ष-ध्वनि की लहरें उठने लगी।

"यह इंद्रधनुष भगवान ने भेजा है।" लोगों ने कहना शुरू किया, "अब देखते हैं, कौन हमारे सामने टिकता है।"

लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन ने अपने जीवन का सर्वाधिक उल्लासमय अनुभव उस वक्त लिया, जब वे बग्घी में बैठकर वापस अपने निवास स्थान की ओर चले- उतने प्रसन्न और प्रेम-दीवाने मनुष्य उन्होंने कभी नहीं देखे थे, जितने कि वे मनुष्य; जिन के हुंकारते समुद्र के बीच उनकी शासकीय बग्घी किसी नाजुक जीवन-नौका की तरह इधर-उधर थपेड़े खा रही थी। लोगों ने नेहरू जी को बाकायदा सशरीर उठा लिया और एक हाथ से दूसरे हाथ उछालते हुए, माउण्टबेटन की बग्घी में ला खड़ा किया।

माउण्टबेटन ने सहसा महसूस किया कि प्रचण्ड भीड़ के कारण उन अनेक कार्यक्रमों को भले ही सम्पन्न नहीं किया जा सकता था, जिन्हें कि खास आज के लिए निश्चित रखा गया था—किन्तु लोगों में अचानक यह जो प्रेम-दीवानगी आ गई है, अचानक ये जो आनन्द में झूमने लगे हैं, हंस-हंस कर लोट-पोट और बेकाबू हुए जा रहे हैं—आज की वास्तविक भावना तो इन्हीं में झलक रही है। रौब-रुतबे के पूर्व-निश्चित कार्यक्रम अगर सम्पन्न नहीं भी हो सकें, तो क्या है।

हिलते हाथों के जंगल के बीच खड़े माउण्टबेटन ने भीड़ पर विहंगम दृष्टि डाली। भीड़ का ओर छोर नजर न आया। जितनी दूर तक उनकी नजर जा सकी भीड़ थी; केवल भीड़!

तीन बार ऐसे अवसर आए, जब लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन ने हाथ बढ़ाकर, भीड़ में पीसी जा रही किसी थकी हुई औरत को, ऊपर अपनी बग्घी में खींच लिया— वरना ये औरतें चकों के नीचे आ जातीं। ये तीनों औरतें पीछे की उन काली, शानदार सीटों पर बैठ गईं, जो कभी इंग्लैण्ड के राजा और रानी के लिए तैयार की गई थीं। अचरज से आंखें फाड़कर वे औरतें चारों तरफ देख रही थीं। झेंप और खुशी के मारे बार-बार उन की हंसी फूट पड़ती। साड़ी खींच-खींच कर वे अपने चेहरे छिपाने की चेष्टा करतीं। उनकी पुलक देखकर भारत के अन्तिम वायसराय और वायसरीन की भी पुलक की सीमा नहीं थी। लॉर्ड और लेडी माउण्टबेटन को जिस बग्घी के दचके लग रहे थे, उसी बग्घी के दचके उस त्रिपुटी को भी धन्य किए दे रहे थे।

उस गौरवपूर्ण दिवस का उल्लास, माउण्टबेटन दम्पत्ति को, एक चीत्कार के रूप में याद रह जाने वाला था—ऐसा चीत्कार; जो बार-बार और लगातार दोहराया जा रहा था; जिसमें एक अजब कंपकंपी और आग्रह था। दुनिया के किसी भी अन्य अंग्रेज ने उस चीत्कार को उतनी हार्दिकता के साथ फूट पड़ते हुए नहीं सुना था। नई दिल्ली की उस झुकती शाम को, 'बादलों की भारी गड़गड़ाहट की तरह, वह चीत्कार उस भीड़ के ऊपर बार-बार लहराने लगता। उस अनोखी मानव-ध्वनि में लॉर्ड माउण्टबेटन की उपलब्धियों का जगमगाता अनुमोदन था। कांपती बग्घी में खड़े रानी विक्टोरिया के प्रपौत्र ने भारतीय जनता का वह दुलार प्राप्त किया, जो कि स्वयं रानी विक्टोरिया को; अथवा रानी के किसी भी अन्य प्रतिनिधि को, कदापि प्राप्त नहीं हुआ था।'' ''माउण्टबेटन की जय!'' वह भीड़ बार-बार चीत्कार कर रही थी, ''माउण्टबेटन की जय!''

अगले दिन, सुबह, नई दिल्ली से आए हुए एक व्यक्ति ने 10-डाउनिंग स्ट्रीट; लन्दन; की कॉल-बेल दबाई। उसका नाम था जार्ज एबेल; लुई माउण्टबेटन का पूर्व सचिव। वह माउण्टबेटन का एक विशेष सन्देश लेकर आया था। अंग्रेज प्रधानमंत्री क्लिमेण्ट एटली को उसने सविस्तार सूचित किया कि इंग्लैण्ड के प्रति हार्दिक मैत्रीभाव के बीच, भारत की राजनयिक सत्ता, भारत के ही योग्य हाथों में सौंप दी गई है। भारत के नेताओं ने इंग्लैण्ड की कूटनीतिक क्षमताओं और साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इस प्रशंसा की प्रति-ध्वनि सारे संसार में उठ रही है।

माउण्टबेटन के विशेष सन्देश में, लेकिन, कोई और ही ध्वनि थी। जार्ज एबेल ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को सावधान किया कि भारत में इंग्लैण्ड की सफलता पर विशेष खुशी न मनाएं; सार्वजनिक रूप से तो इस खुशी को न्यूनतम ही व्यक्त किया जाए; क्योंकि जिस प्रकार और जिन स्थितियों में आजादी दी गई है; उसका अब एक ही परिणाम होगा—विभाजन के कारण भारत और पाकिस्तान में उलझन, बौखलाहट और खून-खराबे के बेहद डरावने दृश्य सामने आएंगे।

डिस्पैच-बाक्स में से प्रेत को प्रकट करने का अवसर अब आ गया था। दोनों मनिला-लिफाफे माउण्टबेटन के हाथ में थे। उन पर उनकी नजर पल भर को रुकी रही। प्रत्येक लिफाफे में इस भूखण्ड के नए नक्शों का एक-एक सेट था। साथ में, दसेक टंकित पृष्ठों में फैले मसौदे की एक-एक प्रति थी। वह विवरण, इंग्लैण्ड की ओर से भारत को दिया जाने वाला, अंतिम दस्तावेज था।

माउण्टबेटन ने नेहरू; और पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत अली खान को; एक-एक लिफाफा देते हुए कहा कि आप दोनों अलग-अलग कमरों में बैठकर इन नक्शों आदि का अध्ययन करिए; फिर लगभग दो घण्टे बाद, एक सम्मिलित बैठक के लिए लौट कर आइए। दोनों नेता, जब लौटे, तो उनके चेहरों पर तीव्र आक्रोश कांप रहा था, उसे देखते ही माउण्टबेटन को विश्वास हो गया कि सिरिल रैडक्लिफ ने अपने धन्यवाद-विहीन कार्य को

पूर्ण निष्पक्षता से सम्पन्न कर दिखाया है। दोनों ही देशों के साथ उसने बिल्कुल एक जैसा अन्याय किया है। इसीलिए दोनों नेता बिल्कुल एक-जैसे उत्तेजित मालूम पड़ रहे हैं। गवर्नर-जनरल के सामने आकर वे अपनी कुर्सियों में बैठे ही थे कि आक्रोश से एकदम फट पड़े। भारतीय भूखण्ड पर आजादी समारोहों का अंत हो चुका था।

विभाजन रेखाएं खींचते समय सिरिल रैडक्लिफ को जिन बातों का ध्यान रखने का परामर्श दिया गया था, उन सभी बातों का ध्यान उसने पूरी ईमानदारी से रखा था। इक्के-दुक्के अपवादों को यदि छोड़ दें, तो—पंजाब और बंगाल, दोनों क्षेत्रों में उसने सर्वाधिक गौर इसी पर किया था कि बहुसंख्य जनता का धर्म क्या है। फलस्वरूप; जो विभाजन रेखा खींची जा सकी; वह ठीक वैसी ही थी, जैसी कि सबने आशंका रखी थी—तकनीकी दृष्टि से सही, किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से सत्यानाशी।

बंगाल की विभाजन-रेखा ने दोनों भागों को एक आर्थिक अभिशाप दिया। विश्व का 85% पटसन जिस क्षेत्र में पैदा होता था, वह पाकिस्तान को मिला; लेकिन वहां ऐसी एक भी मिल नहीं थी, जहां उस पटसन की खपत हो सकती। कलकत्ता के बन्दरगाह से उपर्युक्त 85% पटसन से बनी चीजें विश्व भर में निर्यात होती थीं। उस की सौ से भी ज्यादा मिलें कलकत्ता में थीं। यह महानगर भारत के हिस्से में आया। सौ से ज्यादा मिलें और पटसन बिल्कुल नहीं।

पंजाब की विभाजन-रेखा खींचते समय रैडक्लिफ को सर्वाधिक पीड़ित होना पड़ा था। वह रेखा कश्मीर की सरहद पर स्थित एक घने जंगल के बीच से शुरू हुई जहां से ऊझ नामक नदी की पश्चिमी धारा पंजाब में दाखिल होती है। जहां-जहां सम्भव हुआ, विभाजन रेखा ने राबी और सतलज नदियों का पीछा किया। दो सौ मील दक्षिण में उतरकर उसने भारतीय मरुभूमि के कगार को छुआ। लाहौर पाकिस्तान को मिला और अमृतसर, अपने स्वर्ण मन्दिर के साथ, भारत के हिस्से में आया।

जैसा कि शुरू से स्पष्ट था, विभाजन रेखा ने भारत की सर्वाधिक वीर जाति सिखों को सर्वाधिक प्रभावित किया। बदले की आग में सुलगती और अत्यधिक पीड़ा से दबी वह जाति, पंजाब के विडम्बना पूर्ण नाटक में, प्रमुख भूमिका निभाने पर मजबूर हो गई।

अपवाद-स्वरूप, जहां-जहां भी रैडक्लिफ ने, बहुसंख्यक प्रजा का धर्म ध्यान में न रखा; वहां-वहां उसके द्वारा खींची गई विभाजन-रेखा ने विवाद खड़े किए। पंजाब के उत्तरी छोर पर एक छोटा-सा शहर है गुरदासपुर। वहां, रैडक्लिफ ने रावी नदी की नैसर्गिक-रेखा को ही विभाजन रेखा के रूप में स्वीकार किया था। इस हिसाब से गुरदासपुर और उसके आसपास के कई मुसलमान-गांव भारत में आ गए। यदि ऐसा न किया जाता, तो भारतीय क्षेत्र में पाकिस्तानी क्षेत्र का एक भाला-सा अन्दर घुस जाता। ऐसी स्थिति को रैडक्लिफ ने उचित नहीं माना था।

लेकिन उसका वह निर्णय ऐसा था, जिसके कारण पाकिस्तान के लाखों लोगों ने रैडक्लिफ को कभी माफ नहीं किया; क्योंकि अगर उसने गुरदासपुर पाकिस्तान को दे दिया

होता, तो जिन्ना के राष्ट्र को सिर्फ एक नन्हा-सा, गन्दा शहर न मिल जाता; बल्कि उसके साथ वह सौगात भी अपने-आप मिल जाती, जिसे पृथ्वी का स्वर्ग कहा जाता है और जिसे मुगल सम्राट जहांगीर ने मरते-मरते भी पुकार लेना चाहा थे, "कश्मीर! केवल कश्मीर!"

गुरुदासपुर भारत को मिला। यदि न मिलता, तो कश्मीर में आने-जाने का कोई व्यावहारिक मार्ग भारत को उपलब्ध न होता। ऐसी सूरत में, अभी तक दुविधा में फंसे कश्मीर के हिन्दू महाराजा हरीसिंह जी के पास इसके अलावा और कोई चारा न रहता कि वह अपने राज्य का विलय पाकिस्तान में स्वीकार करें। रैडक्लिफ के मन में पक्षपात की भावना या शैतानी का कोई इरादा न होने के बावजूद, यह केवल नियति का ही एक खेल था कि रैडक्लिफ की विभाजन रेखा ने कश्मीर की कुन्जी गुरदासपुर भारत के हाथों में सौंप दी। उस आधार पर अब, कश्मीर पर दावा कर सकने की आशा, भारत के मन में जग सकती थी।

सिरिल रैडक्लिफ, भारी सुरक्षा-प्रबन्ध के साथ, वापस इंग्लैण्ड जा रहा था। भारत की ओर से दिए गए आई.सी.एस. सहयोगी ने, रैडक्लिफ की जो अन्तिम सेवा की, वह यही थी कि उसने रैडक्लिफ के हवाई जहाज को अधिकतम सूक्ष्मता से जांच लिया—कहीं कोई बम-वम तो छिपा हुआ नहीं है न?

हवाई जहाज उड़ चला। उस अंग्रेज न्यायशास्त्री ने कांच-मढ़ी खिड़की से बाहर झांका। वह गहरे विचारों में डूबने लगा था..... गेहूं और गन्ने के अन्तहीन खेत, जो पंजाब में फैले हुए थे, खिड़की से बाहर तीव्रता से सरकते नजर आ रहे थे। सोना उगलते उन खेतों को, उस धरती के साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी जुड़े हुए परिश्रमी और वीर लोगों को, रैडक्लिफ द्वारा खींची गई केवल एक रेखा ने अलग-अलग काट दिया था।

रैडक्लिफ को भली-भांति मालूम था कि जिन विभाजन-रेखाओं का सृजन उसने किया है, वे अब कितने दुःख-दर्द और खून-खराबे का सृजन करेंगी। रैडक्लिफ उदास था; बहुत उदास...... लेकिन वह स्वयं को दोषी नहीं मान पा रहा था। विभाजन-रेखाओं को यदि उसने किन्हीं और स्थानों से खींचा होता, तो भी परिणाम वही रहता—वही दंगे और खून-खराबा....और, उन सब की जिम्मेदारी, उसी तरह, रैडक्लिफ के ही कन्धों पर!

सिरिल रैडक्लिफ की नियुक्ति के समय नेहरू और जिन्ना दोनों ने वचन दिया था कि उसके फैसले को वे न केवल अंतिम मानेंगे, बल्कि उस पर अधिकतम क्षमता के साथ अमल भी करेंगे। अब उन दोनों ही नेताओं ने विभाजन-रेखाओं के उन अंशों की कटुतम आलोचना शुरू कर दी थी जो उन्हें पसन्द नहीं आए थे—और इसमें उन्होंने अपने 'घटिया मिजाज' का परिचय दिया था।

कुछ दिनों बाद, उसे जिन लॉ-चैम्बर्स से उठाकर भारत भेजा गया था, वापस उन्हीं लॉ-चैम्बर्स में जा बैठे सिरिल रैडक्लिफ को वह मौका मिला, जब वह उन दोनों नेताओं के 'घटिया मिजाज' के प्रति अपनी अरुचि प्रकट कर सकता। वह मौका, अपने ढंग का एक-मात्र और अन्तिम था। रैडक्लिफ उससे चूका नहीं। आधुनिक युग की सबसे जटिल विभाजन

रेखाएं शीघ्र खींच देने के कार्य का उसका पारिश्रमिक दो हजार पौण्ड तय हुआ था, लेकिन उसे स्वीकार करने से रैडक्लिफ ने साफ मना कर दिया।

भारत और पाकिस्तान के उन मैदानों में, जिनका साक्षी अब रैडक्लिफ नहीं बन सकता था, मानवीय इतिहास की सबसे बड़ी देशान्तर यात्रा प्रारम्भ हो चुकी थी। असहाय लोगों की प्राथमिक टुकड़िया पंजाब की पगडण्डियों से, नहरों के किनारों से, खेतों की मेड़ों से, सड़कों और रेलमार्गों से चल पड़ी। रैडक्लिफ की विभाजन रेखाओं का प्रकाशन हो चुका था। कुछ ही घण्टों के भीतर उन देशान्तर यात्रियों पर ऐसी विपत्तियां टूट पड़ने वाली थी, जो पंजाब के उन निवासियों से भी त्राहि-त्राहि बुलवा देने वाली थीं, जिन्हें कि भारत में सर्वाधिक वीर माना जाता है और जिन्हें विपत्तियां सहने की क्षमता तो जन्म से ही मिली रहती है। मनुष्य का जीवन-चक्र जितनी नाटकीयता के साथ पंजाब की धरती पर, सदियों से घूमता रहा है; उतनी नाटकीयता से अन्यत्र कहां? जिन मुसलमान-गांवों ने पाकिस्तान के निर्माण पर मारे खुशी के आसमान सिर पर उठा लिया था, उन्होंने पाया कि वे तो भारत में ही रह गए है। जिन सिखों ने भारत के आजादी-समारोह की खुशियां अभी ठीक से मनाई भी नहीं थीं, उन्हीं को अचानक पता चला कि जो खेत वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी जोतते चले आए हैं, वे ही खेत अब पाकिस्तान के अन्तर्गत हैं, और अब, आनन-फानन में जब सारा घर-बार छोड़कर, खेती-बाड़ी छोड़कर, सरहद पार करके उन्हें भारत चले जाना है—वरना जान का खतरा है।

विभाजन-रेखाएं खींचने जैसा कार्य उतनी हड़बड़ी में किए जाने के विरुद्ध रैडक्लिफ ने जो चेतावनियां दी थीं, वे अब तेजी से डरावनी सच्चाइयों के रूप में उभरने लगीं। कई नहरें ऐसी थीं, जिनका प्रारम्भ एक देश में हुआ, किन्तु सुरक्षा-व्यवस्था के कार्यालय दूसरे देश में रह गए। कई बार, विभाजन रेखा किसी गांव के बीच से ही निकल पड़ी। फलस्वरूप; गांव की दर्जन भर झोपड़ियां एक देश में और दर्जन भर दूसरे देश में दिखाई पड़ी। ऐसा भी दो एक बार हुआ, जब विभाजन-रेखा ने किसी मकान को ही बीच में काट दिया। सदर दरवाजा एक देश में; पिछवाड़े की खिड़कियां दूसरे देश में पंजाब की तमाम जेलें अकेले पाकिस्तान को मिलीं। इसी तरह पंजाब का एकमात्र पागलखाना भी उसी के हिस्से में आया।

पागलखाने में जो हिन्दू और सिख रोगी थे, वे अपने डॉक्टर-संरक्षकों से गिड़गिड़ाकर कहने लगे कि हमें भारत रवाना कर दीजिए; वरना मुसलमान हमारी हत्या करने के लिए कभी भी आ सकते हैं। डॉक्टरों, ने जो उन दीवानों के उपचार एवं सुरक्षा के लिए जिम्मेदार थे, जवाब दिया कि क्या दीवानों की भी हत्या करने कोई आ सकता है? सयाने डॉक्टरों ने दीवाने रोगियों से कहा कि आप लोगों ने बेवजह ऐसे खतरे की कल्पना कर ली है।

जैसा कि बाद की घटनाओं से साबित हुआ; सयाने डॉक्टों की अपेक्षा, दीवाने रोगियों में कहीं ज्यादा दूरदर्शिता थी।

❑❑❑

13

'हमारी जनता पागल हो गई है'

पंजाब; अगस्त-सितम्बर, 1947

प्राचीन काल में जिस तरह प्लेग का आक्रमण होता था, उसी तरह लगभग डेढ़ महीने तक उत्तर भारत के लोगों पर उस उन्माद के आक्रमण-पर-आक्रमण हुए; जिसमें एक दूसरों को तड़पा-तड़पा कर मौत के घाट उतारने के अलावा किसी को कुछ न सूझा। वातावरण युद्ध अथवा गृह-युद्ध का नहीं; बल्कि गुरिल्ला-अभियान का था। पूरा समाज एकाएक थरथरा कर ढहने लगा। एक हत्या के कारण दूसरी हत्या और दूसरी के कारण तीसरी हत्या होती जाती। एक कत्लेआम से दूसरा और दूसरे से तीसरा कत्लेआम होता जाता। पंजाब में प्रलय का ताण्डव नृत्य होने लगा।

सिरिल रैडक्लिफ की विभाजन-रेखा ने पचास लाख हिन्दुओं और सिखों को पाकिस्तानी पंजाब में छोड़ दिया था। भारतीय पंजाब में पचास लाख मुसलमान छूट गए थे। ये तीनों जातियां एक-दूसरों पर टूट पड़ीं। जैसा कि सुप्रसिद्ध है; भारत में जो होता है, बड़े पैमाने पर ही होता है। जातीय दंगों के क्षेत्र में भी भारत ने अपनी इस प्राचीन परम्परा को टूटने न दिया। यूरोप के लोगों ने जब एक-दूसरों की जानें लीं; तो बम, हथगोलों और गैस-चैम्बरों का इस्तेमाल हुआ। जब पंजाब की जनता खुद अपना सर्वनाश करने निकली; तो लाठियों, हॉकी-स्टिकों, बर्फ तोड़ने के सूज़ों, छुरों, मुदगरों, तलवारों, कुल्हाड़ियों, हथौड़ों, ईटों और बघनखों का उपयोग हुआ। जनता ने इस हद तक आपसी घृणा, क्रूरता और राक्षसपने का परिचय दिया कि सभी नेता हक्के-बक्के रह गए। उन्होंने जनता को रोकने के लिए हर संभव अपील की, लेकिन अरण्यरोदन की व्यर्थता से सब परिचित हैं। उस छोटी-सी अवधि में न्यूनतम विवेक और अधिकतम उन्माद के साथ भारत और पाकिस्तान ने शैतान-पूजा की।

कैप्टन एटकिन्स के पैरों के पास से जो दृश्य प्रवाहित हो रहा था, उससे उसकी सांस थमी रह गई। उस दृश्य की चर्चा उसने विभिन्न कहावतों के रूप में अवश्य सुन रखी थी, लेकिन कभी विश्वास नहीं किया था कि वैसा सचमुच हो भी सकता है। लाहौर की नालियां एकदम लाल पड़ गई थीं, क्योंकि उनमें मानव-रक्त प्रवाहित हो रहा था।

अमृतसर के मुसलमान-इलाकों में अब खण्डहरों और लावारिस सड़ती लाशों के अलावा कुछ नहीं था। अग्निकाण्डों की याद दिलाता धुंआं जगह-जगह से उठता रहता और बदबू के भभाके आसमान तक पहुंचते। मानव-मांस का भक्षण करने को उत्सुक गिद्धों, चीलों, कौओं के बीच वहां नोच-खसोट मची रहती।

ऐसे भी अनेक जिले थे, जिन में दंगों का जहर एक-एक गांव तक पहुंचा था और हर बाजार जला दिया गया था। लाहौर-करांची रेलमार्ग पर उकरना नामक एक नगर है, जो अपनी मिलों के कारण जाना जाता है। वहां, मदनलाल पाहवा नामक बीस-वर्षीय एक युवक, अपनी चाची के घर में छिपा हुआ था। वह भारतीय नौसेना में काम कर चुका था; और उस समय, नगर के बहुसंख्यक मुसलमानों की खिलखिलाहटें सुन रहा था। नाचते-कूदते, झण्डे हिलाते, नारे लगाते वे मुसलमान मदनलाल की चाची के घर की ओर ही बढ़े जा रहे थे। "हंस कर लिया पाकिस्तान; लड़ कर लेंगे हिन्दुस्तान!" उन नारों ने मदनलाल को भय से कंपा दिया। मुसलमानों से मदनलाल को तीव्र घृणा थी। काली लकीर वाला खाकी गणवेश पहन कर, आर.एस.एस. के एक सदस्य की हैसियत से, मदनलाल पाहवा ने मुसलमानों को आतंकित करने का कोई अवसर छोड़ा नहीं था। अब...... आतंकित करने की मुसलमानों की बारी थी। 'हम उन डरी हुई भेड़ों की तरह हैं, जो गला उतरने के इन्तजार में खड़ी हों।' मदनलाल ने सोचा।

भारत और पाकिस्तान की सेनाओं में जो अंग्रेज अधिकारी अब भी अपनी नौकरियों पर लगे हुए थे, उन्होंने अत्यंत कटुता के साथ बार-बार स्वीकार किया कि इन जातीय-दंगों में हम जो देख रहे हैं, ऐसा तो हमने द्वितीय विश्व-युद्ध के मैदानों में भी नहीं देखा था।

'न्यूयार्क टाइम्स' के एक संवाददाता राबर्ट ट्रम्बुल ने लिखा, वीभत्सतम दृश्यों ने भी मुझे उतना आघात नहीं पहुंचाया है, जितना भारत के इन दृश्यों ने। भारत में इन दिनों जितनी बारिश नहीं होती, उतना खून गिर रहा है। सैकड़ों की दर से लाशें तो नजर आती ही हैं; उन हजारों हिन्दुस्तानियों को किस ने गिना है, जो आंख या नाक के बिना, हाथ-पैरों या यौन-अंगों के बिना, अभिशप्त भूतों की तरह भटक रहे हैं? गोली से मरने का मौका तो शायद ही किसी भाग्यवान को मिलता है। आम तौर पर—मर्दों, औरतों और बच्चों को भी मुदगरों या पत्थरों इत्यादि से इतना पीटा जाता है कि उनकी मौत सुनिश्चित हो जाए; लेकिन उन्हें पूरी तरह मारे बिना छोड़ दिया जाता है। भीषण गर्मी और झूमती मक्खियों के कारण वे कितनी बुरी मौत, कितने धीमे-धीमे, मरते होंगे; इसकी क्या कल्पना भी की जा सकती है?

राक्षसीपने में कोई जाति किसी से कम नहीं थी। पंजाब बाउण्ड्री फोर्स के एक अधिकारी ने सिखों के आक्रमण के बाद जब एक गांव में प्रवेश किया, तो पाया कि चार मुसलमान शिशु खुली अंगीठियों पर उसी तरह भूने गए थे, जिस तरह से सूअर के बच्चे भूने जाते। एक और अधिकारी ने ऐसी हिन्दू स्त्रियों को देखा, जिन्हें जूथ बना कर कत्ल करने के लिए ले जाया जा रहा था और जिन के स्तनों को मुसलमान उन्मादियों ने काट डाला था।

फंसे हुए हिन्दुओं को, कभी-कभी, जीवनदान भी दे दिया जाता; बशर्ते वे इस्लाम स्वीकार कर लेते। 'हां' कहते ही उन हिन्दुओं को तुरन्त गोमांस खिलाया जाता। उस समय, यदि किसी हिन्दू को उल्टी हो जाती, तो उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ता।

पाकिस्तान में हिन्दुओं और सिखों पर जो आक्रमण हुए, उनके पीछे धार्मिक घृणा से ज्यादा आर्थिक असन्तोष ने भी काम किया। औसत मुसलमान की तुलना में औसत हिन्दू, आर्थिक रूप से, हमेशा सम्पन्न दिखाई पड़ता था। फलस्वरूप; मुसलमानों के दिल में यह भावना घरकर गई थी कि हिन्दू शोषक हैं, मक्कार हैं। इस्लाम में ऊंची ब्याज-दरों पर पैसे का लेनदेन करने की मनाही है। इसीलिए, हर मुसलमान सूद-खोरी से सख्त घृणा करता है। दूसरी ओर, सूद पर धन चलाने की कोई धार्मिक मनाही न होने के कारण, हिन्दुओं ने यह व्यवसाय निःसंकोच अपना रखा था। सिखों ने भी।

प्रेमसिंह नामक एक सिख, सियालकोट के निकटवर्ती एक गांव में रहता था और उसका व्यवसाय वही था, जिस से हर मुसलमान सख्त घृणा करता है। प्रेमसिंह इतना अमीर था कि हीरे-मोती जैसी चीजें भी गिरवी लेकर, बड़ी-बड़ी रकमें ब्याज पर दे सकता था—और देता था। गांव का शायद ही कोई मुसलमान ऐसा रहा हो, जिसने आड़े वक्त में प्रेमसिंह के पास आकर रुपया न उठाया हो। प्रेमसिंह का मकान दो-मंजिला था, जिसका लोहे का दरवाजा खासा मजबूत था। लोहे की एक और मजबूत चीज थी—उसके पास वह तिजोरी, जिसमें उसने न जाने क्या-क्या कीमती माल बन्द कर रखा था।

आजादी मिलते ही, एक सुबह, प्रेमसिंह ने देखा कि मुसलमानों की जबर्दस्त भीड़ उसी के घर की ओर बढ़ी आ रही है। छुरे, चाकू और तलवारें चमक रही हैं...... उस भीड़ के एक-एक मर्द को प्रेमसिंह पहचानता था। वे नारे लगा रहे थे, "लाओ तिजौरी। दो तिजौरी।"

शायद उन्हें आभास नहीं था कि प्रेमसिंह की तिजोरी में मुसलमानों की कीमती चीजों के अलावा, एक खास चीज और भी है—डबल बैरल की शॉट-गन; पच्चीस कारतूसों के साथ। प्रेम ने तिजोरी खोली, बन्दूक उठाई और पहली मंजिल पर चढ़कर, खिड़की पर पोजीशन ले ली। भीड़ उसका लोहे का गेट तोड़ने पर आमादा थी। कभी इस खिड़की से, कभी उस खिड़की से, फायर-पर-फायर कर के प्रेमसिंह ने मुसलमानों को दूर हटाना शुरू किया।

प्रेम की बीवी को समझते देर न लगी कि ज्यों ही कारतूस खत्म होंगे; मुसलमान दूने जोश के साथ आ टूटेंगे। उसने अपनी छहों लड़कियों को बुलाया और उनकी आंखों के सामने अपने कपड़ों पर मिट्टी-तेल छिड़कते हुए कहा, "मुसलमान इज्जत लूटें, इससे बेहतर है कि हम अपनी जान दे दें। मैं जिन्दा जल रही हूं। गुरू नानक का नाम लेते हुए तुम लोग भी इसी तरह अपनी जान दे दो।"

और उसने सचमुच अपने कपड़ों में आ लगा दी।

पहली मंजिल पर डटे प्रेमसिंह को कोई गुमान नहीं था कि उसके पांवों के नीचे, केवल एक फर्श की मोटाई की ओट में, कैसा मानवीय नाटक खेला जा रहा है। बन्दूक के जोर पर अपने घर और परिवार की रक्षा करते हुए उसे घण्टा भर हो चला था। अचानक जब सीढ़ियों की तरफ से अजीब-सी गन्ध आई, तो उसे आश्चर्य हुआ। आखिर जब उसके पास केवल पांच कारतूस रह गए, तो मुसलमानों की भीड़ लौट गई। अब प्रेमसिंह जल्दी-जल्दी नीचे उतरा। उस साहूकार ने स्तब्ध होते हुए देखा कि उसकी तिजोरी खुली पड़ी है, जिसके सामने बिखरी हैं चार जली हुई लाशें। उसकी बीवी के अलावा, तीन बेटियों ने भी, मुसलमानों के हाथ बेइज्जत होने की अपेक्षा जिन्दा जल जाना कहीं बेहतर समझा था।

आत्मदाह की वह मिसाल पंजाब में एकमात्र नहीं थी। जगह-जगह अपनी इज्जत बचाने के लिए मुसलमान, हिन्दू और सिख स्त्रियों ने, बच्चों-समेत, आत्मदाह किया था; अथवा स्वयं की जान लेने का कोई और उपाय आजमाया था।

मानव-सभ्यता के उद्गम काल का वह नियम हर तरफ लागू हो गया था; जिस में आंख के बदले आंख, नाक के बदले नाक, बलात्कार के बदले बलात्कार और हत्या के बदले हत्या को ही न्याय की एकमात्र कसौटी माना जाता था।

चौदह वर्ष का लड़का मोहम्मद याकूब अमृतसर के पास एक गांव में रहता था। जब सिखों ने हमला बोला, तो उस के छहों भाई-बहन और मां-बाप घर में थे। याकूब किसी तरह भाग कर, गांव से बाहर, गन्नों के खेत में छिप गया। जैसा कि उसने बाद में बताया, सिखों ने कुछ स्त्रियों के स्तन काट डाले। डरी हुई स्त्रियों में भगदड़ मच गई। कुछ गांव वालों ने सिखों के हाथ बेइज्जत होने से बचाने के लिए अपनी बहू-बेटियों को खुद मार डाला। 'सिखों ने मेरे दो छोटे भाइयों को चीरकर टुकड़े करना शुरू किया। मेरे अब्बा से यह न देखा गया। वह दीवाने होकर दौड़ पड़े। तलवार चमचमाते हुए वह इधर-उधर भागने लगे। खुले मैदानों में सिख उन्हें किसी तरह न पकड़ सके। आखिर उन्होंने गांव के कुत्तों को उनकी तरफ भगाया। जब कुत्तों ने उनके पैरों पर काटना शुरू किया, तो अब्बा के लिए भागना मुश्किल हो गया। अब सिखों ने उन्हें दबोच लिया। कुछ ने उन्हें पकड़ कर रखा, दूसरों ने तलवार के वार किए। अब्बा टुकड़े-टुकड़े होकर गिर गए। उनके हाथ-पैरों और सिर को सिखों ने अलग-अलग फेंक दिया। फिर, कुत्तों को लाश के टुकड़े खाने की इजाजत दे दी......'

मोहम्मद याकूब के गांव में पाचं सौ मुसलमान रहते थे। उस कत्ले-आम में केवल पचास जिन्दा रह सके; वह भी इसलिए कि ऐन मौके पर पंजाब बाउण्ड्री फोर्स का गश्ती दल आ पहुंचा।

कलकत्ता; 17 अगस्त, 1947

आज उनकी संख्या एक लाख तक पहुंच रही थी। नारिकेलडोंगा के चौक पर वे पांच बजे से ही उनका इन्तजार करते बैठे थे। चौक में इतनी जगह नहीं थी कि उतने लोग समा सकें। फिर भी, न जाने, कैसे वे समा गए थे।

पंजाब के मैदानों में जहां हिन्दू-मुसलमान एक दूसरों को जान से मार-मार कर आनन्दित हो रहे थे; वहीं, उन मैदानों से 1800 मील के फासले पर, विश्व के सबसे शैतान शहरों में से एक कलकत्ता में, हिन्दू-मुसलमानों की वह भीड़ इसलिए आनन्दित थी कि एक-दूसरे का धर्म भूलकर लोग गले मिल रहे थे, मिठाइयां बांट रहे थे, इत्र छिड़क रहे थे—और प्रतीक्षा कर रहे थे, उस नन्हे-से आदमी की, जिस की आध्यात्मिक उपस्थिति ने एकाएक उस शहर में मानवता के दीपक जला दिए थे।

प्रार्थना-सभा में, आखिर, जब गांधी का छरहरा बदन प्रकट हुआ, तो लगभग एक लाख लोगों की उस भीड़ में बिजली सी दौड़ गई। गांधी जी के आगे-आगे उनके अनुयायी चल रहे थे—समवेत स्वर में प्रार्थना करते। मंच पर से महात्मा ने उस भीड़ पर नजर दौड़ाई। कितने सारे लोग! कितने खुश, कितने आश्वस्त!

सहसा; महात्मा के हृदय में एक आशंका कांप उठी। क्या सचमुच इतने सारे लोग आए हैं? क्या सचमुच इन सबका हृदय परिवर्तित हो चुका है? क्या इस दृश्य में कहीं कोई छलावा नहीं?

और महात्मा ने कहा, "मानव के प्रति मानव के प्रेम का जो चमत्कार यहां, कलकत्ता में, सम्भव हो सका है; उसके लिए सब मुझे बधाइयां दे रहे हैं। बधाई तो उस ईश्वर को दी जानी चाहिए, जिसने हम पर इतनी कृपा की। हमें भूलना नहीं है कि आज भी, कलकत्ता में, कुछ जगह ऐसी जरूर हैं, जहां 'सब सलातम' वाली स्थिति पैदा नहीं हो सकी है।"

गांधी जी ने अपने अनुयायियों से; चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान; भावभीनी अपील करते हुए कहा कि आइए; हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें कि कलकत्ता का यह चमत्कार केवल चार दिनों की चांदनी बनकर न रह जाए; बल्कि जो आनन्द आज है, वह दिन दूना रात चौगुना होकर यहां हमेशा-हमेशा के लिए बस जाए।

संसार के सबसे कमीने शहरों में से एक में, केवल एक अकेले आदमी ने जो चमत्कार कर दिखाया था; उसका शतांश भी उन सैनिकों के लिए पंजाब में सम्भव नहीं हुआ था, जो संख्या में पचपन हजार थे और जिनका धन्धा ही था प्रशासनिक चमत्कार कर दिखाना।

जिन घटनाओं को रोकने के लिए पंजाब बाउण्ड्री फोर्स की रचना हुई थी, वे रुकी तो नहीं ही थीं, ऊपर से उन्होंने उस सेना को स्तब्ध भी कर दिया था।

—और इसमें कोई अजूबा भी नहीं था। पंजाब के बारह जिले धू-धू कर जल उठे थे। उनमें से कुछ जिले तो इतने बड़े थे कि उन में पूरा पेलेस्तीन समा सकता था। उसी वर्ष जब पेलेस्तीन में शान्ति स्थापना का काम आ पड़ा था, तो एक लाख अंग्रेज सैनिक मैदान में उतर आए थे। इसके बावजूद; उन लाख सैनिकों को भी वहां पूरी सफलता कहां मिली थी? फिर भला यह आशा कैसे रखी जा सकती थी कि पेलेस्तीन से कई गुना बड़े पंजाब को पचपन हजार सैनिक काबू में कर लेंगे? पंजाब के धूलभरे रास्तों के लिए वे ट्रक और टैंक बेकार ही थे, जिन्हें लेकर उन सैनिकों को सामने आना पड़ा था। घुड़सवार सैनिक सर्वाधिक सफल रहते, किन्तु सेना में घुड़सवारों की उतनी इकाइयां शेष रही ही नहीं थी कि उन्हें पंजाब में दौड़ाया जा सकता।

प्रशासनिक व्यवस्थाओं का भी राज्य में ऐसा बण्टाधार हुआ कि सेना की मुश्किलें और बढ़ चलीं। तार, टेलीफोन और डाक विभागों ने अचानक काम करना बन्द कर दिया। सही मकान के अभाव में, भारतीयों को अपने आधे पंजाब का शासन एक ऐसे घर से संचालित करना पड़ रहा था, जिसमें तार की लाइन और बेतार के उपकरणों को बाथ-रूम में फिट करने की मजबूरी थी।

पाकिस्तान की दशा और बुरी थी। सैकड़ों रेल-वैगन, जो कीमती माल लेकर नए राष्ट्र में आने वाले थे, या तो रास्ते में ही गायब हो गए, या गलत मंजिलों पर पहुंचा दिए गए। करांची में मेज-कुर्सियां नहीं पहुंच पाई थीं। सरकारी कर्मचारी अपने कार्यालयों के सामने पलांठ लगाकर बैठ जाते। टाइप राइटरों पर धीरे-धीरे उंगलियां चला कर उन्होंने विश्व के सबसे बड़े मुसलमान राष्ट्र के प्रथम प्रशासकीय कागजात तैयार किए। भीतर उनके उच्च अधिकारी डिब्बों और सन्दूकों पर बैठकर अपने नए राष्ट्र का संचालन कर रहे थे।

अर्थ-व्यवस्था भंवर में थी। पाकिस्तान के गोदामों में कपास, जूट और मांस समा नहीं रहा था; लेकिन उसके पास एक भी पुतलीघर, मिल या फैक्ट्री नहीं थी। उप-महाद्वीप का चौथाई तम्बाकू पाकिस्तान में ही पैदा होता था; लेकिन देश भर में एक भी माचिस-फैक्ट्री नहीं कि जिस की तीलियों से धूम्रपान के शौकीन पाकिस्तानी अपने सिगरेट सुलगा सकते। बैंक-व्यवस्था को भी लकवा मार गया था क्योंकि बैंकों के हिन्दू मैनेजर और लिपिक भारत खिसक गए थे।

पूर्व 'भारतीय सेना' के माल के बंटवारे में भारत की वादा-खिलाफी को पाकिस्तान ने इस हद तक झेला कि उसे यही लगने लगा—भारत जान-बूझकर ऐसे हालात पैदा कर रहा है, जिससे पाकिस्तान यदि न डूब रहा हो, तो भी डूब जाए। विभाजन-समझौते के अनुसार; पाकिस्तान को एक लाख सत्तर हजार टन सैन्य असबाब मिलना चाहिए था, जबकि मिला

केवल छह हजार टन। अस्त्र-शस्त्र से लदी हुइ तीन सौ ट्रेनें पाकिस्तान पहुंचनी चाहिए थीं। केवल तीन पहुंची। पाकिस्तानी अधिकारियों के एक दल ने जब ट्रेनों को खोला, तो भीतर से प्राप्त हुए 5000 जोड़ी जूते, 5000 ऐसी रायफलें कि जिनकी मरम्मत भी न हो सकती हो, नर्सों की ढेर सारी पोशाकें और लकड़ी के ऐसे बक्से, जिनमें केवल ईंटें या कीटाणुनाशक दवाएं भरी हुई हों।

लेकिन...... पाकिस्तान को सबसे बड़ा खतरा भारत की वादा-खिलाफी का नहीं था। दरअसल; वह सबसे बड़ा खतरा जितना पाकिस्तान को था, उतना ही उसके पड़ोसी राष्ट्र स्वयं भारत को भी था। दोनों राष्ट्र शीघ्र ही, मानव-इतिहास की सबसे बड़ी देशान्तर-यात्राओं के बोझ-तले दब जाने वाले थे। असबाव के नाम पर जो कुछ भी साथ लिया जा सकता हो, लेकर लोगों ने पलायन शुरू कर दिया था। कार, साइकिल, ट्रेन, गधे, खच्चर, बैलगाड़ी, ट्रक बस—जिसे जो वाहन मिला, वह उसी से चल पड़ा। जिसे कोई वाहन न मिला, वह पैदल रवाना हो गया। सुरक्षा का रंचमात्र भी आभास जिधर मिलता, वे उधर चल पड़ते।

शरणार्थियों का यह आवागमन, आबादियों का यह लेन-देन, मानवता की यह उथल-पुथल इतने बड़े पैमाने पर और तीव्रता के साथ होने वाली थी कि सितम्बर के अन्तिम दिनों में; जब देशान्तर-यात्राएं अपने चरम पर पहुंचने लगी थीं; तब पचास लाख लोग पंजाब की सड़कों पर और खेतों में इस प्रकार बिखर जाने वाले थे कि सब-कुछ ठहर जाए, रुक जाए, फंसा रह जाए। उन अजब देशान्तर-यात्राओं में एक करोड़ पांच लाख व्यक्ति बेघर हो कर उजड़ जाने वाले थे—उन में से अधिकांश तो केवल तीन महीने की छोटी-सी अवधि में। इतने लोग यदि हाथ-से-हाथ मिलाकर कतार में, खड़े हो जाएं; तो यह कतार कलकत्ता से न्यूयार्क तक जा पहुंचे। मध्य-पूर्व में इजराइल के निर्माण के साथ जितने शरणार्थियों ने देशान्तर किया था, उससे दस गुने शरणार्थी भारत के विभाजन के साथ सड़कों पर आ जाने वाले थे। द्वितीय विश्व-युद्ध में पूर्वी यूरोप में जितने व्यक्ति, पलायन की चेष्टा करते, लापता हो गए; उससे लगभग चार गुना व्यक्ति भारत-विभाजन में लापता हुए।

मदनलाल पाहवा ने; जिसने सोचा था कि हम उन डरी हुई भेड़ों की तरह हैं, जो गला उतरने की प्रतीक्षा में खड़ी हों; अपने एक दूर के भाई की बस लेकर देशान्तर-यात्रा शुरू की। फर्नीचर, कपड़े, नकद रुपए, सोना, शिव भगवान की तस्वीरें—जो कुछ भी बस में ले जाया जा सकता था, मदनलाल ने रख लिया। बस में केवल वह जगह खाली छूट गई, जहां मदनलाल के पूज्य पिता को आकर बैठना चाहिए था।

उस धर्मात्मा ने केवल इस आधार पर अपने पुत्र के साथ जाने से मना कर दिया कि 20 अगस्त, 1947 का दिन; ज्योतिषी के अनुसार, देशान्तर-यात्रा पर निकलने के लिए सर्वथा अयोग्य था। एक मुसलमान दोस्त ने आकर उसे सावधान किया कि आज ही हिन्दुओं पर आक्रमण करने की योजना बन रही है। नगर में आगजनी और कत्ल की वारदातें हो भी

चुकी थीं। इसके बावजूद उस व्यक्ति ने अपने घर से निकलने से मना कर दिया। वह 23 अगस्त के दिन, सुबह साढ़े नौ बजे रवाना हुआ, क्योंकि ज्योतिषी के अनुसार, वही दिन और समय अच्छे सगुन का था।

विभाजन के जहर ने, बिना किसी पक्षपात के, सबको एक जैसा प्रभावित किया। कसौली के टी.बी.सैनेटोरियम के मुसलमान रोगियों को, उनके हिन्दू डॉक्टरों द्वारा, एकाएक आदेश दिया गया कि पलंग छोड़ दीजिए। कइयों के पास एक ही फेफड़ा था, कइयों का अभी-अभी ऑपरेशन हुआ था; लेकिन उन सबको सैनेटोरियम का गेट ताबड़तोड़ पार करके, पाकिस्तान की दिशा में पैदल रवाना हो जाना पड़ा।

पाकिस्तान के बाबा लाल आश्रम में केवल पच्चीस साधु रहते थे। प्रार्थना और योग-ध्यान पर ही उन्होंने जीवन न्यौछावर किया था। उन्हें अपने भगवे वस्त्र पहन कर, आश्रम के पवित्र सफेद घोड़े को आगे-आगे रखकर, मन्त्रोच्चार के साथ, भारत की दिशा में पैदल रवाना हो जाना पड़ा; ताकि उनके पीछे मुसलमानों की टोली उस निरापद आश्रम को आग लगा सके।

गुप्त जेबों में, अंगिया में, लंगोट में, लोग नकद रुपये और सोना-चांदी ले-लेकर निकल रहे थे; ताकि अगर रास्ते में हत्यारे आ जाएं तो उन्हें धन का लालच देकर जीवन-दान के लिए गिड़गिड़ाया जा सके। अक्सर होता यही कि हत्यारे धन ले लेते और फिर उनकी जान भी ले लेते।

मियांवाला के एक धनवान हिन्दू किसान बलदेव राज को मालूम था कि रुपये-पैसे साथ ले जाने का कोई अर्थ नहीं। उसने अपने पांचों भाइयों को बुलाया और तिजोरी खोलकर कहा,—"मैं नहीं चाहता कि यह सारी दौलत किसी आलसी मुसलमान के हाथों में पड़े। हम इसे अपने साथ भी नहीं ले जा सकते। रास्ते में डाके जरूर पड़ेंगे। हम इसकी रक्षा नहीं कर पाएंगे। बेहतर यही है कि हम इसे नष्ट कर दें।" सारे नोट वे लोग छत पर ले गए। उनकी आंखों से आंसुओं की धाराएं बह रही थीं, लेकिन सारे नोटों की उन्होंने होली जला ही दी। छहों भाइयों की जीवन भर की बचत धुंआं बनकर आसमान में चली गई।

कुछ लोगों ने इस फैसले के साथ देशान्तर किया कि कभी-न-कभी वे वापस जरूर आएंगे। खास-खास कीमती चीजों को उन्होंने छिपाकर धर दिया, ताकि वापस आने पर चुपके से निकाल सकें।

पाकिस्तान के अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्तियों में से एक, सर फिरोज खान नून की बीवी अंग्रेज थी। उसका नाम था विकी नून। उन दिनों वह कुलू में छुट्टियां मना रही थी। कुलू शिमला के पड़ोस में एक पहाड़ी स्थान है, जिसका हिन्दू क्षेत्र भारत में आ गया था। विकी नून के दरवाजे पर उस दिन एक अजनबी आया और बता कर चला गया, "आज रात वे आप पर आक्रमण करेंगे।"

सर फिरोज खान नून लाहौर में थे; मगर उनका रिवाल्वर और दो शॉट गनें कुलू में ही, विकी के पास रखी थीं। उस सुन्दरी ने अपने दो विश्वसनीय मुसलमान नौकरों को एक शॉट-गन से लैस किया और रिवाल्वर अपने पास रख लिया; हालांकि जीवन में कभी उसने एक बार भी गोली नहीं चलाई थी। अन्धेरा घिरने पर—

विकी ने देखा कि घाटी में जगह-जगह आग की लपटें उठने लगी हैं, जो क्रमशः उसी के घर की ओर बढ़ रही थीं। आसपास जो मुसलमानों की बस्ती थी, उसमें आग लगाते हिन्दू उन्मादी बढ़े आ रहे थे—विकी समझ गई।

एकाएक, ग्यारह बजे, तेज बारिश हुई; जिसने घाटी में उठती उन लपटों को बुझा दिया, विकी, कम-से-कम उस रात के लिए तो, बच ही गई थी। सुबह उसने मण्डी के हिन्दू महाराजा के महल में शरण ले ली; किन्तु वह आसरा भी अस्थायी साबित होने वाला था। उस खूबसूरत अंग्रेज बाला की साहस-यात्रा की वह तो शुरुआत ही थी.....।

भय व कुण्ठा, घृणा और बद-दुआओं के साथ शरणार्थी इस देश से उस देश में जाने के लिए निकल पड़े शुरू में वे सैकड़ों में निकले, फिर हजारों में। उन लाखों अभागे लोगों ने पंजाब की रेलों और सड़कों को अपने भार-तले कुचल दिया। उन के कारण दोनों नए राष्ट्रों को, जो अभी अपनी लड़खड़ाहट से उबर नहीं पाए थे; भारी आवास समस्याओं का तो मुकाबला करना ही पड़ा; साथ-साथ, उन भयानक महामारियों से भी लड़ना पड़ा, जो शरणार्थियों के कन्धों पर लदकर चली आ रही थीं।

शरणार्थी जहां-जहां भी गए; महामारियों के अलावा एक और कीड़े को भी साथ लेते गए—सब को उन्होंने अपने करुण, वीभत्स अनुभवों की सच्ची कहानियां सुनाई। इससे हिंसा और प्रतिहिंसा के नए-नए विस्फोट होने लगे, जिन के फलस्वरूप और अधिक शरणार्थी सड़कों पर आने और दूर-दूर तक जा कर सबको अपने करुण, वीभत्स अनुभवों की सच्ची कहानियां सुनाने लगे।

उस अजब देशान्तर-यात्रा के फलस्वरूप, लाहौर में मुश्किल से एक हजार हिन्दू और सिख बचे रहने वाले थे; जबकि, अभी थोड़े ही मास पहले, उनकी संख्या वहां छह लाख से कम नहीं थी। ऐसे अनेक शहर, नगर और गांव थे, जहां अब एक भी हिन्दू नहीं था—या, एक भी मुसलमान नहीं।

कलकत्ता; अगस्त, 1947

और अब.... इस बार उनकी संख्या पांच लाख से कम नहीं थी। कलकत्ता का चमत्कार केवल चार दिनों की चांदनी साबित नहीं हुआ था। वह दिन ईद का था; किन्तु उस महात्मा की प्रतीक्षा कर रही उस भीड़ में केवल मुसलमान नहीं थे। हिन्दू, मुसलमान, सिख,

ईसाई, पारसी—सबके उत्सुक और आभारी चेहरे उस मंच की ओर उठे हुए थे जिस पर अपनी प्रार्थना-सभा के लिए महात्मा का आगमन, बस होने ही वाला था।

महात्मा के टूटे-फूटे निवास स्थान हैदरी हाउस में आज सुबह से ही हजारों लोगों के जत्थे-के-जत्थे चले आ रहे थे, जो केवल मानव-धर्म में विश्वास रखकर महात्मा के चरणों पर मिठाइयों और फूलों के उपहार न्यौछावर कर रहे थे; जो उनके आशीर्वाद पाकर निहाल हो जाना चाहते थे।

वह दिन ईद का था; और वह सोमवार भी था; जब महात्मा गांधी मौन-व्रत का पालन करते थे। आज सुबह से ही वह चुपचाप चिटें लिख-लिखकर दिए जा रहे थे। आशीर्वादों और आदेशों की चिटें! हजारों मुसलमान और हिन्दू शहर की सड़कों पर सम्मिलित जुलूस निकालकर मुदित हो रहे थे। दोस्ती और एकता के नारों के बीच मिठाइयां खिलाई जा रही थी। गुलाब-जल और इत्र का छिड़काव चल रहा था। कुछ नहीं, तो लोग एक-दूसरों से सिगरेटें ले-ले कर ही पी रहे थे।

आखिर जब गांधी जी प्रार्थना-सभा के मंच पर आए; तो उन पांच लाख लोगों ने हर्ष-ध्वनि से आकाश गुंजा दिया। जनता का उतना प्यार और भाईचारा देखकर गांधी जी के भी हर्ष की सीमा न रही। ठीक सात बजे वह उठे। हाथ जोड़ कर उन्होंने भीड़ का अभिवादन किया फिर उस दिन मौन-व्रत होते हुए भी, उस बुजुर्ग हिन्दू नेता ने भारतीय मुसलमानों की अपनी भाषा उर्दू में, जोर से चिल्लाकर कहा,

"ईद-मुबारक!"

पंजाब के शरणार्थियों ने, परिवहन के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में, रेलगाड़ियों को ही पसन्द किया था। देशान्तर-यात्रा पर निकलते ही सब से पहले वे निकटवर्ती रेलवे स्टेशन की ओर भागते। हजारों लोग, रोज ट्रेनों के माध्यम से अपने नए देश तक पहुंच रहे थे—या फिर, मौत के घाट तक। गाड़ी के आते ही भीड़ इस प्रकार उबल पड़ती कि अकसर कोई-न-कोई अभागा, प्लेटफार्म से गिरकर, चकों के नीचे आ जाता। सन् 47 की उन गर्मियों में, दूर से, ट्रेन का नजर आना ही, पंजाब के लोगों को एक अजब दीवानगी से ओतप्रोत कर देता। डिब्बों में सामान-समेत, या बिना सामान के ही, इतने ज्यादा लोग चढ़ जाते कि ऐसा लगता; उन के वजन के मारे गाड़ी खिसक पाएगी या नहीं; अथवा...... कहीं ऐसा न हो कि डिब्बे की दीवारें कड़कड़ करती टूट जाएं और भीतर ठुसे लोग दूर-दूर तक उछल पड़ें। जिस तरह भिनभिनाती मक्खियों के नीचे गुड़ की ढेली गायब हो जाती है, उसी तरह लोगों के नीचे समूची ट्रेन गायब सी हो जाती। दरवाजों-खिड़कियों से इतने लोग लटक जाते, छतों पर इतने चढ़ जाते और डिब्बों के बीच की खतरनाक जगहों में भी इतने जा घुसते कि दुःखों, आशंकाओं और पसीने की गन्ध में डूबी वे ट्रेनें चलती किस प्रकार थीं, इस पर आश्चर्य किया जाना चाहिए।

पलायन कर रहे लोग, जिस प्रकार, ट्रेन को देखते ही गद्गद् हो जाते; उसी प्रकार आक्रमणकारी जत्थे भी, ट्रेन नजर आते ही, मारे खुशी के दीवाने हो जाते। ट्रेन को बीच-राह में रुकवाने के तरीके कई थे। लाइनों पर कोई रोड़ा रख देना। ड्राइवर को पहले ही से डरा-धमका कर या फुसला कर रखना; ताकि खुद वही अपनी ट्रेन को किसी खास जगह पर रोक दे। ट्रेन में अपना कोई ऐसा आदमी घुसा देना, जो खास जगह के आते ही खतरे की जंजीर खींच दे। सिख नारा लगाते, "सत् श्री अकाल"। मुसलमान कहते, "अल्ला-हो-अकबर"। रुकी हुई ट्रेन पर आक्रमणकारी टोलियां पूरे खूंख्वारपने के साथ टूट पड़तीं।

मदनलाल पाहवा के पिता कश्मीरी लाल को, जिसने ज्योतिषी के सगुन निकलवाने के बाद ही अपनी देशान्तर यात्रा शुरू की थी, आखिर यह ज्ञान प्राप्त हो गया कि ज्योतिष विज्ञान की भी कुछ सीमाएं अवश्य हैं। जब भारत की सरहद केवल चौदह मील के फासले पर रह गई थी, तब उसकी ट्रेन अचानक धीमी पड़ गई और मुसलमानों की खूंख्वार टुकड़ियां चलती ट्रेन में ही अन्दर घुसने लगीं।

बगल के डिब्बे में बैठी औरतों पर वे सब से पहले टूटे। उन की कलाइयों, उंगलियों नाक, कान, गले, कमर, पैर, ... जहां भी गहने थे, सब उसी तरह खींच-खींच कर उतारे गए; जैसे वृक्ष से फल तोड़े जाएं। नाक और कान के फट जाने से औरतें लहू-लुहान होने लगीं—मगर यह तो केवल शुरुआत थी। जवान औरतों को चुन-चुन कर खिड़की से बाहर फेंक दिया गया। छह-सात मुसलमान भी उनके पीछे बाहर कूद गए, ताकि उन्हें भोगें, फिर काटकर फेंक दें।

उनकी एक टुकड़ी कश्मीरी लाल के डिब्बे में घुसी। कश्मीरीलाल के ठीक सामने बैठी औरत का गला तलवार के एक झटके में कट गया। कटने के बाद भी, कुछ तन्तुओं के सहारे, वह धड़ के साथ लटका रह गया। बच्चा उसकी गोद में था, उसी का दूध पी रहा था। उसे ठीक से कुछ समझ में न आया। मां के लटकते बेजान चेहरे की ओर देखकर वह मुस्करा दिया।

उसी क्षण, कश्मीरी लाल को दो छुरे घोंपे गए और वो चीत्कार के साथ डिब्बे के फर्श पर लुढ़क गया। उस के सहयात्री खटाखट कत्ल हो रहे थे। लाशों की बारिश के नीचे कश्मीरी लाल दब गया। बेहोश होने से पहले उसने एक अजब अनुभव लिया-कोई मुसलमान उस के पैरों में से जूते उतार रहा था।

कुछ डिब्बों के फासले पर, परचून का दूकानदार धनीराम अपनी पत्नी-बच्चों समेत जिन्दगी और मौत के बीच झूल रहा था। आक्रमण होते ही उसने पत्नी और चारों बच्चों को फर्श पर गिरा दिया। बारिश की तरह लाशें और घायल लोग उन पर गिरने लगे। धनीराम के बदन पर से खून का परनाला-सा बह चला। एकाएक उसके दिमाग में कौंध सी हुई। यथासम्भव उसी सूझ के कारण वह पत्नी बच्चों समेत जिन्दा बच गया। मर चुके या मरते जा रहे सहयात्रियों

के खून में उस ने दोनों हाथ डुबाए स्वयं के और पत्नी-बच्चों के भी चेहरों पर उसने जल्दी-जल्दी वह खून पोत दिया, ताकि आक्रमणकारी यही समझें कि वे कट कर गिर चुके हैं।

भारत और पाकिस्तान, दोनों तरफ, ट्रेनों पर एक-जैसे हमले हो रहे थे। दोनों ही तरफ; मनुष्य का लिंग, पूर्ण शाब्दिक अर्थ में, उसका वह अंग बन गया; जहां से जीवन का उद्भव होता है। भारत में सिखों और हिन्दुओं ने ऐसे प्रत्येक ट्रेन यात्री को कत्ल कर दिया, जो मर्द हो और जिसका खतना हो चुका हो। पाकिस्तान में भी आक्रमणकारी प्रत्येक मर्द यात्री के लिंग की जांच करते। खतना नहीं; जिंदगी नहीं।

ऐसे दौरे कई बार आए, जब लाहौर और अमृतसर के स्टेशनों पर पहुंचने वाली प्रत्येक ट्रेन लाशों और घायलों से ही लदी हुई मिली। आजादी की कितनी बड़ी कीमत दोनों देशों की जनता चुका रही थी, इसका साक्षात् उदाहरण अश्विनी दुबे नामक एक कर्नल ने लाहौर में देखा; जहां वह, भारत की ओर से, शान्ति स्थापना अधिकारी के रूप में भेजा गया था। घायलों और लाशों से लदी एक ट्रेन लाहौर के प्लेटफार्म पर आकर रुकी। हर डिब्बे में सन्नाटा छाया हुआ था। हर दरवाजे के नीचे से खून रिस-रिस कर पटरियों पर गिर रहा था, जैसे किसी रेफ्रिजरेटर की बर्फ अत्यधिक गर्मी के कारण पिघलकर बहती जा रही हो।

ट्रेनों की सुरक्षा के लिए सशस्त्र फौजी साथ चलते तो थे, लेकिन जब हिन्दुओं द्वारा आक्रमण होता, तो हिन्दू सैनिक उन पर गोली न चला पाते। इसी प्रकार, मुसलमान सैनिक मुसलमानों के आक्रमणों को रोक पाने में समर्थ नहीं थे।

ट्रेनों का नाम ही पड़ गया—"मौत की सवारियां"। ऐसी कोई ट्रेन नही थीं, जिसे सुरक्षित माना जा सकता। शिमला से एक ट्रेन दिल्ली के लिए चली। उस में वे सैकड़ों मुसलमान बैठे हुए थे, जो पूर्व वायसराय की नौकरी में रहे और जिन्हें अब दिल्ली पहुंचना था। सोनीपत स्टेशन पर पटाखा छूटा और इस संकेत पर ट्रेन खट् से रुक गई। सैकड़ों सिख, अचानक, ट्रेन पर हमला बोलते दिखाई दिए। पूर्व वायसराय के हिन्दू कर्मचारी उसी ट्रेन से यात्रा कर रहे थे और डिब्बों के अन्दर ही बैठे हुए थे। ज्यों ही सिखों ने आक्रमण किया; त्यों ही, डिब्बों के अन्दर, वे हिन्दू कर्मचारी उन मुसलमानों पर टूट पड़े; जिन के कन्धे-से-कन्धा भिड़ा कर उन्होंने वर्षों तक वायसराय की सेवा की थी। लॉर्ड इसमे की बेटी सारा इसमे और उसके भावी पति फ्लाइट-लेफ्टिनेण्ट वेण्टी ब्यूमोण्ट ने अपने-अपने पिस्तौल निकाल लिए। उन के डिब्बे में, सूटकेसों के पीछे, वह तीसरा व्यक्ति छिपा हुआ था, जो एक खास कारण से उनका सहयात्री बन सका था। उसका नाम था अब्दुल हमीद, और वह उन का निजी बेरा था।

पढ़े-लिखे मालूम पड़ते और शानदार कपड़े पहने हुए दो हिन्दुओं ने डिब्बे में प्रवेश किया और पूछने लगे कि क्या आप के साथ कोई मुसलमान यात्रा कर रहा है? हमें जांच करने दीजिए।

अब्दुल हमीद इतने जोरों से कांपने लगा कि जिन सूटकेसों के पीछे वह छिपा था, वे हिल उठे।

सारा और वेण्टी ने उन हिन्दुओं पर अचानक अपने पिस्तौल तान दिए और करारे स्वर में कहा, "खबरदार! एक कदम भी आगे आए, तो मारे जाओगे।"

अब्दुल हमीद वह एक मात्र मुसलमान था, जो उस ट्रेन द्वारा दिल्ली जिन्दा पहुंच सका।

कलकत्ता; अगस्त, 1947

इस बार उन की संख्या दस लाख तक पहुंच गई थी। उस वीभत्स पखवाड़े में, जब पंजाब पागल हो गया था; कलकत्ता में, गांधीजी की नियमित प्रार्थना-सभाओं में, श्रद्धालुओं की संख्या बढ़ती ही जा रही थी। दंगों के मरुस्थल के बीच एकमात्र हरित-भूमि की तरह कलकत्ता मुस्कराए जा रहा था। घृणा और हिंसा का त्याग कर देने का उस महापुरुष का सन्देश, झोंपड़पट्टियों में निवास करते क्रूरतम गुण्डों के भी दिलों को छू गया था। 'न्यूयार्क टाइम्स' ने टिप्पणी की कि कलकत्ता का चमत्कार टिका हुआ है और यह शहर 'भारत के आश्चर्यों में से एक है।'

लॉर्ड माउण्टबेटन ने महात्मा गांधी की प्रशंसा के पुल बांध दिए; लेकिन गांधी जी का एक ही कहना था, "सब ईश्वर का चमत्कार है। हम उसी के हाथ के कठपुतले हैं।"

पंजाब; अगस्त, 1947

वह खुली कार आगे बढ़ी जा रही थी, जिसमें वे दोनों नेता अगल-बगल बैठे हुए थे। अंग्रेजों के खिलाफ तीस-तीस वर्षों तक संघर्ष कर के जो आजादी प्राप्त की गई थी, उस का इतना पुरस्कार तो उन दो नेताओं को मिलना ही चाहिए था कि जब वे खुली कार में साथ-साथ बैठ कर यात्रा करें, तो जनता द्वारा ऐसा भावभीना स्वागत किया जाए कि दोनों में से किसी नेता की मुस्कान एक क्षण के लिए भी न डूब सके। ठीक विपरीत; भारत और पाकिस्तान के प्रधानमंत्री, जवाहरलाल नेहरू और लियाकतअली खान एकदम सन्नाटे की मुद्रा में बैठे हुए थे। विध्वन्स और दुःख दर्द के जिन दृश्यों को चीर कर उनकी कार आगे बढ़ी थी। उन दृश्यों ने उनकी बोलती बन्द कर दी थी। यह दूसरा अवसर था, जब दोनों प्रधानमंत्री पंजाब का सम्मिलित दौरा कर रहे थे; ताकि कोई तो ऐसा उपाय सूझे, जो पंजाब में हो रहे ताण्डव को काबू में ला सके।

सब-कुछ उन के नियन्त्रण से बाहर चला गया था। पुलिस का होना-न-होना बराबर हो चुका था। सैनिकों ने वफादारी का परिचय तो दिया, लेकिन केवल अपनी-अपनी जातियों

के साथ। आज, उन नेताओं की कार, पंजाब में दुबारा भटकने निकली थी। एक गांव से दूसरे गांव... बल्कि एक श्मशान से दूसरे श्मशान.....

बदबू और बीमारियों से लदे शरणार्थियों के लम्बे जुलूस.... हिन्दू और सिख चुपचाप पूरब में जाते हुए.... मुसलमान चुपचाप पश्चिम में जाते हुए.... दोनों नेता उस दुःखी मानवता से मिले; और, जैसा कि उनके साथ के एक कर्मचारी ने स्वीकार किया; दोनों अपनी कार में सिकुड़ कर बैठे रह गए। शरणार्थियों की यातना ने मानो उनका सारा खून सोख लिया। दोनों के चेहरे फक पड़ गए।

आखिर वह डरावनी चुप्पी नेहरू के स्वर से भंग हुई। बुदबुदा कर उन्होंने लियाकत से कहा, "यह कैसा नरक है? विभाजन ने हमें कहां ला पटका है? सभी लोग भाइयों की तरह साथ-साथ रह रहे थे। अचानक यह सब क्या हो रहा है?"

"हमारी जनता पागल हो गई है।" लियाकत ने छोटा-सा जवाब लौटाया।

उस रात नेहरू जी बिल्कुल सो न सके। लाहौर में उन्हें जहां ठहराया गया था, उस के गलियारों में वह टहलते रहे.... टहलते रहे.... वह सहम गए थे और सोच रहे थे........ सोचे जा रहे थे....... उन के दोस्ताना दुश्मन सरदार पटेल ने उस अनुभव को; जैसा कि पटेल एक बैठक में कर चुके थे; इन शब्दों के साथ टाल दिया होता, "अरे यह तो होना ही था!"— किन्तु कवि-हृदय नेहरू के लिए यह सम्भव नहीं था। पंजाब के दोनों हिस्सों में घृणा की जो आग लगी हुई थी, उसमें नेहरू के अस्तित्व का रेशा-रेशा सुलग उठा था।

लेकिन उन्हें मालूम नहीं था कि इस आग को कैसे बुझाया जाए। जीवन में ऐसा संस्कार उन्हें कभी मिला नहीं था कि उतनी राक्षसी विपत्तियों की वह कल्पना भी कर सकते। जब कल्पना भी नहीं कर सकते थे, तो उन विपत्तियों का बोझ भला वह कैसे वहन करते? बौखला कर उन्होंने अपने गुस्सैल स्वभाव का परिचय दिया। अमृतसर के पास उन्हें पता चला कि एक गांव के सिख अपने मुसलमान पड़ौसियों का कत्लेआम करने की सोच रहे हैं। उन्होंने तुरन्त उन सिख नेताओं को बुलवाकर एक पेड़ के नीचे खड़ा किया।

"पता चला है कि तुम लोग अपने मुसलमान भाइयों को आज रात कत्ल करने की सोच रहे हो।" नेहरू जी गरज उठे, "याद रखना! यदि उन का बाल भी बांका हुआ है, तो तुम में से एक-एक को पकड़वा कर मैं यहीं खड़ा करूंगा और मेरे एक इशारे पर तुम सब को गोली से उड़ा दिया जाएगा।"

यह धमकी उस छोटे से गांव में तो कारगर रही, लेकिन इसी उपाय को इतना प्रभावशाली आखिर कैसे बनाया जाए कि सारा पंजाब काबू में आ जाए? त्रस्त होकर, रात के ढाई बजे, आखिर उन्होंने अपने ए.डी.सी. को जगाया, जिसने वायरलेस पर दिल्ली से सम्पर्क स्थापित करके कलकत्ता के नवीनतम समाचार पूछे। उस वक्त, जब केवल बुरे समाचारों की ही बौछार हो रही थी; कम-से-कम एक समाचार ऐसा अवश्य मिला, जिसने नेहरू को कुछ

सान्त्वना दी। कलकत्ता का चमत्कार अभी तक टिका हुआ था। वह अकेला निहत्था बुढ़ऊ संसार के सबसे कमीने शहर को स्वर्ग बनाए बैठा था......

एक जोरदार सीटी बजी, जिस का इशारा पाते ही छह हिन्दू चुपके से ओट छोड़कर सड़क पर निकल आए। दो प्रौढ़ व्यक्ति शान्ति से अपनी राह चले जा रहे थे। छहों हिन्दू अचानक चिल्लाए, 'मुसलमान! मुसलमान! मारो!' दोनों प्रौढ़ यह सुनते ही भागने लगे। हिन्दुओं ने उन्हें दबोच लिया। उन की धोती खोली। खतना देखा। वे मुसलमान ही थे। दोनों के चेहरे उन्होंने तौलिए डालकर छिपा दिये। दोनों को कस कर बांधा और घसीटकर शहर की पवित्र नदी की तरफ ले जाने लगे वे छहों हिन्दू अभी सत्रह-अठारह वर्ष के किशोर ही थे। जिन मुसलमानों को वे बांध कर जा रहे थे, उन की उम्र उन के पिताओं के बराबर थी। उन किशोरों के नेता का नाम था सुनील रॉय। वह सत्रह वर्ष का था। पवित्र हुगली नदी का किनारा दो सौ गज से ज्यादा दूरी पर नहीं था, जहां तक पहुंचते-पहुंचते खासी भीड़ एकत्र हो गई और साथ-साथ चलने लगी।

किशोरों ने दोनों मुसलमानों को जब नदी में धकेला और कमर तक पानी में ला कर खड़ा किया, तब घाट पर कई धर्मात्मा हिन्दू पूजा कर रहे थे। कुछ कोमल-हृदय स्त्रियां नहा भी रही थीं। लोहे की एक छड़ आकाश में उठी और खच्च से गिरी। एक मुसलमान का सिर खुल गया। वह कराहकर लड़खड़ाया और नदी में समा गया। जहां उसका सिर डूबा, वहां कुछ क्षणों के लिए भंवर-सा दिखाई दिया।

दूसरे मुसलमान ने अपनी जान बचाने के लिए छपटाना शुरू किया, लेकिन उसी किशोर ने उसके सिर पर भी लोहे की छड़ दे मारी। बच्चे उसे ईंटें मारने लगे। एक और किशोर ने उस के गले में छुरा घुसेड़ दिया, ताकि उस के जिन्दा रह जाने का सवाल ही न रहे। वह भी पानी में समा गया।

दोनों लाशों का खून नदी के पानी में लकीरें डाल रहा था। थोड़े ही गज के फासले पर धर्मात्मा हिन्दुओं का पूजा-पाठ ज्यों-का-त्यों चलता रहा। नहाती स्त्रियों को भी कोई विशेष खलल नहीं पहुंचा था। सुनील रॉय ने उन बलिदानों की खुशी में चीत्कार किया, "काली माई की जय!" भीड़ ने भी समवेत स्वर में चीत्कार गुंजा दिया, "काली माई की जय!"

31 अगस्त, 1947 की सुबह अभी-अभी हुई थी। कलकत्ता की शान्ति, केवल सोलह दिनों तक टिक सकी थी। जातीय घृणा का रोगाणु आखिर उस शहर में आ ही पहुंचा, जो 'डरावनी रातों की नगरी' के रूप में पहले ही से कुख्यात था। जो अन्यत्र हो रहा था, वही कलकत्ता में भी हुआ—रोगाणु ने वहां तक पहुंचने के लिए शरणार्थियों का सहारा लिया। ट्रेनों में लद-लद तक शरणार्थी कलकत्ता में आते जा रहे थे। उनके साथ आती गई वे वीभत्स सत्य-कथाएं—कि हिन्दुओं पर मुसलमानों ने क्या-क्या अत्याचार किए हैं..... बारूद को पलीता दिखाने का काम उस अफवाह ने किया, जिसकी सत्यता कभी प्रमाणित नहीं हुई; लेकिन

जिसके अनुसार, एक ट्रॉली में कुछ मुसलमानों ने मिलकर एक हिन्दू लड़के को पीट-पीट कर मौत के घाट उतार दिया था........

उसी रात दस बजे, नौजवान हिन्दू उन्मादियों का एक जुलूस, हैदरी हाउस के बरामदे में आ पहुंचा और तुरन्त महात्मा जी से मिलने की मांग करने लगा। गांधी जी दरी पर सो चुके थे। मनु और गांधी जी की एक और प्रपौत्री आभा भी नींद में थी। जुलूस ने एक स्तब्ध और घायल नौजवान को, जिस की मरहम-पट्टी की जा चुकी थी, आगे बढ़ा कर नारे लगाए कि इसे मुसलमानों ने पीटा है। वे हैदरी हाउस पर पथराव भी करने लगे। मनु और आभा जाग गईं। तुरन्त बरामदे में पहुंच कर उन्होंने भीड़ को शान्त करने की चेष्टा की, लेकिन बेकार। गांधी के अनुयायियों को पीछे धकेल कर भीड़ हैदरी हाउस में घुस पड़ी। इस हंगामे से गांधी जी भी जाग गए। उठे और तुरन्त सामने आए। "यह क्या पागलपन है?" उन्होंने पूछा, "इन्हें क्यों रोकते हो? आने दो। करने दो आक्रमण।"

इस बार उनके शब्द भीड़ के शोर में खो गए। दो मुसलमान, जिन्हें मार-मार कर लहू-लुहान कर दिया गया था, अचानक तड़प कर जुलूस से अलग हुए और दौड़ कर गांधी जी के पीछे छिपने लगे। भीड़ में से किसी ने उन की तरफ लोहे की छड़ फेंकी, जो गांधी जी के सिर को जरा-सा बचाती हुई, पीछे की दीवार पर जोर से टकराई और खनखना कर गिर गई।

उसी समय पुलिस आ पहुंची, जिसे गांधी जी के एक चिन्तित अनुयायी ने तनाव की सूचना दे दी थी। गांधी जी वापस अपनी दरी पर आ कर बैठे। अब उन्हें नींद नहीं आ सकती थी। 'क्या आज की घटना अपवाद स्वरूप घटी है?' यह सवाल यदि उनके मन में जगा भी; तो उस का ठोस जवाब अगले ही दिन मिल गया; जब कलकत्ता में जगह-जगह हिंसा फूट पड़ी।

गांधी जी के चमत्कार से प्रेरणा पाकर झोंपड़पट्टी के मुसलमान अपने दरबों में लौट आए थे। उन पर अचानक आक्रमण हुए, जिनमें मुख्य भूमिका उस राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की रही; जिसके स्वस्तिक-मढ़े नारंगी झण्डे के त्रिकोण को, आजादी दिवस के अवसर पर, पूना में, नाथूराम गोडसे के साथियों ने सलामी दी थी। डरे हुए कुछ मुसलमान, झोंपड़पट्टी छोड़कर एक ट्रक में बैठे और भाग चले; किन्तु गांधी जी के निवास-स्थान से कुछ सौ गज के ही फासले पर ट्रक में दो हथगोले आ गिरे, जिनके विस्फोटों में दो गरीब मजदूरों की जानें निकल गई।

गांधी जी से उस शाम खाना न खाया गया। अगले दिन उन्होंने घोषणा कर दी, "कल शाम के उपवास से ही मैंने अपना आमरण उपवास प्रारम्भ कर दिया है। मैं तब तक कुछ न खाऊंगा, जब तक कलकत्ता के निवासी अपने विवेक को फिर से नहीं पा लेते। जब तक यहां हिंसा होगी, मैं भूखा रहूंगा; चाहे इस में मुझे अपनी जान ही क्यों न देनी पड़े........"

गांधी जी का 78-वां जन्मदिन दूर नहीं था। इतनी बड़ी उम्र में भी उन्होंने आमरण उपवास का फैसला कर लिया। यह पहला अवसर था, जब वह अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं; बल्कि अपने ही देशवासियों का विवेक जगाने के लिए उपवास पर कटिबद्ध हुए थे।

'इतने बुढ़ापे में उपवास का परिणाम क्या होगा?' इस विचार ने उन के अनुयायियों को आशंकित कर दिया, लेकिन गांधी जी किसी की सुनने वाले नहीं थे।

इस बार गांधी जी की शारीरिक शक्तियां बड़ी तेजी से डूबने लगीं। नववर्ष दिवस से लेकर अब तक उन्होंने जो भावनात्मक तनाव झेला था, उसका आखिर कुछ तो परिणाम होना ही था।

अगले ही दिन डॉक्टर को पता चला कि उनका हृदय प्रत्येक चार धड़कनों में से एक धड़कन खो रहा है। दोपहर को उन्हें मालिश की गई, कुनकुने जल का एनीमा भी दिया गया। उन्होंने सोडा-बायकार्बोनेट के साथ मिला कर एक लीटर पानी पीया। इस के बाद, सहसा उनकी आवाज इतनी धीमी पड़ गई कि सुनना मुश्किल।

कुछ घण्टों के भीतर उनकी नाजुक दशा का समाचार पूरे शहर में फैल गया। उस कमीने शहर के बाशिन्दों के सामने बुढ़ऊ ने जो चुनौती फेंकी थी, उसकी पैनी गरिमा ने सबको सन्न कर दिया। कलकत्ता के कोने-कोने से लोग हैदरी हाउस की दिशा में उमड़ पड़े, ताकि महात्मा की कुशल-क्षेम पूछ सकें। इसके बावजूद—

हिंसा का रोगाणु इस बार इतना शक्तिशाली होकर आया था कि घृणा की उस महामारी को एक दिन में काबू में न लाया जा सका। प्रमुख नागरिकों और नेताओं ने शीघ्रातिशीघ्र हिन्दू उन्मादियों के प्रतिनिधियों को ढूंढ़ निकाला और पूछा, "कभी सोच कर भी देखा है कि अगर गांधी जी का अवसान हो गया, तो परिणाम क्या होगा?" नोआखाली के मुसलमान नेताओं से गांधी जी ने जो वचन लिया है, उसी के कारण वहां के हजारों हिन्दुओं की जान बची हुई है। अगर कलकत्ता में मुसलमानों की हत्या चलती रही और गांधी जी ने............ जान दे दी, तो नोआखाली के हजारों हिन्दुओं को बचाने वाला कोई न होगा।"

उपवास के दूसरे दिन, सुबह से ही, उन्मादभरी ललकारों और बन्दूक की फायरिंग के समानान्तर एक नए ढंग की आवाजों ने उभरना शुरू किया। वे आवाजें उन टुकड़ियों की थीं, जो हैदरी हाउस की ओर बढ़ रही थीं और जो शान्ति-स्थापना की अपील-पर-अपील कर रही थीं। आखिर कलकत्ता के हुल्लड़बाज दो पल को रुके, ताकि गौर कर सकें कि गांधी जी का रक्तचाप अब क्या है, धड़कन क्या है, उनके पेशाब में किस हद तक एल्बूमन जा रहा है। विश्व-विद्यालय के विद्यार्थियों ने शान्ति स्थापना का आन्दोलन छेड़ दिया। हिन्दू और मुसलमान नेता दौड़े-दौड़े आए और गांधी जी से उपवास तोड़ने का आग्रह करने लगे। गांधी जी का एक ही जवाब होता, "पिछले पन्द्रह दिनों की गौरवमयी शान्ति जब तक लौटती नहीं, तब तक मैं उपवास जारी रखूंगा।"

तीसरे दिन, सुबह, उनकी आवाज बुदबुदाहट से भी धीमी हो गई। नब्ज इतनी तेजी से गिरने लगी कि लोग दहल गए। अगर यही दशा जारी रही, तो महात्मा की मृत्यु कभी भी आमने-सामने आकर खड़ी हो सकती थी—बल्कि; आकर खड़ी हो चुकी थी और कसर केवल इतनी थी कि वह कब अपना वार करे......

मृत्यु के इस खतरे का समाचार जब कलकत्ता में फैला, तो पश्चाताप और अकुलाहट ने पूरे शहर को गिरफ्त में ले लिया। शहर से परे, सम्पूर्ण भारत का ध्यान, अचानक उस दरी पर केन्द्रित हो गया, जो हैदरी हाउस में बिछी थी और जिस पर वह महात्मा दूसरों के लिए स्वयं को गला रहा था।

महात्मा गांधी की जीवन--ज्योति ज्यों-ज्यों धीमी पड़ती गई, त्यों-त्यों कलकत्ता के निवासियों के बीच प्रेम की ज्योति जगाती गई। शहर को बचाने के लिए जो महात्मा आया था, उसे बचाने का फैसला शहर ने कर लिया। झोंपड़पट्टियों में जहां-जहां भी हिंसा का विस्फोट हुआ था, वहां-वहां हिन्दुओं और मुसलमानों के सम्मिलित जुलूस घुस पड़े और लोगों को समझाने लगे।

दोपहर को शहर के सत्ताईस प्रमुख गुण्डे हैदरी हाउस पहुंचे। उनकी नजरें झुकी हुई थीं। उन्होंने अपने अपराध स्वीकार कर लिए और माफी मांगते हुए कहा कि महात्मा जी उपवास छोड़ दें।

हैदरी हाउस के पड़ोस में ही, हथगोलों से, जो हत्याएं हुई थीं; उनके लिए जो जिम्मेदार गुण्डे थे; वे भी शाम तक आ पहुंचे। उनके नेता ने हाथ जोड़कर गांधी जी से कहा, "हम से अपराध हो गया। अब आप जो सजा देंगे, हमें मंजूर होगी।" और उन्होंने अपनी धोतियों में बंधे, चाकू, छुरे, बघनखे, पिस्तौल इत्यादि खोलकर फर्श पर बिखेर दिए। गांधी जी और उनके अनुयायी उस नाटकीय दृश्य को देखते रह गए।

गांधी जी ने बुदबुदा कर कहा, "मेरे अनुसार तो..... तुम लोगों को एक ही सजा दी जानी चाहिए....... जिस इलाके के मुसलमानों को तुमने शिकार बनाया, वापस उसी इलाके में जाओ और उन्हीं मुसलमानों की रक्षा करो।"

उसी शाम, पूरे एक ट्रक में भर कर, वे तमाम हथियार हैदरी हाउस के गेट पर समर्पित कर दिए गए, जिन्हें कि कलकत्ता के गुण्डों ने स्वयं अपनी इच्छा से छोड़ दिया था। चाकुओं, पिस्तौलों के अलावा, स्वचालित हथियारों और हथगोलों तक को उन अस्त्र-शस्त्रों के बीच देखा जा सका। हिन्दू, सिख और मुसलमान नेताओं ने संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित करके वचन दिया कि भविष्य में हिंसा की कोई वारदात शहर में नहीं होने दी जाएगी; और अगर हुई, तो हम आमरण उपवास करेंगे।

आखिर; 4 सितम्बर की शाम, सवा नौ बजे, गांधी जी ने अपना 73 घण्टों का उपवास तोड़ने के लिए सन्तरे का रस ग्रहण किया।

इस बार कलकत्ता ने अपना वचन निभाकर दिखा दिया। पंजाब के मैदानों में, सीमान्त प्रदेश में, करांची, लखनऊ और दिल्ली जैसे शहरों में, स्थिति अभी और बिगड़नी थी; लेकिन डरावनी रातों के उस शहर ने मानवता और विवेक का दीपक निरन्तर जलाए रखा। शहर को जीवनदान देने के लिए उस महान बूढ़े ने अपना जीवन खतरे में डाला था। उसी बूढ़े के जीवन के साथ खेलने की, फिर, उस शहर ने बिल्कुल न सोची।

कलकत्ता की कमीनगियों पर गांधी जी का वह विजय अविश्वसनीय की हद तक अनोखा था। इसके बावजूद गांधी जी को ऐसा लगा ही नहीं कि उन्होंने कोई बड़ा काम कर दिखाया है। ''मैं सोच रहा हूँ कि कल सुबह पंजाब के लिए रवाना हो जाऊं'' उन्होंने घोषणा की।

नई दिल्ली; सितम्बर, 1947

गांधी जी को पंजाब जाने का अवसर ही न मिल सका। उन्हें दिल्ली में रुक जाना पड़ा। घृणा और हिंसा की महामारियों का रोगाणु भारत की राजधानी दिल्ली तक पहुंच चुका था। उधर गांधी जी ने, कलकत्ता में, अपना उपवास तोड़ा; और इधर, दिल्ली में आग सुलगनी शुरू हो गई। सिखों के अकाली दल और हिन्दुओं के राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने मिलकर दिल्ली को भी कौमी दंगों की लपटों में झोंक दिया।

शुरुआत हुई रेलवे-स्टेशन से, जहां बारह मुसलमान पोर्टर मार डाले गए। कनाट सर्कस के मुसलमान दुकानदारों पर हिन्दुओं ने आक्रमण कर उन्हें लूटा, कत्ल भी किया। सब्जी मण्डी में अगा लगा दी गई। लोदी कॉलोनी में और हुमायूं के मकबरे के आसपास, सिखों के जत्थे मुसलमान सरकारी कर्मचारियों के घरों में घुस-घुस कर उन्हें कत्ल करने लगे। पुरानी दिल्ली में, सिखों ने मुसलमानों का नारा स्वयं लगाना शुरू किया, ''अल्ला-हो-अकबर।'' इसके जवाब में अगर कहीं से भी ''अल्ला-हो-अकबर'' की पुकार आ जाती, तो खूंख्वार सिख उस जवाब देने वाले को तुरन्त ढूंढ़ निकालते और सहर्ष कत्ल करते।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने एक मुसलमान स्त्री का अपहरण कर, उसे यार्क रोड़ स्थित जवाहरलाल नेहरू के बंगले के गेट पर, मिट्टी तेल छिड़क कर जिन्दा जला दिया। भारतीय मुसलमानों की रक्षा करने की जो कोशिशें नेहरू जी ने की थी, उसका विरोध उस उन्मादी संस्था ने इस प्रकार दर्ज करवाया। बाद में, अनेक मुसलमान स्त्रियों ने नेहरू जी के बगीचे में शरण ली, जहां उनकी रक्षा के लिए गोरखा सैनिक खड़े किए गए।

'जिस किसी घर में कोई मुसलमान छिपा मिलेगा, उसे जला दिया जाएगा।'— सिखों की इस चेतावनी के कारण सैकड़ों, हिन्दू, सिख, पारसी और ईसाई परिवारों ने अपने ईमानदार मुसलमान नौकरों को घर से निकाल दिया, जिनका सिंखों ने खुली सड़कों पर कत्ल किया।

दिल्ली में दंगों का अर्थ केवल यह नहीं था कि एक और शहर उस रोगाणु की गिरफ्त में आ गया, बल्कि यह था कि भारत की गौरवमयी राजधानी डूबने लगी है और दूसरे शहरों का तो अब भगवान ही मालिक है। दिल्ली को गिरने से बचाना बेहद जरूरी था, मगर कैसे? शहर की आधी पुलिस मुसलमान सिपाहियों की थी, जो ड्यूटी पर नहीं आ रहे थे। सेना की तरफ से केवल 900 सैनिक मुहैया हो सके। दशा क्या थी, इसका इन्दाजा इसी से लग सकता है कि नेहरू जी की डाक ले जाने के लिए भी किसी चपरासी का प्रबन्ध न हो सका। उनके निजी सचिव एच.वी.आर. आयंगर स्वयं अपनी कार से डाक ले जाकर उन्हें दिया करते।

वी.पी.मेनन ने, जिसने माउण्टबेटन की विभाजन योजना का अन्तिम मसौदा तैयार किया था, महत्वपूर्ण आई.सी.एस. अधिकारियों की गुप्त बैठक तुरन्त बुलाई। इस बैठक में एक स्वर में स्वीकार किया गया कि शांति रखने और शासन चलाने के लिए दिल्ली में पर्याप्त कर्मचारी कतई नहीं हैं राजधानी और साथ में पूरा देश भी, अराजकता के गर्त में गिरने जा रहा है।

शिमला; 4 सितम्बर, 1947

मार्च में, पालम हवाई-अड्डे पर उतरने के बाद लुई माउण्टबेटन को यह पहला अवसर मिला था, जब वह कुछ सुस्ता सके। भारत को आजाद करने के साथ उनके कंधों से वह बोझ हट गया था, जिसने उन्हें रात-दिन पीस डाला था। आधी रात की उस टंकार ने उन्हें विश्व के सर्वाधिक शक्तिशाली पुरुषों में से एक की स्थिति से हटाकर उस कार्यालय में ला बिठाया था, जिसका महत्व विशुद्ध रूप से मात्र सांकेतिक था।

पंजाब को हिला रहे हिंसा के ताण्डव ने माउण्टबेटन को गहराई से हिला दिया था, लेकिन गवर्नर जनरल बनने के बाद उनके पास ऐसी कोई सत्ता नहीं रह गई थी कि दखल दे सकें। वह अभूतपूर्व जिम्मेदारी अब भारतीय शासकों को सम्भालनी थी।

जब दखल देना ही नहीं था, तो दिल्ली में रहने की विशेष उपयोगिता नहीं थी। चुपके से वह शिमला चले गए थे। अंग्रेजों की वह मरी हुई राजधानी उनके आराम का प्रबन्ध अब भी कर सकती थी।

4 सितम्बर, गुरुवार के दिन; दस बजे रात; जब वह पुराने वायसरीगल लॉज के पुस्तकालय में बैठे थे, एकाएक फोन घनघना उठा। उन्हें ट्रंक करने वाले का नाम था वी.पी. मेनन। पूर्व वायसराय के कर्मचारियों के बीच, यही वी.पी.मेनन ही था, जिसकी राय का सम्मान लॉर्ड माउण्टबेटन सर्वाधिक किया करते थे।

"योर एक्सिलेन्सी," मेनन बोला, "आपको तुरन्त दिल्ली आना चाहिए।"

"लेकिन, वी.पी.;" माउण्टबेटन ने विरोध किया, "मैं अभी-अभी इधर आया हूं। अगर किसी कागज-वागज पर मेरे दस्तखत चाहिए, तो उसे यहां भेज दो। कर दूंगा दस्तखत।"

"नहीं। बात केवल इतनी नहीं......." मेनन ने कहा, "जबसे योर एक्सिलेन्सी यहां से गए हैं, हालत बेकाबू हुए जा रहे हैं। दिल्ली में दंगे फूट पड़े हैं। हमें कोई अन्दाजा नहीं कि इन दंगों की जड़ें कितनी गहरी हैं। प्रधानमंत्री और उप प्रधानमंत्री दोनों की चिंता का पार नहीं है। दोनों की यही राय है कि योर एक्सिलेन्सी का यहां तुरन्त लौट आना अनिवार्य हो चला है।"

"लेकिन क्यों? मुझसे क्या मशविरा किया जाना है?"

मेनन ने कहा, "उन्हें आप से केवल मशविरा करने की जरूरत नहीं। उन्हें आपकी सहायता की जरूरत है।"

"वी.पी.!" माउण्टबेटन ने उत्तर दिया, "मैं नहीं सोचता कि वे सचमुच मेरी सहायता लेना चाहेंगे। उन्हें अभी-अभी आजादी मिली है। जो व्यक्ति देश का केवल सांकेतिक शासक रह गया हो, वह वापस आए और उनके मामलों में टांग अड़ाए; यह उनसे सहन नहीं होगा। मैं नहीं आ रहा हूं। उनसे कह दो।"

"अच्छी बात है।" मेनन का उत्तर था, "मैं उनसे कह दूंगा। इतना जरूर है कि जो फैसला आप अभी करें, उसे बाद में कतई बदलें नहीं। अगर आप चौबीस घण्टों में वापस दिल्ली नहीं आते, तो फिर कभी न आइएगा। बहुत देर हो जाएगी। हम भारत को खो चुके होंगे।"

फोन पर, लॉर्ड माउण्टबेटन, सन्न रह गए। अनेक क्षणों तक वह कुछ न बोल सके। आखिर, अत्यन्त शांत स्वर में उन्होंने गाली दी, "अल्राइट, वी.पी.! खूसट सूअर! तुम जीत गए। मैं आ रहा हूं।"

नई दिल्ली; 6 सितम्बर, 1947

शनिवार 6 सितम्बर, 1947 के दिन; सुबह-सुबह, माउण्टबेटन के अध्ययन-कक्ष में जो निष्कर्ष निकाले गए, उन्हें भारत के अन्तिम वायसराय के जीवन के सबसे बड़े रहस्य की तरह छिपा कर रखा जाना था। यदि वह निष्कर्ष किसी को रंच-मात्र भी ज्ञात हो जाते, तो भारत के एक ऐसे नेता का पूरा राजनीतिक भविष्य चौपट होने से बचाया न जा सकता, जो आगे चलकर इतना महान साबित हुआ की उसकी गणना विश्व के प्रमुख कर्णधारों के बीच होने लगी।

कुल तीन व्यक्ति मौजूद थे—माउण्टबेटन, नेहरू और पटेल। दोनों भारतीय नेता बहुत परेशान और गम्भीर नजर आ रहे थे। गवर्नर-जनरल ने महसूस किया, जैसे वे दो ऐसे

विद्यार्थी हैं, जिन्होंने अपने स्कूल में अभी-अभी कोई सजा पाई हो। पंजाब नियंत्रण से बाहर निकल चुका था। शरणार्थी इस तेजी से आ रहे थे, जिसका किसी को सपने में भी ख्याल नहीं था। अब दिल्ली में भी हिंसा दांत निपोड़ने लगी थी।

"सबको एक-साथ कैसे काबू में लाएं? हमारी समझ में नहीं आता।" नेहरू जी ने स्वीकार किया।

"लेकिन काबू में तो लाना ही होगा न?" माउण्टबेटन ने उनसे स्पष्ट कहा।

"बेशक लाना होगा; मगर कैसे?" नेहरू जी का उत्तर था, "हमें इस प्रकार का कोई अनुभव नहीं है। जीवन के सर्वश्रेष्ठ वर्ष तो हमने ब्रिटिश जेलों में बन्द होकर गुजार दिए। हम सत्याग्रह करने के अनुभवी हैं, शासन करने के नहीं। अगर हमें कोई सुगठित सरकार सामान्य स्थितियों में सौंपी जाए, तब तो उसे हम चला ले जाएंगे; लेकिन......एकाएक जो होने लगा है, वह पूर्ण अराजकता से भी बदतर है।"

यहां नेहरू जी ने एक ऐसा निवेदन किया, जो नितान्त अविश्वसनीय था। जिस नेता ने आजादी के संघर्ष के पीछे अपना सम्पूर्ण जीवन झोंक दिया हो, वही नेता उस सीमा तक विनम्र हो सका; यह बात एक तरफ तो नेहरू जी की महानता की सूचक है और दूसरी तरफ इसकी भी सूचक कि स्थिति किस सीमा तक गम्भीर हो चली थी। शीघ्रता से निर्णय लेने और संगठन कर सकने की माउण्टबेटन की क्षमताओं की नेहरू जी कम इज्जत नहीं करते थे "भारत को आज उन क्षममताओं की अत्यधिक आवश्यकता है।" नेहरू जी ने कहा, "मैं अपने व्यक्तिगत गौरव को इतना महत्व कभी नहीं दूंगा कि देश की आवश्यकताएं मेरी खातिर ताक पर रख दी जाएं। विश्वयुद्ध में आप जब सर्वोच्च कमाण्ड का अनुभव ले रहे थे, तब हम जेलों में बैठे थे। आप उच्चतम स्तर के, व्यावसायिक, प्रशासक हैं। युद्ध में आपने लाखों पर हुक्म चलाए हैं। भारत में अंग्रेजी राज ने हमें तो अनुभव नहीं लेने दिया, वह अनुभव आपकी रग-रग में बसा है। इतने बड़े देश को इतनी गम्भीर इन समस्याओं के सथ, एकाएक, हमारे कन्धों पर रखकर आप अपना पूरा सहारा कैसे हटा सकते हैं? हमारे जीवन भर आप यहां रहे हैं, रातोंरात कैसे खिसक सकते हैं? हम आपातकाल में फंस गए हैं। हमें आपकी सहायता चाहिए। क्या आप देश का संचालन अपने हाथों में लेंगे?"

"जी हां।" पटेल ने अनुमोदन किया। उस यर्थाथवादी, कठोर नेता ने कहा, "आपको संचालन संभालना ही चाहिए। नेहरू जी ने सही प्रस्ताव रखा है।"

माउण्टबेटन की स्तब्धता की सीमा न रही। "माई गॉड!" उन्होंने कहा, "अभी-अभी देश मैंने आप लोगों को सौंपा है। वही देश आप मुझे वापस पकड़वाना चाहते हैं?"

"हालत समझने की कोशिश करिए।" नेहरू बोले, "देश आप ही को संभालना होगा। हम दोनों वही करेंगे, जो आप चाहेंगे।"

''बट दिस ईज टेरिबल!'' माउण्टबेटन अब भी यकीन नहीं कर पा रहे थे, ''अगर किसी को पता चल गया कि आप दोनों ने देश वापस मेरे हाथों में सौंप दिया है, तो... राजनीतिक रूप से आप खत्म हो जाएंगे। अव्वल तो भारतीयों ने अपने वायसराय को ही गवर्नर जनरल बना कर रख लिया। फिर देश उसे वापस सौंप दिया! असंभव! बिल्कुल असंभव! को हमें संभव कर दिखाना है।'' नेहरू जी ने कहा, ''यदि आपने इंकार कर दिया, तो देश हमसे नहीं संभलेगा। रही बात दूसरों को पता चल जाने की.... हमें कोई ऐसा तरीका ढूंढ़ना होगा, जिससे रहस्य छिपा रहे।''

माउण्टबेटन सोच में पड़ गए। निःसन्देह एक चुनौती उनके सामने रखी जा रही थी और चुनौतियों को वह पसन्द करते थे। इस पर, यह चुनौती तो विशेष ही विकट थी; फलस्वरूप विशेष आकर्षक लग रही थी। नेहरू उनके व्यक्तिगत मित्र थे। भारत से उन्हें प्यार हो गया था। अपनी जिम्मेदारियों से पलायन करने की वृत्ति उनमें कभी नहीं रही थी। 'हां' कहने के अलावा उनके सामने अब कोई चारा नहीं था।

''ऑलराइट!'' वह बोले। उनके भीतर छिपा एडमिरल क्षण-मात्र में जाग गया, ''मैं संचालन कर दूंगा..... और मुझे मालूम है कि संचालन कैसे करना चाहिए। फिर से दोहराना चाहूंगा कि यह बात केवल हम तीनों के बीच रहे। कोई चौथा न जाने। अब ... जहां से हमें शुरू करना चाहिए.....सबसे पहले आप लोग मुझसे निवेदन करिए कि मैं एक आपतकाल समिति की रचना करूं। मैं इससे सहमत हो जाऊंगा। क्या आप मुझसे निवेदन करने को तैयार हैं?''

''जी हां।'' नेहरू और पटेल बोले।

''ऑलराइट!'' माउण्टबेटन का स्वर, ''आप लोगों ने निवेदन कर दिया है। मैं सहमत हो गया हूं। अब.... क्या आप लोग मुझे कुर्सी ग्रहण करने का आमन्त्रण देंगे?''

''अवश्य!'' दोनों नेताओं ने उत्तर दिया। माउण्टबेटन जिस तेजी से बढ़ रहे थे। उससे वे चकित होने लगे, ''आपको हम आमन्त्रण दे रहे हैं।''

आपातकाल समिति में केवल वे लोग होंगे, जिन्हें मैं मनोनीत करूंगा।

''क्यों न आप पूरे मंत्रिमण्डल को ही ले लें!'' नेहरू के स्वर में खीझ जैसा अभास था।

''नानसेन्स!'' माउण्टबेटन ने कहा, ''सब चौपट हो जाएगा। मुझे केवल महत्व के लोगों की जरूरत पड़ेगी; जो सचमुच कुछ करते धरते हों। डॉयरेक्टर ऑफ सिविल एविएशन। डायरेक्टर फॉर रेलवेज। हेड ऑफ द इण्डियन मेडिकल सर्विसेज। मेरी पत्नी रेडक्रास एवं अन्य स्वयंसेवक संस्थाओं को सम्भालेगी। इस समिति का सचिव-पद मेरे कांफरेन्स सचिव जनरल एस्किन-क्रम को सौंपा जाएगा। समिति की कार्यवाहियां, रिले पद्धति से, अंग्रेज टाइपिस्टों

द्वारा टाइप की जाएंगी; ताकि बैठक ज्यों ही पूरी हो, सब-कुछ लिखा-लिखाया तैयार मिल जाए। क्या यह सब करने का आमन्त्रण आप मुझे दे रहे हैं?''

''जी हां। दे दिया।'' नेहरू और पटेल बोले।

''बैठकों में........'' माउण्टबेटन ने जारी रखा, ''प्रधानमंत्री मेरे दाएं बैठेंगे और उपप्रधानमंत्री बाएं। मैं हर कदम पर आप लोगों से सलाह लेने की औपचारिकता बरतूंगा; लेकिन मुझसे बिल्कुल कोई बहस नहीं की जानी है। बहस मुबाहिसे के लिए वक्त किसके पास है? मेरे शब्द होंगे, 'आप यही चाहते हैं न कि मैं ऐसा करूं?' और आप के शब्द होंगे, 'जी हां; कृपया करिए।' बस, मुझे केवल इतना चाहिए। मैं नहीं चाहूंगा कि आप लोग जरा भी कुछ और बोलें।''

''लेकिन .... क्या हम......'' पटेल ने विरोधी मुद्रा अपनानी शुरू की।

''नहीं। किसी लेकिन-वेकिन की गुंजाइश नहीं है। हमें व्यर्थ ही विलम्ब झेलना पड़ेगा।'' माउण्टबेटन बोले, ''देश का संचालन किसे करना है? आप को या मुझको?''

''आह! ऑलराइट!'' बुजुर्ग राजनीतिज्ञ ने गुर्रा कर कहा, ''संचालन आप ही को करना है। ठीक है। करिए।''

अगले पन्द्रह मिनटों में उन तीनों व्यक्तियों ने मिलकर आपतकाल समिति के सदस्यों की तालिका तैयार कर ली।

''जेण्टलमेन!'' माउण्टबेटन ने घोषणा की, ''आज ही शाम को पांच बजे हम इस समिति की पहली बैठक बुला रहे हैं।''

तीस-तीस वर्षों के तीव्रतर संघर्ष के बाद, वर्षों के जन-आन्दोलनों और हड़तालों के बाद, विलायती कपड़ों की असंख्य होलियां जलाने के बाद, और—सर्वोपरि यह कि—केवल तीन हफ्तों की आजादी भोगने के बाद, भारत फिर से एक अंग्रेज द्वारा संचालित हो रहा था—चाहे वह अवसर कितना ही संक्षिप्त एवं अन्तिम क्यों न हो।

□□□

14

'इतिहास की सबसे बड़ी देशान्तर-यात्रा'

नई दिल्ली; सितम्बर, 1947

माउण्टबेटन के आदेश पर, लॉर्ड इसमे के कार्यालय को नक्शा-केन्द्र का रूप दे दिया गया। सैन्य मुख्यालय तक आदमी दौड़ा कर पंजाब के सर्वश्रेष्ठ नक्शे, आननफानन में हासिल किए गए। वायु-सेना को आदेश मिला कि पूर्वी पंजाब के आकाश में सुबह से शाम तक, रोज, निरीक्षण उड़ानें जारी रहनी चाहिए। पायलटों को स्थाई ओदश दिया गया कि शरणार्थियों के प्रत्येक जुलूस की रिपोर्ट एक-एक घण्टे में वायरलेस द्वारा भेजी जाए कि जुलूस किस दिशा में, किस स्पीड से जा रहा है; उसका आकार क्या है; और लम्बाई कितनी।

इलेक्ट्रॉनिक कम्यूनिकेशन्स के प्रति माउण्टबेटन का झुकाव शुरू से रहा था। उन्होंने पंजाब के सभी प्रमुख क्षेत्रों का वायरलेस सम्बन्ध गवर्नमेण्ट-हाउस के साथ जोड़ दिया। रेल-मार्गों की निगरानी हवाई-जहाजों से की जाने लगी।

आपातकाल-समिति की पहली बैठक में माउण्टबेटन ने भारतीय नेताओं के सामने विभिन्न नक्शों और चार्टों द्वारा स्पष्ट किया कि समस्या जितनी विकट अभी लग रही है, वास्तव में वह उससे कहीं ज्यादा विकट है। नेहरू बेहद उदास और सुन्न पड़ गए। पटेल को अत्यधिक खलल पहुंचा। क्रोध और कुण्ठा से जैसे वह उबल पड़ना चाहते थे।

माउण्टबेटन के सुन्दर और सम्भ्रान्त चेहरे के पीछे कितनी कठोरता और अनुशासनप्रियता छिपी हुई थी, इसका आभास भारतीय नेताओं को पहली बैठक में ही मिल गया। ट्रेनों के साथ चलने वाले सुरक्षा सैनिक आक्रमणकारियों पर फायर करते ही नहीं थे; इस समस्या का जो "सैनिक उपाय" उन्होंने निकाला, वह यह था कि जब भी किसी ट्रेन पर कोई

आक्रमण सफल हो जाए; तुरन्त उस ट्रेन के सुरक्षा-सैनिकों को एकत्र करके, जो-जो सैनिक घायल हुए हों उन्हें तो अलग छांट लिया जाए और शेष सैनिकों का कोर्ट-मार्शल करके; अपराधी पाए जाने पर; उन्हें वहीं गोली से उड़ा दिया जाए।

माउण्टबेटन ने सेना को आदेश दिया कि 48 घण्टों के भीतर दिल्ली में सुरक्षा सैनिकों की अतिरिक्त टुकड़ियां पहुंच जानी चाहिए। उन्होंने अपने निजी अंगरक्षकों में से भी अधिकांश को सुरक्षा कार्यों में लगा दिया। राजधानी में लावारिस पड़ी लाशों को जलाने या दफन करने का उन्होंने त्वरित प्रबन्ध करवाया। इतवार-समेत सारी छुट्टियां रद्द कर दी गई। जो सरकारी कर्मचारी काम पर नहीं आ रहे थे, उन्हें नोटिस दिए गए। टेलीफोन-व्यवस्था काबू में लाई गई। माउण्टबेटन ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि दिल्ली को किसी सूरत में गिरने नहीं देंगे, क्योंकि अगर राजधानी गिर गई, तो सारा देश लड़खड़ा जाएगा। दिल्ली से बाहर बसाए गए हिन्दू और सिख शरणार्थी शहर में घुसे आ रहे थे। उनके साथ चली आ रही थीं, मुसलमानों द्वारा किए गए अत्याचारों की वीभत्स कहानियां जो शहर का वातावरण विस्फोटक बनाए दे रही थीं। माउण्टबेटन ने जड़ पर प्रहार किया। सारे शरणार्थी उन्होंने शहर से निकलवाकर वापस तम्बुओं में भेजे और ऐसा प्रबन्ध किया कि जिससे आगे कोई नया शरणार्थी शहर में न आ सके।

पूरे उत्तर भारत की हवा इतनी बिगड़ चुकी थी कि आपातकाल-समिति के इन कठोर कदमों का प्रभाव प्रकट होते-होते कई हफ्ते लग गए; लेकिन यदि वे कदम न उठाए जाते, तो एक-एक हफ्ता गुजरने के साथ स्थिति और बिगड़ती जाती।

माउण्टबेटन ने गवर्नमेण्ट हाउस के वातावरण में एकाएक जो चुस्ती ला दी थी, उससे महात्मा गांधी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके थे। अपने दिल्ली आगमन पर जब उन्होंने पूर्व वायसराय से मुलाकात की तो गवर्नमेण्ट हाउस के नए वातावरण और नई उपयोगिता से उनको परिचित कराया गया। आखिर वह उस अध्ययन-कक्ष में लौटे जहां किसी दिन उन्होंने माउण्टबेटन से अनुनय के साथ कहा था कि वह भारत का विभाजन न करें।

''मेरे दोस्त!'' महात्मा बोले, 'मुझे खुशी है कि आपने ईश्वर की आवाज सुनी; भले ही गांधी की आवाज न सुनी।'

'वेल .... गांधीजी ....' माउण्टबेटन ने, जो उनका आशय ठीक से समझ नहीं पाए थे, उत्तर दिया, ''क्या मैं ईश्वर की आवाज भी आपकी आवाज से पहले नहीं सुनूँगा? लेकिन.... आखिर कहां मैंने आपकी सलाह का विरोध करके ईश्वर की सलाह मानी है?''

''इस बेवकूफ गांधी की आवाज न सुनने की सलाह आपको ईश्वर ने ही दी होगी। गांधी जी मुस्कराए। तभी आपने मेरे कहने के बावजूद, इतने बड़े इस मकान का त्याग नहीं किया। अब देख रहा हूं कि यहां तो भारत का दिल धड़कने लगा है। यहां आते ही महसूस हुआ कि भारत का शासन यहीं से और केवल यहीं से संचालित होता है। तूफान में आसरा

पाने के लिए यहीं आना चाहिए। मैं यहां तक कहूंगा कि यह जगह भविष्य में भी इसी तरह बनी रहे और आपके बाद के सभी शासक यहीं अपना निवास रखें।''

आगामी दो महीनों तक, पंजाब के मैदानों से गुजर रही त्रस्त मानवता के प्रचंड कारवां; लाल सिरों वाली छोटी-छोटी पिनों का रूप पा कर, गवर्नमेण्ट-हाउस के नक्शों पर, चींटी जैसी चाल से सरकते रहने वाले थे। पिनों के वे जरा-जरा से लालसिर, भयंकरतम, मानवीय पीड़ाओं के प्रतीक थे—ऐसी पीड़ाएं कि जिन्हें मनुष्य सहन न कर सके, लेकिन जिन्हें मनुष्यों ने ही सहन किया।

शरणार्थियों की समस्या दुनिया में समय-समय पर पैदा होती रही है, जिसके कारण अनेक असाधारण और अविस्मरणीय दृश्य सामने आए हैं; लेकिन क्या कोई दृश्य उस कारवां के नजदीक खड़ा हो सकता है, जिसमें आठ लाख व्यक्ति चलते देखे गए थे? भारत-विभाजन का उपहार वह कारवां, मानव इतिहास का सबसे बड़ा कारवां था; जिसकी प्रचण्डता की कल्पना-मात्र से दिल बैठने लगता है।

छोटे-बड़े अनेक कारवां, इधर-से-उधर और उधर-से-इधर सरक रहे थे। प्रत्येक कारवां की प्रगति के अनुसार, गवर्नमेण्ट हाउस के उन नक्शों पर, लालसिरों वाली पिनों को, धीरे-धीरे सरकाया जाता रहता। हर सुबह सरकारी हवाई-जहाज अपनी निरीक्षण उड़ानों पर उड़ते। भोजन और दवा के नाम पर जो भी उपलब्ध हो सकता, उसे वे उन कारवां पर गिराते। लूट-खसोट न मच जाए, इसके लिए हर प्रमुख कारवां के साथ सुरक्षा-सैनिक चलते। वे बन्दूक की नोक पर हर चीज के समान बंटवारे का प्रयास करते।

धीमे-धीमे सरकते कारवां को आसमान की ऊंचाइयों से देखना एक ऐसा अनुभव था, जिसे वे पायलट कभी न भूल सके। एक पायलट ने लिखा है कि वह दो सौ मील प्रति घण्टे की स्पीड से पूरे पन्द्रह मिनट तक उड़ता रहा और इसके बावजूद कारवां के इस छोर से उस छोर तक न पहुंच सका। दिन के वक्त कारवां के चलने से धूल की लम्बी लकीर आसमान की तरफ उठने लगती। हजारों गाय-भैंसें बैलगाड़ियां, ऊंट गाड़ियां आदि कारवां के साथ चलतीं और धूल उड़ातीं। रात को सब ठहर जाते-थकान और भूख के मारे। हर परिवार अपनी-अपनी आग जलाता, ताकि जो भी रूखा-सूखा तैयार हो सकता हो उससे पेट की आग बुझाए। धूल की बजाए अब धुएं की लकीर आसमान की तरफ उठने लगती। लम्बी और ऊंची लकीर, जो आगे पीछे सरकती न हो, एक ही जगह खड़ी-खड़ी उठ रही हो, और जिसकी तली में धधक रही हो आग आग.....।

कैप्टन एटकिन्स और उसके गोरखा सैनिकों ने शरणार्थियों की सुरक्षा के पीछे अनेक हफ्ते गुजारे। हिन्दुओं का कारवां वे भारत में ले जाते। मुसलमानों के कारवां को पाकिस्तान तक पहुंचाते। शरणार्थियों की एक विशेष मनस्थिति एटकिन्स को हमेशा याद रही। रवानगी के समय वे निश्चित रूप से प्रसन्न नजर आते। फिर; ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ते, त्यों-त्यों भूख-

प्यास और थकान के मारे बेहाल होते जाते। भीषण गर्मी उनसे सहन न होती। उन्हें डर-सा लगने लगता कि यह देशान्तर-यात्रा कभी खत्म होगी भी या नहीं? छोटी से छोटी चीज का वजन भी उन्हें भारी पड़ने लगता। एक-एक कर वे चीजें फेंकना शुरू करते। अन्त में; जब वे अपनी मंजिल तक पहुंचते, तो उनके पास कुछ भी शेष न रहा होता। बिल्कुल कुछ नहीं।

सबसे दुर्भाग्यशाली वे होते, जो अपनी देशान्तर यात्रा पूरी कर ही न पाते। बूढ़े जल्दी थक जाते; और बच्चे भी। बीमारों के लिए भी सम्भव न होता कि वे चलते जाएं, चलते जाएं। जिन मां-बापों की शक्तियां इतना साथ न देती कि वे बच्चों को उठाकर आगे बढ़ते रह सकें, वे उन्हें रास्ते में ही त्याग कर खुद कारवां के साथ निकल जाते। ऐसे बच्चे भूख-प्यास से तड़प कर मरते। चलते कारवां में से, अचानक वे बुजुर्ग अलग निकल आते, जिनकी ताकत जवाब दे चुकी होती। वे, रास्ते के नजदीक किसी परछाई की खोज करते, जिसकी शान्ति में बैठकर अपने कष्टपूर्ण अन्त की प्रतीक्षा कर सकें।

नेहरू जी के मुख्य सचिव एच.वी.आर. आयंगर की मुलाकात भारतीय सेना के दो लेफ्टिनेण्टों से हुई, जो अपनी स्टेशन-वैगन में एक लाख शरणार्थियों के कारवां के पीछे-पीछे चल रहे थे। उन्होंने बताया कि वे नवजात शिशुओं और मुर्दों की देखभाल कर रहे हैं। ज्यों ही किसी स्त्री की प्रसव-वेदना शुरू होती, उसे स्टेशन वैगन के पिछले हिस्से में एक नर्स के साथ जगह दे दी जाती। स्टेशन वैगन केवल इतनी देर रुकती कि प्रसव हो सके। कुछ घण्टों के ही भीतर उस स्त्री को अपनी सन्तान समेत स्टेशन वैगन खाली कर देनी पड़ती, ताकि कोई और स्त्री प्रसव के लिए भीतर आ सके। नवजात शिशु को हाथ में लिए वह स्त्री भारत की दिशा में पैदल चल पड़ती।

कारवां अपने पीछे लाशों की जो गन्दगी छोड़ जाते, उसका वर्णन मुश्किल है। लाहौर से अमृतसर के बीच की पैंतालीस मील लम्बी सड़क पर से अनेक कारवां गुजरे। वह पूरी सड़क किसी लम्बी और खुली कब्र जैसा रूप पा गई। इतनी भयानक गन्ध आती कि कैप्टन एटकिन्स को जब भी उस सड़क से गुजरना पड़ा, उसने आफ्टर-शेव लोशन से भीगा रूमाल अपनी नाक पर रखने के बाद ही कदम बढ़ाए। जैसा कि एटकिन्स को हमेशा याद रहा, "एक-एक गज पर लाश पड़ी दिखाई देती। कोई कत्ल होकर पड़ा है। तो कोई कॉलरा का शिकार होकर। गिद्ध लाशें खा-खाकर इतने भारी हो गए कि उड़ भी नहीं सकते थे। जंगली कुत्तों को स्वाद का ऐसा नशा पड़ गया कि वे लाशों के केवल यकृत खाते; बाकी अंगों को छोड़ देते।"

सड़कों पर और मैदानों में, मीलों के विस्तार में फैलकर चलते कारवां की रक्षा कैसे की जाए, इस समस्या को सही ढंग से कभी न सुलझाया जा सका। लम्बी यात्रा के दौरान कभी भी और कहीं से भी उस पर आक्रमण हो जाते। जैसा कि हमेशा होता था, सिखों के आक्रमण सर्वाधिक सुगठित और खूंख्वार हुआ करते। उन के जत्थे गन्ने और गेहूं के खेतों में

से अचानक प्रकट होकर, भयंकर चीत्कार के साथ, कारवां के उस हिस्से पर टूट पड़ते, जहां सुरक्षा प्रबन्ध सबसे कमजोर होता। कारवां के जो लोग लड़खड़ा कर पीछे रह जाते, उन पर भी वे भयानक आक्रमण करते।

कई बार हिन्दुओं और मुसलमानों के कारवां, आमने-सामने से, एक ही सड़क पर पार होने लगते। तब उनका व्यवहार कैसा रहेगा, पहले से कोई अनुमान न लगा सकता। घृणा की आग में झुलसते वे लोग एक-दूसरों पर टूट पड़ते और उन्हें छुड़ाना मुश्किल हो जाता। इन आपसी झगड़ों में लाशें तक गिर जातीं। कई बार; एक-दूसरे को पार करते मुसलमान, हिन्दुओं को बताते और हिन्दू भी मुसलमानों को बताने लगते कि अपने पीछे वे कौन-कौन सी जगहें खाली छोड़ आए हैं—कि जहां आप लोग जाकर कब्जा जमा लें।

अश्विनी कुमार नामक एक नौजवान पुलिस अधिकारी को वह दृश्य हमेशा याद रहने वाला था; जब अमृतसर और जालंधर के बीच ग्रेट ट्रंक हाईवे पर, हिन्दू शरणार्थियों का एक लम्बा कारवां मुसलमानों के एक लम्बे कारवां की बगल से गुजरा। किसी ने किसी की तरफ न देखा। इशारों से, शब्दों से या आंखों से उनके बीच बिल्कुल कोई लेनदेन न हुआ। एक गाय कभी इस कारवां में घुस पड़ती और कभी उस कारवां में। बैलगाड़ियों के चके चरमरा रहे थे। लाखों पैर धरती पर धप्प-धप्प चल रहे थे। बीमार और बूढ़े धीमे-धीमे कराह रहे थे। दोनों कारवां अगल-बगल से यों आगे निकल गए, जैसे एक-दूसरों का अस्तित्व ही उन्होंने नकार दिया हो। निःसन्देह उन शरणार्थियों ने आपस का दुःख दर्द समझ लिया था और वे डर गए थे कि यदि उन्होंने एक-दूसरों को नकारा नहीं, तो कहीं आपस में लड़ने न लग जाएं—और इससे तो दुःख-दर्द और बढ़ेगा.......।

सितम्बर की उस झुकती दोपहरी को, सतलज के किनारे, सुलेमानकी पर भारी बदन का वह बीस-वर्षीय नौजवान रुका रह गया था। पंजाब की तीनों महान् नदियों रावी,. सतलज और व्यास के किनारों पर शरणर्थियों का सागर एकत्र हो गया था; क्योंकि नदियों के पुलों को शरणार्थी उस दर से पार नहीं कर सकते थे, जिस दर से कि वे आते जा रहे थे। उन्हें न केवल अनेक घटों तक, बल्कि कई बार तो दिनों तक, पुल पार करने की अपनी बारी की प्रतीक्षा करनी पड़ी। नदियों में नावें भी बार-बार चलाई जातीं, लेकिन उनके कारण कोई विशेष राहत नहीं थी।

उस बीस-वर्षीय नौजवान की आंखें गहरी और बड़ी-बड़ी थीं। मोटे-होठों के ऊपर उस की मूंछें काफी विरल थीं। उसके घने बाल बिल्कुल काले थे। उसका नाम था मदनलाल पाहवा; जो अपने दूर के एक भाई की बस लेकर देशान्तर यात्रा पर निकल पड़ा था और जिसके पिता ने केवल इसलिए पाकिस्तान में ही रुके रहने की जिद पकड़ ली थी कि ज्योतिषी के अनुसार, भारत की ओर रवाना होने का शुभ दिन अभी आया नहीं था।

पुल के पश्चिमी छोर पर, पाकिस्तानी सैनिकों ने मदनलाल पाहवा से सब कुछ छीन लिया था—उसकी बस, फर्नीचर, कपड़े, सोना, नोट, सिक्के; यहां तक कि भगवान शिव

की तस्वीर भी। जैसा कि अन्य लाखों व्यक्तियों के साथ हुआ; मदनलाल जब पुल पार करके इस तरफ अपने देश भारत में आया, तो असबाब के नाम पर उसके पास केवल पहने हुए कपड़े ही थे। मदनलाल ने महसूस किया, मानो उसे बिल्कुल नंगा करके सड़क की धूल पर फेंक दिया गया हो। उसने मन-ही-मन कसम खाई कि जिस तरह वह भारत में आया है, उसी तरह वह मुसलमानों को भी पाकिस्तान रवाना करेगा—हाथ में झोला नहीं, जेब में फूटी कौड़ी नहीं.........

भारतीय जमीन पर पैर रखने के थोड़े ही दिनों बाद अपने रिश्तेदारों से मदनलाल को खबर मिली की उसका पिता फिरोजपुर के सैनिक अस्पताल में घायल पड़ा है; क्योंकि जिस ट्रेन से वह भारत की ओर आ रहा था, उस पर मुसलमानों ने कातिलाना हमला किया। मदनलाल तुरन्त फिरोजपुर पहुंचा। रक्त और दवाओं की गन्ध से सने हास्पिटल के जबर्दस्त वार्ड में, भारत के असीम दुःख-दर्द के बीच, मदनलाल के लिए सहसा एक चेहरा प्रस्तुत हो रहा था-उसके पिता का चेहरा कश्मीरीलाल।

जुलाई, 1947 में कश्मीरीलाल ने दिल्ली जाकर पण्डित नेहरू के सचिवों में से एक सरदार त्रिलोकसिंह से मुलाकात की थी, ताकि उसके पुत्र मदनलाल को कोई ठीक-ठाक नौकरी दिलाई जा सके। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रभाव से मदनलाल को छुड़ाना तभी सम्भव हो सकता था; जब, सबसे पहले, उसे कोई ठीक-ठाक नौकरी मिले। सरदार त्रिलोकसिंह से कश्मीरीलाल की अच्छी दोस्ती थी।

त्रिलोकसिंह ने वादा किया कि वह उसके बेटे को पुलिस-विभाग में सहायक उप निरीक्षक का पद अवश्य दिलवा देगा। पंजाब में उतनी भयंकर अराजकता छाई होने के बावजूद, यह एक चतम्कार ही था कि त्रिलोकसिंह का सिफारिशी पत्र कश्मीरीलाल तक पहुंच गया।

घायल कश्मीरीलाल ने वह पत्र अपने बेटे मदनलाल को दिया और आग्रह किया कि इस सरकारी नौकरी को स्वीकार करके अब तुम एक नया जीवन शुरू करो।

मदनलाल ने पत्र ले तो लिया, किन्तु सरकारी नौकरी स्वीकार करके नया जीवन शुरू करने का उसका कोई इरादा नहीं था। बचपन में मदनलाल के लिए ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी, "इसका नाम देश भर में जाना जाएगा।" सचमुच मदनलाल पाहवा ने वह कर दिखाया कि उसका नाम देश भर में जाना गया।

जब वह अस्पताल से बाहर आया, तो घायल पिता की सूरत उसकी नजरों के सामने से हटती नहीं थी। उसके सीने में एक ऐसी आग सुलग रही थी, जो भारत में उस वर्ष हजारों-हजारों के सीने में सुलग उठी थी 'बदला! मैं बदला लूंगा!' निःसन्देह, उस बदले का सम्बन्ध, पुलिस विभाग में नौकरी करने के साथ किसी प्रकार नहीं जुड़ता था।

सर फिरोजखान नून की खूबसूरत अंग्रेज पत्नी विकी नून की जिन्दगी अब एक छोटी-सी गोल डिबिया में बन्द माल के आधार पर टिकी हुई थी। उस डिबिया में काली बूट

पालिश थी। मण्डी के हिन्दू राजा के यहां विकी ने जो आसरा पाया था, वह क्षण-भंगुर ही साबित हुआ। सिखों ने धमकी दी थी कि राजा के बच्चों का अपहरण कर लिया जाएगा, यदि विकी नून को महल से बाहर न निकाला गया।

गौतम सहगल नामक एक नौजवान हिन्दू सीमेण्ट-व्यापारी को सर फिरोजखान नून ने अपनी पत्नी के उद्धार के लिए भेजा था। उसने और राजा ने विकी को पोटेशियम-परमेंगनेट से स्नान करवाया, ताकि उसका गोरापन कुछ कम हो। रात के समय उसे महल से बाहर निकाल दिया जाना था। यदि सिखों से आमना-सामना हुआ तो पहली नजर में तो विकी हिन्दुस्तानियों जैसी काली दिखाई पड़नी ही चाहिए। इसीलिए वे उस बूट पालिश से विकी का चेहरा रंग रहे थे।

सूरज डूबने पर, राजा की रॉल्स-रॉयस गाड़ी महल से बाहर निकली। चारों तरफ से उसके परदे गिरे हुए थे। विकी नून उसमें बैठी हुई नहीं थी। वह गाड़ी केवल सिखों को झांसा देने के लिए निकाली गई थी। इसके कुछ ही मिनटों बाद गौतम सहगल की डॉज गाड़ी बाहर निकली। उसके परदे गिरे हुए नहीं थे लेकिन उसकी पिछली सीट पर विकी नून धडल्ले से बैठी हुई थी। मस्तक पर लाल तिलक लगाए, नाक में नथनी पहने, लहराती साड़ी में अपना बदन छिपाए और चेहरे पर काली बूट पालिश मले हुए वह सुन्दरी अत्यन्त शान्ति से बैठी हुई थी, जबकि उसका ह्रदय मारे आशंका के डूबा जा रहा था।

गौतम की डॉज गाड़ी राजधानी में से सकुशल बाहर निकल गई। विकी की चढ़ी हुई सांस अब कुछ नीचे उतरी। रास्ते में विकी को लघुशंका के लिए बाहर निकलना पड़ा। तेज बारिश हो रही थी। बूट पालिश की डिबिया, न जाने कैसे विकी की साड़ी में से फिसल कर रात के अन्धेरे में लुढ़क गई। विकी सीत्कार कर उठी। बारिश में उसका गुप्त वेश धुला जारहा था। या तो उसकी शक्ल जेब्रा जैसी धारियोंदार हो गई होगी, या फिर...... उसका रंग साफ उभर आया होगा। जल्दी-जल्दी वह अन्धेरे में टटोल कर डिबिया ढूंढ़ने लगी। सौभाग्यवश, जब डिबिया उसे मिल गई, तो उसके मुंह से प्रसन्नता की किलकारी सी फूट पड़ी। डिबिया को उसने ऐसे पकड़ लिया, जैसे उसमें कीमती हीरे भरे हों। विकी दौड़कर कार में घुसी, जहां गौतम सहगल ने उस के चेहरे पर काली बूट पालिश दुबारा लगाकर एकसार की।

गुरदासपुर थोड़ा-सा ही दूर रह गया था कि सड़क पर रोड़े पड़े होने के कारण कार रोकनी पड़ी। वहां सिखों की टुकड़ी मौजूद थी। जिसने तुरन्त कार को घेर लिया। उन सिखों के बीच सहगल ने एक ऐसे व्यक्ति को पहचाना, जिसके साथ कभी वह सीमेण्ट का व्यापार कर चुका था।

"क्या चक्कर है ?" सहगल ने उस व्यक्ति से पूछा।

"मण्डी के महाराजा के यहां से फिरोजखान नून की अंग्रेज औरत निकल भागी है। इलाके का हर सिख उसी की खोज में है।" जवाब मिला।

सहगल ने कहा, ''महाराजा-मण्डी की रॉल्स-रॉयस तो बीस मील पीछे मेरे सामने से गुजरी है। महाराजा अमृतसर जा रहे थे। साथ में उनकी गर्भवती पत्नी भी थी।''

सिख ने सहगल की कार के अन्दर झांका। विकी का कलेजा मुंह तक आने लगा। रात का अन्धेरा तो है, लेकिन क्या बूट पालिश की नकली कालिमा पकड़ी नहीं जाएगी? यदि इस सिख ने उसके साथ पंजाबी या हिन्दी में बात करने की कोशिश की, तो? सिख की अत्यन्त कौतूहली नजर उसी पर टिकी हुई थी। फिर वह कार से पीछे हट गया। उसका इशारापाकर रोड़े खिसका लिए गए और सहगल की कार गुर्रा कर आगे बढ़ गई।

अब वे भारतीय सेना के मुख्यालय की ओर बढ़ रहे थे, जहां विकी पर कोई खतरा नहीं आ सकता था। गहरी सांस के साथ विकी पिछली सीट पर निढ़ाल हो गई। पॉलिश की डिबिया का ढक्कन उसने दो-तीन बार अनमने भाव से बजाया। फिर वह सहगल से मुखातिब हो गई, ''यू नो, गौतम! अब मैं यह डिबिया सारी जिन्दगी सम्भाल कर रखूंगी। मिस्टर नून चाहे कितने ही कीमती हीरे-मोती-खरीदकर देते रहें; सबसे ज्यादा प्यार मैं इसी डिबिया से करूंगी।''

विकी नून का वह असाधारण अनुभव एक अपवाद ही था। सिखों की घृणा का केन्द्र वह इसीलिए नहीं बनी कि अंग्रेज थी; बल्कि इसलिए बन गई कि उसने एक प्रसिद्ध मुसलमान से शादी कर ली थी। दंगों के उस माहौल में शायद ही किसी अंग्रेज को कुछ भुगतना पड़ा हो। अपने क्लबों में अंग्रेज उसी तरह शराब पी रहे थे, संगीत की धुनों पर उसी तरह नाच रहे थे।

नई दिल्ली; 9 सितम्बर, 1947

अनशन की कमजोरी से महात्मा गांधी अभी उबर नहीं पाए थे। सितम्बर, 1947 की 9 तारीख को वह कलकत्ता से दिल्ली आ पहुंचे। फिर उन्हें दिल्ली से निकलने का अवसर कभी न मिल सका। इस बार इसका सवाल ही नहीं था कि वह हरिजनों के साथ जा कर रहते। कारण, हरिजनों की अलग बस्तियां अब रही ही कहां थीं? वहां पंजाब के क्रुद्ध शरणार्थी छा गए थे।

नेहरू और पटेल के अत्यधिक आग्रह के कारण गांधी जी ने बिड़ला हाउस में ठहरना स्वीकार कर लिया। हिंसा की लपटें बिड़ला हाउस के आस-पास तो नहीं पहुंच सकी थीं, किन्तु दिल्ली के अन्य अधिकांश क्षेत्रों में हिंसा के नए-नए ज्वालामुखी फूटते जा रहे थे। रास्तों पर लावारिस लाशों की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी।

दिल्ली के मुसलमानों को, जिनमें से अधिकांश अब पाकिस्तान चले जाना चाहते थे, एक कर ऐसे शरणार्थी शिविरों में बसाया गया; जो हिन्दुओं और सिखों के आक्रमणें से तो बचे हुए थे, किन्तु 'गन्दगी' नामक उस दुश्मन से नहीं, जो उन्हीं के बीच पैदा हुआ और विभिन्न बीमारियों के बाने पहन कर सब की जान लेने लगा। हुमायूं के मकबरे और पुराने

किले में डेढ़ से दो लाख मुसलमान शरणार्थी बसाए गए। वे इस हद तक डरे हुए थे कि अपने मृतकों को दफनाने के लिए भी उन्होंने उन सुरक्षात्मक दीवारों से बाहर निकलने से इन्कार कर दिया। लाशों को वे ऊंची दीवारों पर से बाहर की तरफ गिरा दिया करते, जिधर गिद्धों और कुत्तों आदि द्वारा खूब मस्ती छानी जाती। पुराने किले में केवल पच्चीस हजार लोग आ कर रहे, तो सब कुछ चौपट हो गया। एक प्रत्यक्षदर्शी ने दावा कि कि वहां जिस नाली पर लोग दीर्घशंका और उल्टी करते बैठे थे, उसी नाली के पानी से औरतें भोजन पकाने के लिए बर्तन धो रही थीं।

दिल्ली में ज्यों ही गांधी का आगमन हुआ, मुसलमान शरणार्थियों में नई जान पड़ गई। जब तक जिन्ना भारत में थे, मुसलमानों ने हमेशा उन्हीं को अपना मसीहा माना। अब जब जिन्ना पाकिस्तान चले गए थे; मुसलमानों ने उनके राजनीतिक दुश्मन महात्मा गांधी को मसीहा मान लिया।

बिड़ला हाउस में मुसलमानों के अनेक प्रतिनिधि मण्डल आकर महात्मा से मिले और गिड़गिड़ा कर कहने लगे कि अगर आप शान्ति-स्थापना के लिए पंजाब चले गए, तो दिल्ली में हमारा सत्यानाश हो जाएगा। हिन्दुओं और सिखों द्वारा किए गए अत्याचारों की ऐसी कथाएं उन्होंने महात्मा के सामने रखीं कि वह स्तब्ध रह गए। उन्हें फैसला करना ही पड़ा कि जब तक दिल्ली अपनी पुरानी गौरवमय शान्ति को प्राप्त नहीं कर लेती, तब तक वह पंजाब नहीं जाएंगे।

लेकिन उसी दिल्ली ने इस बार उनका स्वागत 'मुर्दाबाद!' के नारों से किया। सत्य, अहिंसा और प्रेम पर गांधी जी का विश्वास ज्यों-का-त्यों अडिग था। महात्मा की अन्तर-आत्मा बिल्कुल नहीं बदली थी—लेकिन भारत बदल गया था। महात्मा के उपदेश ऐसे थे, जिन्हें केवल देवता ही पचा सकें....... और उन शरणार्थी शिविरों में देवताओं की मृत्यु हो चुकी थी।

नाजुक सेहत के बावजूद गांधी जी रोज उन शरणार्थियों से मिलने जाया करते, जिन के सीनों में केवल बदले की आग सुलग रही थी। पंजाबियों के एक शिविर में किसी ने उनसे पूछा, ''आप हमें अहिंसा का उपदेश देते हैं। कहते हैं कि हम हथियार छोड़ दें। फिर हम जिन्दा कैसे रहेंगे? पंजाब के मुसलमान हिन्दुओं को देखते ही कत्ल कर देते हैं। क्या हम लोग लाचार भेड़ों की तरह खड़े-खड़े मरते जाएं?''

''अगर एक-एक पंजाबी कत्ल हो जाए, लेकिन खुद किसी को कत्ल न करे; तो पंजाब को अमर होने से कोई नहीं रोक सकता।'' गांधी जी ने उत्तर दिया, जो किसी की समझ में न आया।

कलकत्ता में उन्होंने लाखों मुसलमानों की जान बचाई होने के बावजूद मुसलमान शरणार्थियों ने भी उन्हें हूट किया। एक शिविर में दो महीने का नन्हा शिशु उन्हें थमाने की

चेष्टा के साथ किसी मुसलमान ने पूछा, "क्या आपकी अहिंसा इसकी मां को वापस ला सकती है?"

नन्हे शिशु की विडम्बना देखकर गांधी जी की आंखें भीग आईं। वह बोले "हौसला मत छोड़िए, चाहे खुदा का नाम लेते-लेते जान ही क्यों न देनी पड़े।" उनकी इस बात का मर्म भी किसी को समझ में न आया।

जब वह पुराने किले के शिविर में गए, तो उन्होंने किसी को साथ नहीं रखा था। मुसलमान शरणार्थियों ने उन्हें कोसते हुए कार को घेर लिया। क्रुद्ध नारों के बीच किसी ने खटाक से कार का दरवाजा खोला। शान्ति के साथ गांधी जी उतरे और उनके बीचे खड़े हो गए। उपवास के कारण उनकी आवाज इतनी धीमी थी कि भीड़ के शोर में ठीक से सुनाई भी नहीं दे रही थी। किसी-न-किसी व्यक्ति को उनके शब्द ऊंचे स्वर में दोहराने पड़ते, ताकि भीड़ को पता चले कि उन्होंने क्या कहा।

उन्होंने कहा कि मेरे लिए सब मानव बराबर हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख सबको मैं एक जैसा चाहता हूं। मुझे मालूम है कि घाव की पीड़ा सबको एक जैसी होती है।

महात्मा का अन्तिम वाक्य पूरा हुआ भी नहीं था कि मुसलमानों ने फिर से उनके विरुद्ध नारे शुरू कर दिए।

अपनी प्रार्थना-सभाओं में गांधी जी केवल गीता के श्लोक कभी नहीं बोलते थे। गुरु ग्रन्थ साहब, बाइबल, कुरान आदि के उद्धरण भी वह जनता के सामने हमेशा रखा करते। उन्हें आभास मिल गया था कि अब जब वह कुरान का उल्लेख करते हैं, तो हिन्दुओं को बौखलाहट होने लगती है। इसके बावजूद, गांधी जी ने अपनी निष्पक्षता का त्याग नहीं किया।

उस शाम, प्रार्थना-सभा में, अचानक किसी ने नारा लगाया, "गांधी मुर्दाबाद!" और सम्पूर्ण सभा विरोध में उठ खड़ी हुई, "गांधी मुर्दाबाद!" महात्मा के लिए यह इतना अप्रत्याशित था कि वह देखते रह गए। उन्होंने बोलने की कोशिश की, लेकिन जनता ने फिर हूट कर दिया। दक्षिण अफ्रीका और भारत में जो कार्य गोरों द्वारा भी कभी नहीं किया जा सका था, वही कार्य स्वयं उन्हीं के देशवासियों ने सम्पन्न कर दिखाया जीवन में पहली बार गांधी को अपनी बात बीच में अधूरी छोड़ देनी पड़ी। उस शाम उन की प्रार्थना-सभा पूरी नहीं हो सकी।

बदला किस प्रकार लिया जाए; इस महत्वपूर्ण अकुलाहट भरे प्रश्न को मदनलाल पाहवा ने, ज्योतिषियों के अनुसार जिस का नाम सारे भारत में फैलने वाला था, एक वैद्य के दवाखाने में हल किया। वह दवाखाना था ग्वालियर में, जो दिल्ली से 194 मील दक्षिण-पूर्व में स्थित है। इसी ग्वालियर का महाराजा बिजली की ट्रेनों पर मुग्ध रहा था। उस वैद्य का नाम था दत्तात्रेय परचुरे। खांसी-जुखाम और न्यूमोनिया को ठीक कर देने वाली उसकी आयुर्वेदिक औषधि 'सीतोपलादि' सारे ग्वालियर में अत्यन्त प्रसिद्ध थी। उसका गंजा सिर काफी बड़ा था।

मुंह में एक दांत भी नहीं। जब वह मुस्कराता, तो गांधी जी से काफी मिलता-तुलता नजर आता। वह गांधी के विचारों का कट्टर दुश्मन था। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की ग्वालियर शाखा का नेता वही था।

मदनलाल पाहवा उसके दवाखाने में खांसी, जुखाम या न्यूमोनिया की शिकायत लेकर नहीं आया था। वह वहां राजनीति का खेल खेलने आया था।

मुसलमानों के घोर विरोधी परचुरे के अनुयायियों की फौज में एक हजार से कम सदस्य नहीं थे; जिनके जोर पर, निकट भविष्य में, भारत में से कम-से-कम साठ हजार मुसलमानों को बाहर निकाल देने का दावा दत्तात्रेय परचुरे हमेशा किया करता।

दवाखाने और राजनीतिक सहयोगियों के चन्दे से जो मिलता; परचुरे; द्वारा उसका अधिकांश चाकू-छुरों, बघनखों और विस्फोटकों आदि की खरीद में खर्च कर दिया जाता। नए-नए चेलों को अपनी सेना में भरती करने के लिए वह हमेशा लालायित रहता। भारी बदन के उस नौजवान शरणार्थी में परचुरे ने स्वयं के लिए एक अत्यन्त उपयोगी व्यक्ति के दर्शन किए। परचुरे ने मदनलाल पाहवा से कहा कि मुसलमानों से बदला लेने का पूरा अवसर मैं तुम्हें दिलवाऊंगा। जितने मुसलमानों को मार सको, मारो। बदलें में तुम्हारे खान-पान, रहन-सहन और सुरक्षा आदि की सब जिम्मेदारियां मेरी।

मदनलाल ने स्वीकार कर लिया। एक महीने तक वह परचुरे के सैनिकों के साथ, उन मुसलमानों की हत्याएं करने निकलता रहा, जो भोपाल से दिल्ली पलायन कर रहे होते। पाकिस्तान में मदनलाल के पिता को मार डालने की चेष्टा जिस तरीके से की गई थी, ठीक वही तरीका मदनलाल और उसके साथियों द्वारा अपनाया जाता। ट्रेन रोको। डिब्बों में घुसो। चुन-चुन कर मारो।

उन की गतिविधियां इतनी साहसपूर्ण और खतरनाक होती चलीं कि बात दिल्ली तक पहुंची। महात्मा गांधी ने भी अपनी प्रार्थना-सभा में उनकी भर्त्सना की। आखिर ग्वालियर के महाराजा पर दबाव आया और महाराजा ने परचुरे पर दबाव डाला।

कुण्ठित होकर मदनलाल बम्बई चला गया। वहां एक शरणार्थी शिविर में स्वयं को दर्ज करा कर उसने पचास नौजवान साथी एकत्र किए। मदनलाल के नेतृत्व में यह टुकड़ी बम्बई के मुसलमान इलाकों में छोटे-बड़े ऊधम मचाती रहती। फिर उन्होंने एक बड़ा कदम उठाया।

मुहर्रम के अवसर पर यह टुकड़ी तीन हथगोले लेकर अहमदनगर पहुंची—बम्बई से 132 मील दूर। वहां, मुसलमानों के जुलूस पर हथगोले फेंककर सब भागे।

शहर के अनजाने रास्तों पर भागते मदनलाल को अचानक आर.एस.एस. का एक झण्डा दिखाई दिया। वह 'डेक्कन-गेस्ट हाउस' नामक एक मामूली होटल की बालकनी में

लटक रहा था। मदनलाल अन्दर घुस गया। गेस्ट हाउस के मालिक से उसने तपते स्वर में कहा, 'मुझे छिपाइए। मैंने मुहर्रम के जुलूस पर अभी-अभी बम फेंका है।'

मालिक अन्य कोई नहीं, बल्कि विष्णु करकरे था—स्थानीय आर.एस.एस. का 37 वर्षीय नेता। मदनलाल पाहवा के शब्दों पर वह उछल पड़ा। मदनलाल को उसने स्नेह भरे आलिंगन में कस लिया।

पंजाब; सितम्बर-अक्टूबर, 1947

सिखों के दसवें गुरु ने अपने अनुयायियों से विशेष आग्रह किया था कि वे मुसलमान स्त्रियों के यौन-सम्पर्क में आने से बचें। इसका परिणाम वही हुआ, जो कि होना था—सिखों के मन में यह धारणा घर कर गई कि मुसलमान स्त्री को भोगने से कोई विशेष ही तृप्ति मिलती है। पंजाब के उन हुल्लड़ों में सिख अपने दसवें गुरु के उपदेश को पूर्णतया भूल गए। 'विशेष तृप्ति देने में सक्षम' मुसलमान स्त्रियों के वे दीवाने हो चले। मुसलमानों को जान से मार देने का मौका एक बार भले ही वे चूक जाते, लेकिन उनकी स्त्रियां उठा लाने का मौका वे न चूकते। पूर्वी पंजाब में मुसलमान युवतियों की खुली-नीलामी तक होने लगी। चुपके-चुपके खरीद-फरोख्त तो चल ही रही थी।

बूटासिंह नामक उस 55 वर्षीय सिख ने बर्मा में, लॉर्ड माउण्टबेटन के तहत, सेना की नौकरी की थी। अब वह खेतीबाड़ी करके दिन गुजार रहा था। सितम्बर की शाम को, जब वह अपने खेतों में व्यस्त था, सहसा किसी स्त्री की डरी हुई चीखों ने उसे चौंका दिया। पलट कर देखा, तो जान-पहचान का एक सिख, एक नवयुवती के पीछे, लपकता चला आ रहा था। युवती बूटासिंह के पैरों से लिपट कर गिड़गिड़ाने लगी, "बचाइए। मुझे बचाइए।"

बूटासिंह युवती और उस सिख के बीच खड़ा हो गया। माजरा क्या है, उसने पलक झपकते समझ लिया था। वह युवती मुसलमान थी और सिख ने उसे एक गुजरते कारवां के बीच से उड़ाया था। बूटासिंह ने अब तक शादी नहीं की थी। एक तो उसका परिवार ही इतना गरीब रहा कि शादी का खर्च न झेल सके। दूसरे, स्वयं बूटासिंह अत्यन्त झेंपू स्वभाव का व्यक्ति था।

"कितना लोगे?" बूटा ने सिख से पूछा।

"केवल पन्द्रह सौ" जवाब मिला।

बूटासिंह ने कोई मोलभाव न किया। बड़ी मशक्कत से उसने पन्द्रह सौ रुपए एकत्र कर रखे थे। उन रुपयों से उसे न जाने क्या-क्या कार्य करने थे। उन सभी कार्यों को ताक पर रख कर उसने रुपयों की गड्डी निकाली और सिख को थमा दी।

जो युवती उसने खरीदी, वह केवल सत्रह वर्ष की थी—उस से अड़तीस साल छोटी। उसका नाम था जेनिब। वह राजस्थान के एक गरीब परिवार की लड़की थी। अकेलेपन से

परेशान वह सिख उस पर मुग्ध हो गया। बूटासिंह के लिए जेनिब बेटी थी और पत्नी भी। बूढ़े का वह एक जिन्दा खिलौना थी। जेनिब की कोमल मौजूदगी ने बूटा की जिन्दगी ही पलट दी। जेनिब पर वह इस कदर लट्टू हो गया कि उससे ज्यादा लट्टू मजनूं भी अपनी लैला पर न हुआ होगा। साज-शृंगार और पहनने-ओढ़ने की चीजों का बूटा ने उसके सामने ढेर लगा दिया।

बूटा से उतनी मधुरता की आशा जेनिब ने कदापि नहीं रखी थी। देशान्तर यात्रा पर चलने से पहले जेनिब हिन्दुओं ने बहुत मारा-पीटा और उससे बलात्कार किए। उसी जेनिब को जब बूटासिंह ने जन्नत की हूर मान लिया, तो वह पानी-पानी हो गई। शीघ्र ही वह एक ऐसी धुरी बन गई, जिसके चारों ओर बूटासिंह का जीवन घूमने लगा।

जेनिब अपने बूटासिंह के साथ सुबह से शाम तक काम करती। रात को दोनों संग-संग सो जाते। आखिर बूटा ने जेनिब से बकायदा शादी कर ली। कुछ हफ्तों बाद, जेनिब ने शरमा-शरमा कर, अपने बूढ़े बालम को सूचित किया कि वह मां बनने वाली है। बूटासिंह की बांछें खिल गईं। जेनिब और बूटा दोनों को लगा कि अब वे स्वर्गीय सुख भोगने वाले हैं। उन्हें नहीं मालूम था कि यातना के साक्षात् नरक के दरवाजे उनके लिए खुलने की तैयारी में हैं।

शरणार्थी ज्यों-ज्यों और आते गए, त्यों-त्यों उन के शिविरों की दशा बद से बदतर होती गई। मौत, बीमारी और सड़ांध उन शिविरों पर चौबीसों घण्टे उसी तरह छाई रहती, जैसे सुबह के वक्त किसी झील पर कोहरा छा जाता है। कोहरे में सौन्दर्य की खोज करना मुश्किल नहीं; किन्तु उस गन्ध का सौन्दर्य के साथ कोई नाता नहीं था। सेना के कर्मचारी जब भी उन शिविरों में राहत कार्य के लिए जाते, व्यंग से कहा करते, ''यह आजादी की गन्ध है!''

गांधी जी जानते थे कि दिल्ली में ऐसा एक भी राजनीतिक नेता नहीं, जो शरणार्थियों के दुख-दर्द को उतनी गहराई से समझता हो और उनकी सेवा के पीछे उतना दीवाना हो— जितनी कि वह अंग्रेज महिला, जिसके बाल भूरे थे और जो कड़क इस्तरी की हुई सेण्ट जॉन पोशाक पहनती थी। विभाजन से पहले के दिन, लॉर्ड माउण्टबेटन के गौरव के दिन थे। विभाजन के बाद के दिन, लेडी एडविना माउण्टबेटन के गौरव के दिन साबित हुए।

रोज सुबह छह बजे तैयार होकर, लेडी माउण्टबेटन अपनी मेज के सामने आ जाती। आते ही निकल पड़ती अपने दौरों पर। इस शिविर से उस शिविर। इस अस्पताल से उस अस्पताल। किसे दुख है ? किसे क्या चाहिए ? एक-एक शरणार्थी को रोग-निरोधक टीके लगे या नहीं ? सन्डास की व्यवस्था सुधर क्यों नहीं रही ? प्रश्न सैकड़ों थे और एडविना अकेली। चौबीस घण्टों में वह मुश्किल से चार घण्टे सो पा रही थीं।

कोई रात इतनी डरावनी नहीं थी, कोई गन्दगी इतनी वीभत्स नहीं थी, कोई मरीज इतना अछूत नहीं था; जो एडविना माउण्टबेटन को अपने सेवा-धर्म से पीछे हटा सकता। लाखों शरणार्थी, लेडी माउण्टबेटन को, अपनी स्नेहमयी मां की तरह याद रखने वाले थे।

मुसीबत के मारे उन लोगों पर अभी एक और मुसीबत टूट पड़ने को थी। अगस्त और सितम्बर में लाखों शरणार्थियों के जो कारवां भारत और पाकिस्तान के बीच आए-गए थे उन पर सूर्य ने अपनी किरणों की बौछार पूरी बेरहमी से की थी। लू और धूप में हजारों की जानें निकल गई थीं। बारिश की एक बूंद के लिए शरणार्थी तरस गए थे।

रुकी हुई बारिशें जब अचानक आई, तो यही लगा, जैसे आसमान फट गया है। वैसी बारिशें पिछली आधी शताब्दी में कभी नहीं देखी गई थी। पंजाब के तमाम छोटे-बड़े देवी-देवता जैसे एक साथ नाराज हो गए थे कि तुम लोगों ने क्यों इस धरती का विभाजन किया। जिन पांच नदियों ने प्राचीन काल से पंजाब को पानी दिया था—ताकि सिंचाई हो सके और खेत सोना उगलें—वे पांचों नदियां पंजाब को निगलने निकल पड़ीं।

हिमालय की ऊंचाइयों पर पिघलती बर्फ ने उन नदियों का सीना इतना फुलाया कि उनकी प्रचण्डता ने पंजाब के धुर्रे उड़ा दिए। अंग्रेजों ने बाढ़ की चेतावनी देने के लिए जो पद्धति विकसित की थी, वह विभाजन के कारण तितर-बितर हो चुकी थी। वह तारीख थी 24 सितम्बर। बिना किसी पूर्वाभास के पंजाब की नदियों ने अपनी सतह इतनी तेजी के साथ ऊपर उठानी शुरू की कि जिसने खुद अपनी आंखों से वह सब देखा, उसने भी विश्वास न किया।

लाखों शरणार्थी, रात भर की राहत पाने के लिए, उन नदियों के किनारों पर, डेरा डाले पड़े थे। शाम तक जो नदियां राहत दे रही थी, उन्होंने सुबह होते-होते अधिकांश शरणार्थियों को निगलकर अपने पेट में रख लिया।

अब्दुल रहमान अली जब व्यास नदी के तट पर रुका, तो अकेला नहीं था। अन्य सैकड़ों देहातियों ने वहीं डेरा डाला। वे सब मुसलमान थे और अब, पाकिस्तान की सुरक्षित सरहद, केवल पचास मील के फासले पर रह गई थी। व्यास में उस शाम बहुत कम पानी था। उसकी अधिकांश तली सूख कर धधक रही थी।

अब्दुल रहमान ने डेरे के बाहरी हिस्से में अपनी बैलगाड़ी खड़ी कर दी। रात को वह अचानक जागा। क्योंकि लोग चीख रहे थे और लपकता आ रहा पानी भयंकर गर्जना कर रहा था। अब्दुल रहमान तुरन्त अपने परिवार-समेत बैलगाड़ी के अन्दर घुस गया। उठते पानी में बैलगाड़ी के चके डूब गए। पानी अब्दुल रहमान और उसके परिवार के घुटनों तक पहुंचा, फिर छाती तक। उसके बाद ही उसका जोर कुछ घटना शुरू हुआ।

पूरे दो दिन और रातों तक, अब्दुल रहमान उसी बैलगाड़ी के अन्दर सपरिवार घुसा रहा। भूख और ठण्ड की कंपकंपी ने उनका हाल बेहाल कर दिया। उनकी नजरों के सामने से टूटी-फूटी बैलगाड़ियां; जानवरों और मित्रों-परिचितों की लाशें बहती जा रही थीं।

जो पुल अनेक दशकों से अटल खड़े थे उन्हें नदियों ने तोड़-फोड़ दिया; अथवा गायब ही कर दिया। भारतीय सेना के कर्नल अश्विनी दुबे ने देखा कि व्यास नदी ने अमृतसर

से बाहर का रेलवे पुल पूरा डुबा दिया है। बैलगाड़ियां, बैलों और गाड़ीवानों समेत बह-बह कर आ रही थीं। पुल के गर्डरों पर वे इतने जोर से टकराती कि कमजोर माचिस की तरह उनकी धज्जियां उड़ जातीं। मनुष्य और पशु सब वहीं-के-वहीं मारे जाते।

उन भयानक दिनों में कुल कितने लोगों ने अपनी जान से हाथ धोया, कहना मुश्किल है। प्रदेश का शासन इस बुरी तरह चौपट हो चुका था कि आंकड़े एकत्र करने का होश भला किसे था। फिर भी, कुछ लोगों ने दावा किया कि दस से बीस लाख मौतें अवश्य हुई हैं। न्यायाधीश जी.डी.खोसला ने, जिन्हें उन हत्याकाण्डों और विपदाओं का प्रमुख अध्येता माना जाता है, पांच लाख का आंकड़ा सामने रखा। इंग्लैण्ड के दो प्रमुख इतिहासकारों पेण्डरल मून और एच.वी.हडसन ने क्रमश: दो लाख और ढाई लाख मौतें होने का अन्दाजा लगाया।

शरणार्थियों की संख्या, अपेक्षाकृत काफी ठीक-ठाक ज्ञात की जाती रही। बारिशें बीत गईं, ठण्ड का मौसम शुरू हो गया—और तब भी शरणार्थियों के अन्तिम काफिले आ-जा रहे थे; जब तक कि एक करोड़ पांच लाख शरणार्थियों का आवागमन पूरा नहीं हो गया। बंगाल की सरहद अपेक्षाकृत शान्त रही जहां दस लाख व्यक्ति शरणार्थी बनकर इस पार से उस पार आए गए।

इस तबाही के कारण भारत के सभी प्रमुख नेताओं एवं अन्तिम वायसराय को, पूरे विश्व में, कटुतम आलोचना का सामना करना पड़ा। केवल पचपन हजार सैनिकों की 'पंजाब बाउण्ड्री फोर्स' उन दंगों को काबू में करने के लिए इतनी संक्षिप्त थी कि उस सेना के निर्माता लॉर्ड माउण्टबेटन एवं उनके सलाहकारों की अदूरदर्शिता पर सभी इतिहासकार आश्चर्य करते रह गए। सभी विज्ञ नेताओं ने स्तब्ध हो कर सोचा, 'क्या हमने जरूरत-से-ज्यदा हड़बड़ी में काम किया?'

इतना निश्चित है कि लॉर्ड माउण्टबेटन पर हर तरफ से, हड़बड़ी मचाने के ही लिए दबाव डाला गया था। जिन्ना हर मुलाकात में दोहराते, 'गति के बिना समझौते में कोई सार नहीं रहेगा।' वल्लभभाई पटेल ने स्पष्ट कहा था कि 'कॉमनवेल्थ' की सदस्यता कांग्रेस द्वारा तभी स्वीकारी जाएगी, जब देश को 'जल्द-से-जल्द' आजाद कर दिया जाए।' पण्डित नेहरू अन्तिम वायसराय को बार-बार चेतावनी देते रहे कि निर्णय होने में एक-एक दिन की देरी के साथ भारत में गृह-युद्ध का खतरा बढ़ रहा है। यहां तक कि गांधी जी ने भी विभाजन के अपने तीखे विरोध के बावजूद, शीघ्रातिशीघ्र काम करने की सिफारिश की थी—'अंग्रेजो! शीघ्रातिशीघ्र भारत छोड़ो!' इन शब्दों के साथ। लॉर्ड वैवेल भी, जो माउण्टबेटन से पहले भारत के वायसराय थे, शीघ्रातिशीघ्र भारत-त्याग की नीति के हिमायती थे।

लॉर्ड माउण्टबेटन, व्यक्तिगत रूप से हमेशा यही मानते रहे कि जिन हालात में उन्होंने वायसराय का पद सम्हाला था, उन हालात में जो मार्ग अपनाए गए; उन से यदि जरा

भी अलग कोई अन्य मार्ग अपनाए जाते, तो सम्पूर्ण भारत में इतने बड़े पैमाने पर गृह-युद्ध का दावानल फैल जाता कि इंग्लैण्ड में उसे बुझाने की न तो शक्ति रह जाती और न हिम्मत।

पंजाब के दंगे चाहे कितने ही प्रचण्ड रहे, कुल मिलाकर उन्होंने भारत की सम्पूर्ण आबादी के केवल दसवें हिस्से को प्रभावित किया और वे पंजाब के अलावा अन्य प्रान्तों में प्राय: नहीं फैल सके। जो मार्ग अपनाए गए, उनसे भिन्न कोई भी उपाय आजमाने पर, सम्पूर्ण भारत को ही दंगों की अग्नि में सुलगना पड़ सकता था।

विभाजन के शिकार लाखों व्यक्तियों के सामने अब यह नया प्रश्न खड़ा था कि घर-गृहस्थी कहां और कैसे बसाई जाए। आजादी की कीमत पूरे देश ने जितनी नहीं चुकाई, उतनी उन्होंने चुकाई थी। वे किस हद तक दु:खी, कुण्ठित और बौखलाए हुए थे, इस का अन्दाजा इसी से लग जाता है कि पंजाब के एक शरणार्थी शिविर में जब एक अंग्रेज अधिकारी दिखाई पड़ा, तो भूखों मर रहे उन अभागों ने यह नारा आसमान तक उठा दिया 'अंग्रेजी राज वापस लाओ!'

❑❑❑

15

'कश्मीर! केवल कश्मीर !'

कश्मीर, 22-24 अक्टूबर, 1947

कश्मीर के महाराजा के महल का दरबार हॉल, उस दिन, एक ऐसे त्यौहार के स्वागत में सजा हुआ था; जिसे हिन्दू जनता अत्यन्त प्राचीन काल से मनाती आ रही है और जो लगातार नौ दिनों तक चलता है। हिन्दू विश्वास के अनुसार; भगवान शिव की पत्नी दुर्गा ने महिषासुर नामक राक्षस का वध करने से पहले उस से निरन्तर नौ दिनों तक संघर्ष किया था। तब से अब तक, देवी दुर्गा के विजय की खुशी में निरन्तर नौ दिनों तक पूजा और नृत्य की परम्परा चली आ रही है; जिस में अन्तिम दिन का उत्सव सर्वाधिक भव्य होता है। कश्मीर के महाराजा हरिसिंह ने उसी सर्वाधिक भव्य दिवस का समापन 24 अक्टूबर की रात को किया। राज्य के सभी प्रमुख नागरिक समारोह की शोभा बढ़ाने के लिए उपस्थित थे। परम्परानुसार, वे एक-एक कर आगे आ रहे थे; ताकि अपने महाराजा की हथेली में, रेशमी रुमाल से बंधी सोने की कोई चीज रख सकें। यह चीज महाराजा के लिए एक सांकेतिक उपहार होती, जो महाराजा द्वारा आभार-सहित उसी वक्त वापस कर दी जाती।

उस ढुलमुल महाराजा के भाग्य की प्रशंसा करनी होगी। हरिसिंह जी उन तीन महाराजाओं में से एक थे, जो अभी तक अपने सिंहासनों पर बने हुए थे। शेष दो शासक थे— नबाव, जूनागढ़ और निजाम, हैदराबाद।

तर्क और भूगोल की प्रत्येक सम्भावना के विरूद्ध जा कर जूनागढ़ के नवाब ने पाकिस्तान के साथ जुड़ने की कोशिश की थी। नवाबी शासन के दिन अब गिनती के ही शेष रह गए थे। मुश्किल से पन्द्रह दिनों की छूट देने के बाद, भारतीय सेना उसके रजवाड़े में घुस पड़ने वाली थी और नवाब को केवल इतना समय मिलने वाला था कि अपनी प्रिय पत्नियों और कुत्तों के साथ हवाई-जहाज में बैठें, उड़ें और पाकिस्तान चले जाएं।

इसी तरह निजाम के दिन भी गिनती के शेष रह गए थे। भारत और इंग्लैण्ड की सरकारों से वह बार-बार आग्रह कर रहे थे कि उन के राज्य को पूर्णतया स्वतन्त्र मान लिया जाए; किन्तु अन्तिम वायसराय की भारत से विदाई के बाद, शीघ्र ही, उन के राज्य को भी बल-प्रयोग द्वारा भारत में मिला लिया जाने वाला था।

महाराजा हरिसिंह ने उस 'राजनयिक पेट दर्द' से कब का छुटकारा पा लिया था, जिस की ओट में वह लॉर्ड माउण्टबेटन के इस आग्रह को स्वीकार करने से बच गए थे कि 15 अगस्त से पहले उन्हें भारत या पाकिस्तान में से किसी-न-किसी के साथ अवश्य जुड़ जाना चाहिए। हरिसिंह अपना सिंहासन छोड़ने के लिए जरा भी उत्सुक या प्रस्तुत नहीं थे। कश्मीर की सुन्दर वादियों को, हरियाली और सुगन्ध से लदे सम्पूर्ण विस्तार को, हरिसिंह जी के पुरखों ने, सौ वर्ष पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी से खरीदा था—साठ लाख रुपयों में। उस सौदे की एक शर्त यह भी थी कि हर साल, कश्मीर के महाराजा की ओर से ईस्ट इण्डिया कम्पनी को, छह दुशाले भेंट किए जाएंगे—कोमलतम और सूक्ष्मतम 'पश्मीना' ऊन से बने दुशाले, जो केवल कश्मीर की भेडें ही पैदा कर सकती हैं। ऐसे काव्यमय सौदे के फलस्वरूप, धरती का जो नन्दन वन उन्हें प्राप्त हुआ था, उसे छोड़ देने को हरिसिंह जी तैयार नहीं थे। विडम्बना यह कि उनके तैयार होने या न होने का अब कोई विशेष अर्थ नहीं रहा था। केवल अड़तालीस घण्टों के फासले पर एक क्रूर जागरण उन की प्रतीक्षा में खड़ा था......

हरिसिंह जी के सजे-धजे दरबार हॉल में जिस वक्त, कश्मीर के यशस्वी नागरिक अपने महाराज को, स्वर्ण का उपहार देने की सांकेतिक परम्परा निभा रहे थे'; ठीक उसी वक्त, कश्मीर की राजधानी श्रीनगर से पचास मील पूरब में, झेलम नदी के किनारे, चुस्त मनुष्यों की एक टुकड़ी एक ऐसे कमरे में जबरन घुस चुकी थी, जहां चारों तरफ यन्त्र ही यन्त्र दिखाई दे रहे थे। भांति-भांति के डायलों और लीवरों से आच्छादत एक पैनल पर डायनामाइट की छड़ें बांध कर, उस टुकड़ी के एक व्यक्ति ने माचिस की तिली दिखा दी। फिर वह, सबको होशियार करता हुआ इमारत से बाहर दौड़ पड़ा। दस सैकण्ड बीते और कान के परदे चीर देने वाला एक ऐसा धमाका सुनाई दिया, जिसने महुरा पावर स्टेशन को हिला दिया। इसके साथ ही, पाकिस्तान की सरहद से लेकर लद्दाख तक; और चीन को अलग काट रही पर्वत-मालाओं तक; रोशनी गुल हो गई।

हरिसिंह जी के महल में चमक रहे असंख्यक बल्ब, अचानक, यों बुझ गए; मानो वे किसी आसन्न खतरे की ओर निश्चित इशारा करना चाहते हों। न केवल महल, बल्कि पूरी राजधानी अन्धेरे में डूब गई थी। डल झील की हाउस-बोटों में छुट्टियां मना रहे अनेक अंग्रेजों ने उस रहस्मय अन्धकार का अर्थ समझने की कोशिश की। महाराजा का ज्येष्ठ पुत्र करनसिंह भी, जो पैर का ऑपरेशन हुआ होने के कारण, अपने शयन-कक्ष में ही लेटे रहने पर मजबूर था, उस आकस्मिक अन्धकार का अर्थ समझ नहीं पा रहा था।

स्वयं को पूर्ण स्वतंत्र रखने का हरिसिंह जी का सपना भंग करने के लिए सैकड़ों पठान, पिछले अड़तालीस घण्टों से, कश्मीर में घुसपैठ कर के विभिन्न दिशाओं में फैलते जा रहे थे। महाराजा ने आत्म-रक्षा के लिए जो निजी सेना रखी हुई थी, उसका कुछ हिस्सा तो उन घुसपैठियों के साथ जा मिला था और कुछ पहाड़ियों में गायब हो गया था।

बिना किसी घोषणा या चेतावनी के की गई उस क्रूर घुस पैठ के मूल में एक नन्हा-सा निरापद आवेदन छिपा हुआ था; जो दो मास पहले; 24 अगस्त, शुक्रवार के दिन, मोहम्मद अली जिन्ना द्वारा अपने अंग्रेज सैन्य सचिव के माध्यम से किया गया था। फेफड़ों में छिपी विकट बीमारी और पिछले हफ्ते की निरन्तर दौड़-धूप ने जिन्ना को इतना थका दिया था कि उन्होंने छुट्टियां मनाने का फैसला कर के, कर्नल विलियम बर्नी से कहा कि आप कश्मीर जाइए और ऐसा प्रबन्ध करिए कि मैं सितम्बर के मध्य में, दो हफ्तों की छुट्टी वहां मना सकूं।

छुट्टी मनाने के लिए जिन्ना ने कश्मीर का ही चुनाव क्यों किया; इस प्रश्न के तो दरअसल पूछे जाने की ही जरूरत नहीं। पाकिस्तान की अधिकांश जनता जो माने बैठी थी, वही जिन्ना के भी मन में था— कि जिस कश्मीर की तीन-चौथाई जनता मुसलमान है, वह यदि पाकिस्तान में शामिल नहीं होगा, तो भला और कहां शामिल होगा।

वह अंग्रेज अधिकारी, लेकिन पांच दिनों बाद जब लौट कर आया, तो एक ऐसा जवाब लाया, जिस ने जिन्ना को सन्न कर दिया। कश्मीर के महाराजा ने अपने राज्य की धरती पर कदम रखने की अनुमति जिन्ना को नहीं दी थी-जिन्ना वहां एक सैलानी की हैसियत से भी नहीं जा सकते थे। वह समझ गए कि कश्मीर की स्थिति वैसी नहीं है जैसी वे माने बैठे हैं। सही स्थिति के आंकलन के लिए पाकिस्तान सरकार ने तुरन्त एक गुप्तचर कश्मीर में घुसाया। उस ने लौट कर जो समाचार दिया, वह निश्चित रूप से आघात जनक रहा—पाकिस्तान के साथ विलय करने का महाराजा कश्मीर का जरा भी इरादा नहीं था।

यह एक ऐसी बात थी, जो पाकिस्तान के संस्थापकों द्वारा कतई सहन नहीं की जा सकती थी। सितम्बर के मध्य में लियाकत अली खान ने लाहौर में एक गुप्त बैठक बुलाई, ताकि निर्णय हो सके कि महाराजा को मजबूर करने के लिए कौन-सा तरीका अपनाया जाए।

सीधे आक्रमण का विचार, उस बैठक में, तुरन्त उड़ गया। पाकिस्तान की सैनिक ताकत अभी इतनी बढ़ी-चढ़ी नहीं थी कि कश्मीर के कारण भारत के साथ सीधी लड़ाई का खतरा मोल लिया जा सके। हां, दो अन्य उपाय अवश्य थे।

पहला यह कि पाकिस्तान धन और हथियार खर्च कर के कश्मीर के बहुसंख्यक मुसलमानों को इस प्रकार भड़काए कि महाराजा के खिलाफ बलवा हो जाए, इसमें अनेक मास का समय अवश्य लगेगा, लेकिन जब चालीस से पचास हजार कश्मीरी मुसलमान महाराजा का घेराव करने निकल पड़ेंगे, तो परिणाम नि:सन्देह वही होगा, जो पाकिस्तान चाहता है।

दूसरा उपाय ज्यादा रोमांचक था। उस में उस कौम को एक साधन के रूप में उपयोग किया जाना था, जो उस भूखण्ड की सब से डरावनी कौम मानी जाती थी—उत्तरी पश्चिम सीमान्त के पठान।

ये पठान, करांची में बैठे अपने शासक भाइयों के प्रति, विशेष वफादार नहीं थे। उन्हें शान्त और सन्तुष्ट रखने की समस्या करांची वालों को हमेशा सताती रहने वाली थी। यदि इन पठानों को उकसा कर श्रीनगर पहुंचा दिया जाए, तो!

अफगानिस्तान का शासक उन पठानों को पहले ही से कोच रहा था कि वे पेशावार को लूट लें। उन्हीं पठानों को यदि श्रीनगर पहुंचा दिया जाए, तो उनकी नजरें पेशावर पर से हट जाएंगी और लूटपाट मचाने की अपनी आदिम प्रवृत्ति को वे श्रीनगर के बाजारों में सन्तुष्ट कर सकेंगे। नि:सन्देह वे ऐसा हंगामा मचाएंगे कि महाराजा घबरा जाएगा और पाकिस्तान से सैनिक हस्तक्षेप की मांग करेगा। पाकिस्तान तुरन्त इस बहाने अपनी सैनिक श्रीनगर में बिठा देगा। महाराजा मजबूर होकर पाकिस्तान के साथ कश्मीर का विलय स्वीकार करेगा।

बैठक के समापन पर प्रधानमंत्री ने कड़ी चेतावनी दी। अभियान पूर्णतया रहस्य बना कर रखा जाना चाहिए। धन का प्रबन्ध गुप्त चन्दों द्वारा किया जाएगा। पाकिस्तान के सैनिक अधिकारियों और नागरिक कर्मचारियों को कोई भनक न मिले। जिन अंग्रेजों ने पाकिस्तानी सेना एवं अन्य विभागों में नौकरियां स्वीकार की हैं, उन्हें तो रंच-मात्र भी पता नहीं चलना चाहिए।

तीन दिन बाद—

पेशावर की एक खस्ता-हाल इमारत में पठानों के प्रतिनिधियों की मुलाकात उस व्यक्ति से हुई, जिसे पठानों की भावनाएं उकसा कर उन्हें श्रीनगर तक पहुंचाने की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। उसका नाम था मेजर खुर्शीद अनवर। उसने इस्लाम की दुहाई देते हुए, उन पठानों से कहा कि अगर कश्मीर में तुरन्त कोई कार्यवाही न की गई तो वहां का हिन्दू महाराजा अपना राज्य भारत के साथ मिला देगा, जिसमें लाखों मुसलमान हिन्दुओं के मक्कार शासन के शिकार हो जाएंगे।

इस्लाम की दुहाई ने उन पठानों को कितना द्रवित किया, यह एक विवादास्पद प्रश्न है, लेकिन कश्मीर में लूटपाट मचा सकने की सम्भावना ने अवश्य उनकी रगें फड़का दीं।

इस्लाम के नाम पर पवित्र युद्ध—जेहाद— के गुप्त आमन्त्रण पठानी क्षेत्रों में बिजली की तेजी से घूम गए। शीघ्र ही चुपके-चुपके हथियार आने और बंटने लगे।

पठानों ने जब 'अल्ला-हो-अकबर' के नारों के साथ, ट्रकों में लद-लद कर, पेशावर के रास्ते से गुजरना शुरू किया; तो उत्तर-पश्चिम सीमान्त के गवर्नर को आश्चर्य हुआ। उसने पाकिस्तानी सेना के कमाण्डर-इन-चीफ से, फोन पर बात की। ये दोनों व्यक्ति अंग्रेज थे।

कमाण्डर-इन-चीफ ने तुरन्त प्रधानमंत्री लियाकत अली खान का नम्बर मिलाया। लियाकत अली खान ने उसे अधिकतम विश्वास दिलाया कि पठानों की उन रहस्मय गतिविधियों की सरकार को कोई जानकारी नहीं; सरकार शीघ्रातिशीघ्र इस मामले की खोजबीन करेगी; कि कश्मीर पर पठानों का आक्रमण करवाने की कोई योजना पाकिस्तान सरकार ने कतई नहीं बनाई है।

लियाकत अली खान ने इतने अच्छे ढंग से बात की कि अंग्रेज कमाण्डर-इन-चीफ ने विश्वास कर लिया। कुछ घण्टों बाद ही, कमाण्डर-इन-चीफ, लन्दन की ओर उड़ान भर चुका था। पाकिस्तानियों ने इस बात की पूरी सावधानी बरती थी कि जब कश्मीर पर पठानों द्वारा जेहाद बोला जाए, तब पाकिस्तानी सेना का कमाण्डर-इन-चीफ देश में मौजूद होने की बजाए, 6000 मील के फासले पर लन्दन में, उन हथियारों को खरीदने की चेष्टा में लगा हो; जो भारत की वायदा-खिलाफी के कारण पाकिस्तान को मिले ही नहीं।

पाकिस्तान-कश्मीरी सीमान्त 22-24 अक्टूबर, 1947

युद्ध-पूर्व मॉडल की एक फोर्ड स्टेशन वैगन, रोशनियां बुझा कर और इन्जन बन्द करके, तेजी से रास्ता पार कर रही थी, ताकि रात की खामोशी में चुपके से आकर उस महत्वपूर्ण पुल से केवल एक सौ गज के फासले पर खड़ी हो सके।

स्टेशन-वैगन के पीछे अनेक ट्रक चुपचाप चले आ रहे थे। इन्जन बन्द होने के बावजूद ढलान के कारण, उन्हें गति बनाए रखने में कोई परेशानी नहीं थी। प्रत्येक ट्रक में जोशीले और खामोश लोग लदे हुए थे।

उस पुल के नीचे से झेलम नदी बह रही थी। उसके बहते जल का निनाद रात की खमोशी को गुदगुदा रहा था। स्टेशन वैगन में बैठे साईं रब खयात खान नामक उस 23 वर्षीय युवक ने जो मुस्लिम लीग की टुकड़ी ग्रीन शर्टज का नेता था, अपनी नरवस मनस्थिति को छिपाने के लिए मूछों पर हाथ फेरा।

पुल के उस पार, तसल्ली से लेटा हुआ था— कश्मीर का वह इलाका, जिस की खूबसूरती की मिसाल सारी दुनिया में कहीं नहीं थी।

साईं रब खयात खान की आंखें पुल पर से हट नहीं रही थीं। वह उस फ्लेयर की प्रतीक्षा में था, जिस की चौंध होते ही वह समझ जाएगा कि महाराजा की सेना के मुसलमान सैनिकों ने बगावत कर दी है, हिन्दू अधिकारियों को मार डाला है, श्रीनगर की टेलीफोन लाइन काट दी है और पुल के दूसरे छोर पर बैठे चौकीदारों को दबोच लिया है।

अचानक 'फ्लेयर' की गुलाबी चौंध ने काली रात का सीना चीर दिया। साईं रब खयात खान की स्टेशन वैगन, सहसा, जिन्दा हो कर झपट पड़ी—पुल के उस पार। पीछे-पीछे लपकते चले आए वे ट्रक। कश्मीर पर जेहाद बोला जा चुका था।

मुजफ्फराबाद की चुंगी पर उन वाहनों को रोकने की चेष्टा की गई। युद्ध की ललकारों के साथ पठानों ने चुंगी अधिकारियों को काबू में कर लिया। अब सामने श्रीनगर को जाती 135 मील लम्बी सड़क खुली पड़ी थी, जिसे वे सूर्योदय से पहले निर्विघ्न पार कर सकते थे। उस पर कहीं कोई गश्त नहीं थी।

साईं रब खयात खान ने कल्पना की........ कैसा रहे, यदि महाराजा के नाश्ते की ट्रे लेकर खुद मैं सामने जाऊं और उसे हक्का-बक्का कर दूं! यह समाचार उसे मैं ही दूँगा, जो शीघ्र ही सारी दुनिया में फैल जाएगा— कि अक्टूबर 1947 की 22 वीं तारीख से कश्मीर पाकिस्तान का हो चुका।

उस नौजवान का वह सुन्दर सपना जल्द ही टूट जाने वाला था। जेहाद की रूपरेखा बनाने वालों ने पठानों का स्वभाव ठीक से ध्यान में न रख कर एक भारी भूल की थी। श्रीनगर को जाती उस सड़क पर आगे बढ़ने के लिए साईं रब खयात खान ने अपनी स्टेशन वैगन चालू की ही थी कि पाया—सभी पठान गायब हैं! उन ट्रकों में, या आसपास कहीं कोई पठान नजर न आया। कश्मीर के मुसलमान भाईयों को, हिन्दुओं के दुष्ट शासन से छुटकारा दिलाने का जेहाद शुरू करने के लिए, सारे पठान, मुजफ्फराबाद के हिन्दू बाजार की दिशा में खिसक गए थे।

उस छोटे-से शहर की दस-बीस दुकानों में जो लूटपाट मचाई गई, उसकी कीमत मोहम्मद अली जिन्ना ने यह चुकाई कि कश्मीर की धरती पर वह फिर कभी पैर न रख सके। जैसा कि बाद में साईं रब ने बयान किया, ''हर पठान को सिर्फ अपनी चिन्ता थी। उन्होंने तालों को गोली मारकर तोड़ दिया, दरवाजों की धज्जियां उड़ा दीं और जो भी कीमती चीज दिखाई पड़ी, कब्जे में कर ली।''

साईं रब खान और उसके साथी अधिकारियों ने पठानों को रोकने की हर सम्भव कोशिश की। यहां तक कि वे, पठानों के लबादों को पकड़कर, झूल से गए.... लेकिन बेकार। ''क्या कर रहे हैं आप लोग'' अधिकारी गिड़गिड़ाते रहे, ''हमें श्रीनगर जाना है। वक्त नहीं है। .... '' गिड़गिड़ाहट का परिणाम वही हुआ, जो भैंस के आगे बीन बजाने का होता है। पठान अपनी लूटपाट को जल्द-से-जल्द शुरू करने; और फिर जारी भी रखने के लिए; इतने उत्सुक थे कि अधिकारियों का एक शब्द भी उनके कानों में न घुसा। उन की किस्मत में नहीं बदा था कि शहर श्रीनगर उसी रात, उनके काबू में आ जाता। वे जगह-जगह रुकते और लूट मचाते। आगे बढ़ने का आदेश देने से पहले अधिकारियों को हर बार जांच करनी पड़ती कि उन्होंने अपनी लूट सम्पन्न कर ली या नहीं। जिस पावर स्टेशन के नाश के साथ कश्मीर के महाराजा का दरबार हॉल अन्धकार में डूब गया था। वह केवल 75 मील के फासले पर होने के बावजूद, पठानों को वहां तक पहुंचने में 48 घण्टे लगे।

नई दिल्ली, 24 अक्टूबर, 1947

पाकिस्तानी सेना के कमाण्डर-इन-चीफ के लन्दन प्रवास के दौरान, उसका कार्य-भार जिस मेजर-जनरल को सौंपा गया था; उसे शुक्रवार, 24 अक्टूबर की शाम, लगभग पांच बजे, कुछ खास गुप्तचरों ने सूचित किया कि कश्मीर पर अचानक कैसा जेहाद बोल दिया गया है। मुजाहिदों की अनुमानित संख्या, उन के हथियारों का विवरण और उनकी अवस्थिति (लोकेशन) सब उन गुप्तचरों ने मालूम कर ली थी।

श्रीनगर की टेलीफोन लाइन भले ही कट चुकी थी, लेकिन रावलपिंडी 1704 और नई दिल्ली-3017 के बीच की सीधी लाइन अभी तक खुली थी। मेजर-जनरल ने बिना किसी संकोच के फोन उठाया और प्राप्त सूचनाएं उस व्यक्ति तक पहुंचा दीं, जो उन मुजाहिदों को कश्मीर पर अधिकार करने से रोकने की क्षमता रखता था और जिसे; जिन्ना के अनुसार; इस मामले में सर्वाधिक अन्धकार में रखा जाना चाहिए था—भारतीय सेना का कमाण्डर-इन-चीफ!

दरअसल; ऐसा इसलिए हुआ कि पाकिस्तान के मेजर-जनरल डगलस ग्रेसी और भारतीय सेना के कमाण्डर-इन-चीफ सर रॉब लॉकहार्ट के बीच पुरानी दोस्ती थी। अव्वल तो वे दोनों अंग्रेज थे। जिस पर वे भूतपूर्व 'भारतीय सेना' में साथ-साथ काम भी कर चुके थे।

जेहाद की खबर ने लॉकहॉर्ट को स्तब्ध कर दिया। उस अंग्रेज ने तुरन्त यह सूचना दी और अंग्रेजों तक पहुंचाई—भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड माउण्टबेटन और फील्ड मार्शल आकिनलेक तक।

माउण्टबेटन, उस वक्त, थाईलैंड के विदेश मंत्री को दिए जाने वाले भोज की तैयारियें में थे। इस प्रीतिभोज के बाद भी रुके रहने के लिए उन्होंने पण्डित नेहरू से कहा। जब अन्तिम मेहमान ने विदा ले ली, तो लॉर्ड माउण्टबेटन ने कश्मीर का समाचार प्रधानमंत्री को दिया। नेहरू जी का रंग उड़ गया।

गवर्नर-जनरल लॉर्ड माउण्टबेटन को पहली बार पता चला कि कश्मीर के प्रश्न पर नेहरू जी किस हद तक भावुक हैं। जो व्यक्ति हर समस्या पर ठण्डी तटस्थता और बुद्धिमता के साथ विचार करने के लिए प्रसिद्ध था, उसी के चेहरे पर एक ऐसा दर्द उभर आया, जो तीव्रतर भावुकता का ही प्रतीक हो सकता था। वह कश्मीरी ब्राह्मण किसी भी तरह अपने आक्रोश को वश में नहीं रख पा रहा था।

फील्ड मार्शल आकिनलेक के लिए भी अपना आक्रोश वश में रखना मुश्किल पड़ा। उस की हार्दिक इच्छा थी कि अंग्रेज सैनिकों का पूरा ब्रिगेड इसी क्षण श्रीनगर के लिए उड़ान भरे ताकि वहां छुट्टी मना रहे सैकड़ों अंग्रेजों को शीघ्र हटाया जा सके; वरना उन पठानों द्वारा बलात्कार और कत्लेआम का जो दौर चलाया जाएगा, उस की लपेट में आने से अंग्रेज भी नहीं बच सकेंगे।

माउण्टबेटन सहमत नहीं थे। उन्होंने कहा कि बलात्कार और कत्लेआम का खतरा अंग्रेजों के लिए भी होने के बावजूद, अभी-अभी आजाद हुई धरती पर अंग्रेजों का ब्रिगेड भला कैसे उतारा जा सकता है ? कानूनी और नैतिक, दोनों दृष्टियों से यह गलत होगा।

अगले दिन, दोपहर को, रॉयल इण्डियन एयर फोर्स के डी.सी.-3 विमान ने श्रीनगर हवाई अड्डे की सूनी और त्यागी जा चुकी उड़ान पट्टी पर वी.पी. मेनन को उतारा—सरकार का वही नागरिक कर्मचारी, जिसने अनेकानेक रजवाड़ों के विलय समारोहों की अध्यक्षता की थी। साथ में थे 'इण्डियन आर्मी' के कर्नल सैम मानेकशा। वायु-सेना का भी एक अधिकारी उन के साथ था।

इन तीनों को श्रीनगर भेजने का निर्णय उस आपातकाल-समिति ने लिया था, जिस की बैठक उसी सुबह बुलाई गई थी। कश्मीर के फंसे हुए महाराजा ने अत्यन्त दीनता से भारत की सहायता मांगी थी। फील्डमार्शल आकिनलेक से जो उग्र बहस हुई और पण्डित नेहरू ने जो तीव्र भावुकता प्रकट की, उसे ध्यान में रखकर लॉर्ड माउण्टबेटन ने समझ लिया था कि कश्मीर में सेना भेजे जाने की सम्भावना अधिकतम है। ऐसी कार्यवाही को न्याय-सम्मत अवश्य होना चाहिए, इस गरज से उन्होंने भारत सरकार को समझाया था कि जब तक महाराज अपने राज्य का विलय हमारे साथ नहीं करेगा, तब तक उसकी धरती हमारी नहीं बनेगी और वहां अपनी सेना उतारने के हकदार हम नहीं कहलाएंगें।

दूसरी ओर, लॉर्ड माउण्टबेटन यह मान कर भी चले कि जिस कश्मीर की बहुसंख्यक प्रजा मुसलमान है, उसे भारत की अपेक्षा पाकिस्तान के साथ जुड़ना चाहिए। आपतकाल में महाराज ने भारत से सहायता अवश्य मांगी है, लेकिन कश्मीर पर हक यदि किसी को है, तो पाकिस्तान को है।

इसीलिए, पण्डित नेहरू के विरोध की परवाह न करते हुए, गवर्नर-जनरल ने मन्त्रि-मण्डल से एक शर्त स्वीकार करवाली—कि कश्मीर का भारत में विलय मात्र अस्थाई माना जाएगा। उसे स्थाई रूप तभी मिलेगा, जब वहां कानून और शान्ति की स्थापना हो जाए और कश्मीर की जनता मतदान करके अपनी निश्चित इच्छा व्यक्त करे कि वह भारत के साथ जुड़ना चाहती है।

मन्त्रि-मण्डल का यह प्रस्ताव महाराजा के सामने रखने के लिए वी.पी.मेनन को अविलम्ब रवाना किया गया। जिस दौरान यह कार्यवाही होगी, उस दौरान मेनन के साथ भेजे गए, अधिकारी वहां के सैनिक हालात का अध्ययन करेंगे।

इधर; भारत तेजी से तैयारी कर रहा होगा—वायु -मार्ग द्वारा कश्मीर में अपनी सैन्य टुकड़ियां उतारने की ऐतिहासिक तैयारी। लॉर्ड माउण्टबेटन ने भारत की सारी नागरिक उड़ानों को रद्द कर दिया। यात्रियों को जहां-के-तहां छोड़कर सभी नागरिक हवाई जहाज दिल्ली की सेवा करने के लिए झपट पड़े।

शनिवार, 26 अक्टूबर की आधी रात को, मानव-इतिहास की सबसे बड़ी देशान्तर-यात्रा में एक और शरणार्थी आ जुड़ा; लेकिन उसने अपना देशान्तर पैदल अथवा बैलगाड़ी से नहीं किया। वह एक आरामदायक, अमेरिकन, स्टेशन-वैगन में बैठा हुआ था। पीछे-पीछे अनेक ट्रक और कारें चल रही थीं, जिन में उसका कीमती असबाब भरा था। इस कारवां पर आक्रमण करने की हिम्मत कोई उन्मादी टुकड़ी नहीं कर सकती थी। अनेक हथियार बन्द अंगरक्षक कारवां की हिफाजत के लिए तैनात थे। उस सम्पन्न शरणार्थी का नाम था। महाराजा हरिसिंह; जिन्होंने श्रीनगर का त्याग इस भय से कर दिया कि वहां की बहुसंख्यक मुसलमान प्रजा के बीच वह स्वयं को विशेष सुरक्षित नहीं मान सकते थे। वह बढ़ रहे थे जम्मू की ओर जहां उन का शीतकालीन महल था और जहां की बहुसंख्यक प्रजा हिन्दू थी।

श्रीनगर छोड़ देने की सलाह उन्हें वी.पी.मेनन ने दी थी। अपने साथियों के साथ वी.पी.मेनन दिल्ली लौट गया था, ताकि मन्त्रि-मण्डल को सूचित कर सके कि सहायता पाने के लिए महाराजा द्वारा किसी भी प्रकार की शर्तें स्वीकार कर ली जाएंगी।

उस रात, श्रीनगर के जिस महल का त्याग हरिसिंह जी ने किया, वहां वह कभी लौट सकने वाले नहीं थे। आगामी कुछ वर्षों में उस महल को एक शानदार होटल का रूप मिल जाने वाला था।

सत्रह घण्टों की कठिन यात्रा के बाद महाराजा का कारवां जम्मू पहुंच गया। थके हुए हरिसिंह जी तुरन्त अपने निजी कमरे में सोने चले गए। आंखें मूंदने से पहले उन्होंने अपने एक ए.डी.सी. को बुलाकर महाराजा की हैसियत से जो अन्तिम आदेश दिया; वह इस प्रकार था, ''मुझे उसी सूरत में उठाइएगा, अगर वी.पी. मेनन दिल्ली से लौट कर आ जाए; क्योंकि इस का अर्थ यही होगा कि भारत मेरी सहायता करने को तैयार है। यदि वह सुबह तक न लौटे तो मुझे मेरे सर्विस रिवाल्वर द्वारा नींद में ही शूट कर दिया जाए; क्योंकि फिर रह ही क्या जाएगा?''

वी.पी. मेनन और साथियों के दिल्ली-आगमन के साथ, आपतकाल-समिति की बैठक तुरन्त बुलाई गई। महाराजा ने कश्मीर का उपहार भारत को देने की तैयारी दिखाई तो थी, किन्तु पठान मुजाहिद श्रीनगर से केवल 35 मील के फासले पर रह गए थे। श्रीनगर के हवाई अड्डे पर वे कभी भी कब्जा कर सकते थे। फिर, भारत अपने सैनिकों को कहां उतारेगा? कश्मीर में दूसरा कोई हवाई-अड्डा नहीं।

मन्त्रिमण्डल के अनुमोदन और आग्रह के बाद, माउण्टबेटन ने अपने सैनिक अनुभव को बेहिचक दांव पर लगा दिया। देशभर में आवागमन के जितने भी साधन थे—सैनिक या नागरिक— सब को कश्मीर अभियान में उपयोग किया गया। अगली ही सुबह भारतीय सैनिकों ने श्रीनगर हवाई-अड्डे पर उतरना शुरू किया; जिन्हें सख्ती से आदेश दिया गया था कि हवाई-अड्डे का कब्जा किसी भी कीमत पर छोड़ना नहीं है—तोपखाना और पैदल सैनिक जमीन के रास्ते रवाना हो रहे हैं।

सिरिल रैडक्लिफ की पेन्सिल ने, संयोगवश, बहुसंख्यंक मुसलामन आबादी के बावजूद, गुरदासपुर नामक जो मामूली शहर भारत में रहने दिया था; वहां से एक गैर-मामूली रास्ता गुजरता था—जमीन पर से होकर कश्मीर में प्रवेश करने का एक मात्र रास्ता। उस का धड़ल्ले से उपयोग करते हुए भारतीय तोपखाने और पैदल सेना ने कश्मीर में दाखिला लेने की तैयारी कर ली।

उधर, वी.पी. मेनन ने तुरन्त जम्मू की दिशा में वापस उड़ान भरी। नींद में ही शूट कर देने का जो आदेश महाराजा ने अपने ए.डी.सी. को दे रखा था, उस की मियाद पूरी होने से पहले ही वी.पी. मेनन आ पहुंचा; जिसके साथ-साथ वे कागजात भी आए, जिन पर केवल हरिसिंह जी के हस्ताक्षरों की कसर थी—वे हस्ताक्षर, जो कश्मीर में भारत की सैनिक कार्यवाही को न्याय-सम्मत रूप दे सकते थे।

27 अक्टूबर, सोमवार की सुबह; श्रीनगर का हवाई-अड्डा इतना सूना था कि एकाएक विश्वास न हो। गड़गड़ा कर वहां नौ डी.सी.-3 हवाई-जहाज उतर पड़े। जिन्होंने फर्स्ट सिख रेजिमेण्ट के 329 सिखों को आठ टन युद्ध सामग्री के साथ कश्मीर पहुंचा दिया। मनुष्यों और युद्ध सामग्री की यह तो केवल पहली खेप थी। शीघ्र ही भारत द्वारा कश्मीर में इतने बड़े पैमाने पर युद्ध कार्यवाही की जानी थी कि अनुपम सौन्दर्य की जो वादियां अनेकानेक सैलानियों के लिए नन्दन वन बनी हुई थीं, वहां एक लाख भारतीय सैनिकों ने अपनी सक्रियता दिखाई।

भारतीयों को कश्मीर में जो प्रारम्भिक सफलता मिली, उस का श्रेय सेना की दृढ़ता और चतुराई को जितना दिया जाना चाहिए, उससे भी ज्यादा श्रेय मिलना चाहिए उन चौदह साध्वियों को, जो फ्रेंच, स्कॉटिश, स्पैनिश, इतालियन और पौर्टगीज थीं—फ्रान्सिस्कन मिशनरीज ऑफ मेरी की नन्स। श्रीनगर से केवल तीस मील के फासले पर उनका गिरजाघर था—बारामुला में। पठान मुजाहिदों को जिस वक्त कश्मीर की राजधानी के प्रमुख मार्गों और हवाई अड्डे पर डटे होना चाहिए था, उस वक्त वे बारामुला में ही रुके रह गए; जहां उन चौदह साध्वियों के अछूते शरीर थे। गिरजाघर के नन्हे-से अस्पताल के मरीजों का उन पठानों ने सहर्ष कत्ले-आम किया। गिरजाघर की एक-एक कीमती चीज उन्होंने लूट ली, जिस में दरवाजों पर लगी पीतल की सुन्दर मूठें तक शामिल थीं। उन्मादी बलात्कारियों के रूप में उन पठानों ने प्राचीन काल से जो प्रसिद्धि पाई हुई थी, उस का उन्होंने चौदह साध्वियों के माध्यम से सार्वजनिक प्रदर्शन किया। इन तमाम उत्सवों में जो समय लगा, उसमें कश्मीर की सुन्दर वादियों को अपने नव-राष्ट्र के साथ जोड़ देने का मोहम्मद अली जिन्ना का सपना दफन हो गया। सोमवार, 27 अक्टूबर का सारा दिन, फर्स्ट सिख रेजिमेण्ट के सैनिकों ने, श्रीनगर हवाई अड्डे पर अपने मोर्चे लेने में व्यतीत किया। उसी सारे दिन को वे पठान बारामुला में बिताते हुए व्यस्त रहे......

गिरजाघर की बेल्यिजन मदर सुपीरियर, सिस्टर मेरी एडेल्ट्रूड को पठानों ने इतना घायल कर दिया कि उसी शाम उस के प्राण उड़ गए। गिरजाघर में इलाज करवा रहे अनेक मरीजों और स्वयं मदर सुपीरियर के बलिदान ने; अथवा उन चौदह साध्वियों के भग्न कौमार्य ने; कश्मीर की बहुसख्यंक प्रजा का विश्वास इस्लाम पर से उठा देने में तो सफलता नहीं पाई, लेकिन उनके कारण जवाहरलाल नेहरू के सैनिकों को कश्मीर में अपनी मोर्चाबन्दी पक्की करने के लिए जितने समय की सख्त आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति हो गई।

जब तक पठानों ने आक्रमण किया, देर हो चुकी थी। भारतीयों ने उन की प्रगति पर ब्रेक लगा दिया। रैडक्लिफ द्वारा प्रदत्त सड़क पर से होकर जब भारतीय सैन्य-दल तोपखाने समेत आ पहुंचा। तो वे मुजाहिद, श्रीनगर से बाहर, अच्छी तरह घेर लिए गए। कश्मीर के जिन रास्तों से वे आए थे, उन्हीं रास्तों से उन्हें बार-बार पीछे हटने पर मजबूर होना पड़ा। अक्टूबर की उस ठण्डी रात को; जब वे चुपके से कश्मीर में घुस गए थे; उनका अनुमान यही था कि एक भी फायर किए बिना पृथ्वी का नन्दन-वन उनका हो जाएगा। ऊंट जब किसी और ही करवट बैठा तो जिन्ना क्रोध से अकुला गए। अपने ब्रिटिश कमाण्डरों की अवज्ञा करते हुए उन्होंने पाकिस्तानी टुकड़ियों को छिपे वेश में कश्मीर के आक्रमण पर रवाना कर दिया, ताकि मुजाहिदों के हौसलों में कुछ बुलन्दी आ सके। पठानों की नई-नई टुकड़ियां कश्मीर में घुसा दी गईं। महीनों-महीनों तक कश्मीर की शीतलता के बीच उस गर्म युद्ध को जारी रहना था।

अन्त में वह उलझन संयुक्त राष्ट्र संघ में पेश की गई। बर्लिन पेलेस्टीन और कोरिया की तरह कश्मीर की समस्या भी, विश्व की अनबूझी समस्याओं की तालिका में शामिल हो गई। जनता के मतदान द्वारा फैसले का जो प्रावधान लॉर्ड माउण्टबेटन ने बड़ी मुश्किलों से पण्डित नेहरू द्वारा स्वीकृत कराया गया, उसे भुला दिया गया। भुलाई जा चुकी शुभ कामनाओं की फाइल काफी मोटी थी। उस में एकाध पन्ना और जुड़ जाने से क्या फर्क पड़ना था!

कश्मीर राज्य को सन् 1948 की युद्ध विराम रेखा पर विभाजित ही रह जाना था—मुख्य विस्तार भारत के पास और गिलगित के आसपास के उत्तरी सीमान्त पाकिस्तान के पास। चौथाई शताब्दी बीत जाने के बाद भी, पाकिस्तान और भारत के बीच शान्ति सम्बन्धों की स्थापना में, सबसे बड़ा रोड़ा, यही कश्मीर की समस्या बनी रह जाने वाली थी।

❑❑❑

16

'पूना के वे दो ब्राह्मण'

पूना; 1 नवम्बर, 1947

15 अगस्त के दिन जिस नौजवान ने अपने अनुयायियों सहित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वस्तिक मढ़े नांरगी झण्डे का अभिनन्दन किया था; उसकी आंखें बड़ी प्रसन्नता से उस कक्ष का निरीक्षण कर रही थीं, जो शीघ्र ही उसके अखबार 'हिन्दू राष्ट्र' का नया कार्यालय बन जाने वाला था। नाथूराम गोडसे के चेहरे पर उस वक्त जो हार्दिक चमक थी, वैसी चमक पहले शायद ही कभी देखी गई थी।

हिन्दू राष्ट्र के सम्पादक की हैसियत से वह आमन्त्रित मेहमानों का बढ़-चढ़ कर स्वागत कर रहा था। कोने में मिठाइयां सजी थीं। वहीं उबल रही थी वह चीज, जिसके लिए नाथूराम गोडसे ने सारे शहर में नाम कमा लिया था—कॉफी। मन पसन्द कॉफी पीने के लिए वह मीलों दूर तक पैदल जा सकता था। कॉफी के अलावा, एक और बात के लिए वह उतना ही प्रसिद्ध था—उसका अत्यन्त सादा जीवन। उतने महत्व के अवसर पर भी नाथूराम गोडसे की पोशाक वही थी। धोती-कुरता।

सबकी बधाइयां स्वीकार कर रहा एक और व्यक्ति उबलती कॉफी के सामने से गुजरा-नारायण आप्टे। वह शानदार सूट-बूट में सजा धजा था। सांसारिक सुखों से नाथूराम गोडसे को जितनी विरक्ति थी उतना ही नारायण आप्टे उन सुखों पर जान छिड़कता था। इसके बावजूद, नारायण और नाथूराम के बीच परम मैत्री थी। 'हिन्दू राष्ट्र' दोनों ने मिलकर शुरू किया था। उनकी साझेदारी केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सक्रियता की भी थी। उग्र हिन्दू विचार-धारा के उस अखबार के सम्पादक के रूप में यदि नाथूराम गोडसे सक्रिय था, तो उसका

सम्पूर्ण संचालन-भार नारायण आप्टे ने अपने कन्धों पर लिया हुआ था। नाथूराम की तुलना में नारायण की उम्र तीन साल कम थी—वह अपने चौंतीसवें वर्ष से गुजर रहा था।

मेहमानों के सामने नारायण आप्टे ने, संक्षिप्त भाषण देते हुए, 'हिन्दू राष्ट्र' की अब तक की सेवाओं का सिंहावलोकन किया। फिर, नाथूराम गोडसे ने दो शब्द कहे।

उस वक्त, बगल की इमारत की एक खिड़की चुपके से खुल चुकी थी। नारायण और नाथूराम के भाषणों का हर शब्द, उस खिड़की की राह, एक ऐसे व्यक्ति के कानों तक पहुंच चुका था, जिसे सादा पोशाक में पूना की खुफिया पुलिस द्वारा भेजा गया था। आप्टे और गोडसे के अलावा, शहर के अन्य उग्र एवं संकीर्ण हिन्दुओं पर भी सी.आई.डी. पुलिस द्वारा नजर रखी जा रही थी। उनकी गतिविधियों की साप्ताहिक रिपोर्ट नियमित रूप से बम्बई और दिल्ली भेजी जाती। आप्टे की फाइल पर दो ऐसे शब्द लिखे हुए थे, जो गोडसे की फाइल पर तब तक दर्ज नहीं हुए थे—'पोटेन्शियली डेन्जरस'.......

हालांकि; उस दिन, गोडसे ने दो शब्द कहे, वे इस प्रकार थे, "गांधी ने वचन दिया था कि देश के विभाजन से पहले स्वयं मेरे शरीर का विभाजन होगा। देश का विभाजन हो गया है। गांधी का शरीर सही-सलामत है। हिन्दू शरणार्थी भूखों मर रहे हैं और गांधी को मुसलमानों की सेवा से फुर्सत नहीं। गांधी की अहिंसा ने हिन्दुओं के हाथ-पांव काट दिए हैं। गिद्ध हमारी मातृभूमि का मांस नोच रहे हैं। सरे आम हिन्दू स्त्रियों का सतीत्व लूटा जा रहा है और कांग्रेस के हीजड़े आंख खोलकर भी देख नहीं रहे। कब तक, आह, कब तक यह अत्याचार हमारी मातृभूमि सहेगी ?......

गोडसे के संक्षिप्त भाषण के समापन पर, तालियों की जो जबर्दस्त गड़गड़ाहट हुई, उसमें आश्चर्य जैसा कुछ नहीं था; क्योंकि पिछली साढ़े तीन शताब्दियों से पूना उग्र हिन्दू राष्ट्रीयता का केन्द्र रहा था। पूना की निकटवर्ती पहाड़ियों पर से, हिन्दू राष्ट्रीयता के महानतम योद्धा छत्रपति शिवाजी ने मुगल बादशाह औरंगजेब के विरुद्ध अपने छापामार मोर्चों का संचालन किया था। शिवाजी के उत्तराधिकारी पेशवा कहलाए, जिन्होंने 1817 तक भारत के अंग्रेज शासकों से संघर्ष किया। ये पेशवा चितपावन—अग्नि द्वारा शुद्ध किए गए—ब्राह्मण थे। पूना की गलियों से ही बाल गंगाधर तिलक जैसे नेता उभरे, जिन्होंने गांधी की अहिंसा के आगमन से पहले तक, हिन्दू राष्ट्रीयता का झण्डा उठा रखा था।

पूना के हिन्दू उन्मादियों को अब एक नया हीरो मिल गया था। "हिन्दू राष्ट्र" के उस संक्षिप्त समारोह में वह सशरीर उपस्थित तो नहीं था; लेकिन जब उसके व्यक्तित्व के चलते-फिरते बिम्ब सीमेण्ट की दीवार पर 16 एम.एम. के प्रोजेक्टर द्वारा उभारे गए, तो जनता के बीच सम्मानपूर्ण सन्नाटा खिंच गया। प्रोजेक्टर अच्छा न होने के कारण न तो फिल्म साफ दिखाई पड़ रही थी और न आवाज ही स्पष्ट सुनी जा सकती थी। इसके बावजूद, विनायक दामोदर वीर सावरकर के व्यक्तित्व में जो असाधारण आकर्षण था, उसकी किरणें सभी व्यक्तियों पर पड़ रही थीं।

उग्र हिन्दुत्व की हिमायत करते सावरकर के भाषण इतने तीव्र एवं लोकप्रिय थे कि महाराष्ट्र के दो प्रमुख शहरों पूना और बम्बई में पण्डित नेहरू को भी उतने श्रोता नहीं मिल सकते थे। जितने कि सावरकर की सभाओं में आया करते। नेहरू, जिन्ना और गांधी की तरह सावरकर की भी शिक्षा लन्दन की 'इंस ऑफ कोर्ट' में हुई थी; किन्तु वहां से वह व्यक्ति मानवता और न्याय के संस्कार लेकर नहीं लौटा था।

सावरकर की फिल्म खत्म होने के बाद भी, श्राद्ध से ओतप्रोत वह सन्नाटा तुरन्त न टूटा। आखिर, नारायण आप्टे और नाथूराम गोडसे ने, एक दूसरे के हाथ पकड़कर, 'हिन्दू-राष्ट्र' के नये कार्यालय में प्रवेश किया; जहां उनका नया मुद्रणालय भी लगा हुआ था। उस अखबार को शुरू करने के लिए सावरकर ने उन्हें पन्द्रह हजार रुपये अग्रिम दिये थे। किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता था कि उस अखबार में अब वही छपेगा, जो सावरकर द्वारा चाहा जाएगा। मेहमानों की तालियों के बीच आप्टे और गोडसे ने फोटो खिंचवाया। फिर, दोनों ने एक-साथ उस लाल बटन को दबाया, जिससे 'हिन्दू राष्ट्र' की नई छपाई मशीन चालू हो गई।

आमन्त्रित मेहमानों ने अब विदा लेना शुरू कर दिया था। चुपके से खिड़की खोलकर सारे कार्यक्रम की टोह ले चुके सी.आई.डी. के आदमी ने भी उठने की तैयारी कर ली—लेकिन अचानक वह चौंका। उसने देखा कि कोने में खड़ा नारायण आप्टे गंभीरतापूर्वक किसी युवक से बातें कर रहा है। पुलिस उस युवक को पहचानती थी। जिस तरह आप्टे की पुलिस फाइल पर लिखा था—'सम्भावित खतरनाक व्यक्ति', उसी तरह उस युवक की फाइल पर पुलिस ने दर्ज कर रखा था—'सम्भावित खतरनाक व्यक्ति।'

सी.आई.डी. के आदमी ने जल्दी-जल्दी नोट किया कि ये दोनों व्यक्ति परस्पर संबंधित हैं।

आप्टे से मिलने और उस मुद्रणालय के उद्‌घाटन के समय मौजूद रहने के लिए वह युवक साठ मील की यात्रा करके आया था। वह था विष्णु करकरे; अहमदनगर के 'डेक्कन गेस्ट-हाउस' का स्वामी। मुसलमानों के जुलूस पर बम फेंकने के बाद मदनलाल पाहवा जब भागा था, तो इसी गेस्ट-हाउस में उसे शरण मिली थी और विष्णु करकरे ने उसे स्नेह से आलिंगन में कंस लिया था।

जिन दो नौजवानों ने एक-साथ बटन दबाकर 'हिन्दू राष्ट्र' की नई छपाई मशीन चालू कर दी थी, उनकी गहरी दोस्ती दो ठोस आधारों पर टिकी हुई थी। नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे दोनों जन्म से चितपावन ब्राह्मण थे, और दोनों के राजनीतिक दृष्टिकोण में अद्‌भुत समानता थी।

ब्राह्मणों की स्थिति समाज में सर्वोच्च होने का अर्थ यह नहीं कि वे आर्थिक दृष्टि से भी सर्वाधिक सम्पन्न थे। नाथूराम गोडसे के पिता को, जो एक मामूली डाकिया था, पन्द्रह

रुपये मासिक वेतन मिलता था। हाथ उतना तंग होने के बावजूद उस डाकिए ने अपने पुत्र का लालन-पालन विशुद्ध ब्राह्मण परम्पराओं के अनुसार ही किया। जनेऊ संस्कार के बाद नाथूराम ने गीता और ऋग्वेद का नियमित पाठ शुरू कर दिया था। बारह वर्ष की उम्र में ही नाथूराम में कापालिक पूजा की क्षमता आ गई। उसका दावा था कि गोबर-लगी दीवार के सामने यदि वह समाधि लगाकर बैठ जाए, तो उसे विचित्र आकृतियां अक्षर और आंकड़े इत्यादि सरकते दिखाई पड़ते हैं। परिवार वालों को विश्वास हो गया कि बड़ा होकर नाथूराम अवश्य कोई महान कार्य करेगा।

राजनीति में नाथूराम की अत्यधिक रुचि थी। महात्मा गांधी के नागरिक अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेकर नाथूराम गोडसे ने अपने जीवन की पहली जेल-यात्रा सम्पन्न की थी। सन् 1937 के आते-आते, गोडसे ने गांधी को छोड़कर एक नया राजनीतिक स्वामी ढूंढ लिया। यह नया स्वामी, स्वयं नाथूराम गोडसे की तरह, एक चितपावन ब्राह्मण था—वीर सावरकर। जिस व्यक्ति ने बचपन में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की पूजा की थी; उसी नाथूराम ने सन् 1942 के आते-जाते, तमाम देवताओं की तस्वीरें हटाकर उनकी जगह ऐसे हिन्दू राष्ट्रवादियों की तस्वीरें लगा दीं; जिन्होंने मुगलों और अंग्रेजों से बार-बार लोहा लिया था। बचपन से नाथूराम जिस मन्दिरों में जाता था, उन्हें छोड़कर उसने एक नए आध्यात्मिक अड्डे की खोज कर ली—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का मुख्य कार्यालय। इस आर.एस.एस. के ही किसी अड्डे में नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे की पहली मुलाकात हुई थी।

हिंसा के माध्यम से हिन्दुओं का पुनर्जागरण करने का पक्षपाती होने के बावजूद गोडसे से खून नहीं देखा जाता था। कभी जब वह आप्टे की फोर्ड गाड़ी चला रहा था, तो एक भीड़ ने उसे रोका, ताकि बुरी तरह घायल एक लड़के को अस्पताल ले जाया जा सके। गोडसे ने कहा, ''लड़के को पिछली सीट पर इस प्रकार रखिए कि मैं उसे देख न सकूं वरना.... मैं बेहोश हो जाऊंगा।''

इसके बावजूद गोडसे को जासूसी कहानियां पढ़ने और मारधाड़ की फिल्में देखने का अजब शौक था। लोगों से ज्यादा मिलना-जुलना उसे पसन्द नहीं था। उसे औरतों से सख्त घृणा थी। अपनी मां के अलावा वह किसी भी औरत की मौजूदगी नहीं सह पाता था। उसने 28 वर्ष की उम्र में ब्रह्मचर्य स्वीकार कर लिया था।

नारायण आप्टे ने भगवे वस्त्र पहने उस साधु की ओर, इतनी सावधानी से देखा कि उतनी सावधानी वह सुन्दरियों के निरीक्षण के समय भी नहीं बरतता था। दरअसल, वह साधु, साधु था ही नहीं। उसका नाम था दिगम्बर बगड़े। बम्बई में अपने पतितपावन उपदेशों के लिए नहीं, बल्कि पुलिस-रिकार्ड के लिए प्रसिद्ध था। भगवे वस्त्रों और पवित्रता की मुद्राओं के जोर पर वह अपना धंधा आसानी से चलाता रहता। वेश बदलने के लिए साधु बनना सबसे निरापद है, इस विश्वास का धनी वह व्यक्ति गैर-कानूनी हथियारों के लेन-देन में पक्का उस्ताद था।

पिछले 17 वर्षों में दिगम्बर बगड़े को 37 बार गिरफ्तार किया गया था। बैंक लूटने से लेकर हत्या करने तक, न जाने कितने आरोप पुलिस ने उस पर लगाए थे; लेकिन साबित केवल एक हो सका था। गांधी जी के नागरिक अवज्ञा आन्दोलन के समय बगड़े इस आरोप में पकड़ा गया था कि वह एक सुरक्षित जंगल में वृक्ष काट रहा था। उसे एक महीने की कैद भुगतनी पड़ी थी।

दिखावे के लिए, पूना में, वह पुस्तकों की दुकान चलाता था। उसी दुकान के एक गुप्त कमरे में इन चीजों का ढेर लगा रहता—घर का तैयार बम, अन्य विस्फोटक पदार्थ छुरे, कुल्हाड़ियां, बघनखे, पीतल के दल्ले, गुप्तियां और पंजाब के दंगों में उपयोग किए गए सभी डरावने हथियार, दुकान पर आते ग्राहकों को निबटाते-निबटाते, बीच में जो समय मिलता, उसमें बगड़े और उसके वृद्ध पिता द्वारा ऐसी पोशाक बुनी जाती, जिसके कारण वे ठगों, चोर-उच्चकों, गुण्डों और यूनियन बाजी करते लोगों के बीच अत्यन्त प्रसिद्ध हो गए थे—मध्यकालीन योद्धाओं जैसा बख्तर जो कपड़ों के नीचे पहना जाता और जिसे बन्दूक की गोली भी न भेद पाती।

नारायण आप्टे का नाम बगड़े के सबसे अच्छे ग्राहकों में आता था। 'हिन्दू राष्ट्र' के उस संचालक ने, जून मास से अब तक, लगभग तीन हजार रुपयों के अस्त्र शस्त्र बगड़े से खरीदे थे। आप्टे, एक ऐसा आदमी था, जो हमेशा कोई-न-कोई साजिश पकाता रहता। कभी उसकी साजिश थी कि दिल्ली में जब मुस्लिम लीग की बैठक हो, तो हथगोले फेंककर जिन्ना को खत्म कर दिया जाए। आप्टे ने एक बार हत्यारों की टोली स्विट्जरलैण्ड तक भेजने की तैयारी कर ली थी। ताकि जिनेवा गए हुए जिन्ना का सफाया हो सके। आप्टे को इस बात पर बड़ा दु:ख था कि बीमार होने के कारण जिन्ना पाकिस्तान से निकल ही नहीं रहे थे। नारायण आप्टे की नवीनतम गतिविधि के अनुसार हैदराबाद में गुरिल्ला छापे पड़ना शुरू हो गए थे और निजाम को कत्ल करने की कोशिश भी शायद होने वाली।

"मैं किसी बड़े हंगामे के फेर में हूं।" नारायण आप्टे ने दिगम्बर बगड़े के कान में फूंक मारी। "वाकई जबर्दस्त हंगामा!" मुझे लोहे के कवच और हथगोलों की जरूरत पड़ेगी। कुछ पिस्तौल भी चाहिए।

दो पल के लिए बगड़े सोच में पड़ गया। कवच वगैरह का प्रबन्ध तो वह कर सकता था, लेकिन पिस्तौल हासिल करना, उन दिनों आसान नहीं था। उसने कहा कि पिस्तौल का प्रबन्ध वह दिसम्बर के आखिरी दिनों में कर पाएगा; उससे पहले नहीं। आप्टे उलझन में पड़ गया। आखिर उसने सहमति में सिर हिलाया। उसका "वाकई जबर्दस्त हंगामा" थोड़ी प्रतीक्षा कर सकता था। देर आए, दुरुस्त आए।

नई दिल्ली; दिसम्बर, 1947

प्यारेलाल नैय्यर ने, जो वर्षों से गांधीजी का स्वामीभक्त सचिव था, महसूस किया कि महात्माजी अत्यधिक उदास और चुप रहने लगे हैं। आजादी मिलते ही नेताओं ने कुर्सियां हथिया ली थीं और पल-पल में वे महात्मा की अहिंसा को भूलते जा रहे थे। न केवल अहिंसा को बल्कि स्वयं महात्मा को ही उन्होंने भूलना शुरू कर दिया था।

इधर महात्मा जी थे कि उन्हें लगातार सावधान करना चाहते। चारों तरफ जो भ्रष्टाचार पनपता दिखाई पड़ रहा था, उसे लेकर उन्होंने नेहरू और पटेल को कम खरी-खरी नहीं सुनाई थी। 'जिस देश में शरणार्थी भूखों मर रहे हों, उस देश के नेता बड़ी-बड़ी पार्टियां कैसे दे सकते हैं?' उन्होंने छोटा-सा सवाल पूछा जो दरअसल छोटा सवाल नहीं था। नेहरू और पटेल पर महात्मा ने स्पष्ट आरोप लगाया कि वे पश्चिम की प्रगति पर सम्मोहित होकर भारत के देहात को भूलते जा रहे हैं।

देश में अब भी शांति स्थापित नहीं हो सकी थी। दिल्ली के मुसलमान नेता गांधी जी से बार-बार आग्रह किए जा रहे थे कि वह दिल्ली से कहीं न जाएं; क्योंकि अगर वह गए, तो दिल्ली के मुसलमानों को बचाने वाला कोई न होगा। पंजाब से आए हुए सिख और हिन्दू शरणार्थियों को दिल्ली पुलिस की नौकरियां बड़े पैमाने पर दी गई थी। ये कर्मचारी मुसलमान विरोधी मानस के थे। सिख और हिन्दू शरणार्थियों ने अपने निजी उपयोग के लिए मस्जिदों और मुसलमानों के घरों पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया था। मुसलमानों के कुछ घर तो खाली पड़े थे; कुछ को शरणार्थियों ने जबरन खाली करवा लिया था।

गांधी जी को सर्वाधिक दुख इस बात का था कि दिल्ली में शांत वातावरण बनाए रखने के लिए 'आत्मा की शक्ति' बिल्कुल भी काम में नहीं लाई जा रही थी। केवल हथियार बन्द सैनिकों के जोर पर शहर के विस्फोटों को दबाकर रखा जा रहा था। जो शहर भारत की राजधानी था, देश के बड़े-बड़े नेता जहां बैठे थे, यहां तक कि स्वयं महात्मा गांधी जहां मौजूद थे, वहां 'आत्मा की शक्ति' की उस सीमा तक अनुपस्थिति मोहनदास करमचन्द गांधी से सही नहीं जा रही थी। वह कुछ करने के लिए अकुला रहे थे। वह बेहद चुप रहने लगे थे। हमेशा की तरह इस बार भी, यह चुप्पी, अवश्य इसी की द्योतक थी कि महात्मा गांधी कोई बड़ा कदम, कोई महत्वपूर्ण कदम उठाने से पहले अपनी अन्तरात्मा से परामर्श लेने में व्यस्त थे।.........

करांची; अक्टूबर-दिसम्बर, 1947

जिन्ना दिनोंदिन एकान्तप्रिय और चिड़चिड़े होते जा रहे थे। राष्ट्र का बड़े से बड़ा और छोटे-से-छोटा अधिकार उन्होंने अपने हाथों में रखा हुआ था। उनके सैन्य-सचिव कर्नल

बर्नी ने अपनी डायरी में लिखा है, ' जिन्ना की दशा उस बच्चे जैसी हो गई थी जिसे किसी चमत्कारवश चांद मिल गया हो और अब वह एक पल के लिए भी उसे छोड़ने को तैयार न हो।'

फेफड़ों को खाए जा रही, उनकी वह बीमारी बड़ी तेजी से सिर उठा रही थी। रोज उनकी उम्र का एक दिन न बढ़ कर एक मास बढ़ जाती। भारत के बुरे इरादों के भय ने उनकी नींद हराम कर रखी थी। जूनागढ़, कश्मीर, पंजाब.... सब जगह उन्हें भारत की मक्कारी के दर्शन हो रहे थे और ऐसा लगता था , जैसे उनके नए राष्ट्र को स्थिर होने का कोई अवसर ही भारत नहीं देना चाहता।

भारतीय मक्कारी का सबसे बड़ा परिचय उन्हें दिसम्बर के मध्य में मिला। हफ्तों-हफ्तों की गर्म बहसों के बाद भारत और पाकिस्तान ने आखिर उस बंटवारे की रूपरेखा तैयार की, जिसे आर्थिक और भौतिक साधनों का अन्तिम बंटवारा कहा जा सकता—और यहीं भारत ने गाज गिराई।

आजादी के समय भारत के खजाने में चालीस खरब नकद रुपए थे। उसमें से पाकिस्तान को कामचलाऊ अग्रिम के रूप में बीस करोड़ रुपए दिए गए थे। समझौते के अनुसार, अभी पचपन करोड़ रुपए शेष रह जाते थे, जिनके भुगतान के बाद ऐसा कहा जा सकता कि खजाने में से पाकिस्तान ने अपना हिस्सा पूरा पा लिया। भारत ने कहा कि जब तक कश्मीर समस्या सुलझ नहीं जाती, तब तक ये पचपन करोड़ रुपए दिए नहीं जाएंगे, वरन यह रकम निश्चित रूप से हथियार खरीदने में खर्च होगी और हथियार निश्चित रूप से भारतीय सेना पर ही आग उगलेंगे।

भारत की इस जिद ने जिन्ना को कंगाली की हद पर ला खड़ा किया। काम-चलाऊ अग्रिम की राशि समाप्त हो चुकी थी। सरकार के नागरिक कर्मचारियों के वेतन में ताबड़तोड़ कटौती करनी पड़ी। अन्त में जिन्ना को वह अपमान सहना पड़ा, जो उन जैसे गर्वीले व्यक्ति के लिए शर्म से डूब मरने जैसी बात थी। जिन्ना की सरकार ने ब्रिटिश ओवरसीज एयरवेज कारपोरेशन से एक हवाई-जहाज चार्टर किया था, जो शरणार्थियों के वहन में उपयोग हुआ। सरकार ने उक्त कारपोरेशन को जो चैक जारी किया, वह भुगतान हुए बगैर वापस चला गया, क्योंकि खाते में उतनी रकम ही नहीं थी।

मदनलाल पाहवा, कि जिसके लिए ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी "इस का नाम एक दिन सारे भारत में जाना जाएगा," अहमदनगर में, डेक्कन गेस्ट हाउस के मालिक विष्णु करकरे का संरक्षण पाकर फल-फूल रहा था। शहर से पांच मील दूर स्थित शरणार्थी शिविर में जाकर मदनलाल ने दस हजार शरणार्थियों का दल तैयार कर लिया।

ये लोग मुसलमान व्यापारियों के यहां जा-जा कर 'शरणार्थी सहायता कोष' के लिए चन्दा मांगते। देने से मना करने वाले की दुकान जला दी जाती। चन्दे में जो रकम

मिलती, वह केवल शरणार्थियों की सहायता में खर्च नहीं होती थी। उससे भांति-भांति के हथियार खरीद कर एकत्र किए जाने लगे। करकरे का सपना था कि जिस प्रकार शिवाजी ने छापामार युद्ध करके औरंगजेब की नाक में दम कर दिया था, उसी प्रकार वह भी उस सरकार की बधिया बिठा देगा, जो हिन्दू-मुसलमान एकता की मूर्खताभरी बातें कर रही है।

1948 के नववर्ष दिवस पर इस रोमांचक सपने में छिद्र हो गया। किसी हत्याकाण्ड की तहकीकात के सिलसिले में पुलिस ने जब अचानक आकर डेक्कन गेस्ट हाउस के व्यवस्थापक के कमरे की जांच की, तो गैर-कानूनी हथियारों के ढेर को छिपाया न जा सका। व्यवस्थापक ने घबराकर स्वीकार कर लिया कि ये हथियार विष्णु करकरे की सम्पत्ति है।

विष्णु करकरे और मदनलाल पाहवा अहमदनगर से भाग निकले—उतनी मशक्कत से जमा किए गए उन तमाम हथियारों को पीछे छोड़कर। उन्होंने साठ मील दूर स्थित पूना की दिशा पकड़ी, जहां 'हिन्दू राष्ट्र' के व्यवस्थापक नारायण आप्टे के साथ विष्णु करकरे की दांत कटी रोटी थी। 'सम्पादक नाथूराम गोडसे का भी पूरा सहयोग हमें मिलेगा।' विष्णु करकरे ने मदनलाल पाहवा को आश्वस्त किया।

नई दिल्ली; 12 जनवरी 1948

किसी समय का वायसराय का अध्ययन कक्ष आज गवर्नर जनरल का कार्यालय था, जहां उस वक्त, महात्मा गांधी, लॉर्ड माउण्टबेटन के सामने बैठे हुए थे। इसी कक्ष में, इन्हीं दो व्यक्तियों ने, पिछले वर्ष उन अत्यधिक नाजुक वार्ताओं को सम्पन्न किया था; जिनके आधार पर भारत का भाग्य-निर्णय किया जाना था। तब, ये दोनों व्यक्ति अत्यधिक शक्ति और सामर्थ्य के केन्द्र थे।

आज स्थितियां पलट गई थीं। जिस आपातकाल-समिति ने माउण्टबेटन को गुप्त रूप से भारत पर राज्य करने के सम्पूर्ण अधिकार सौंप दिए थे, उसे अब भंग किया जा चुका था। माउण्टबेटन की हैसियत फिर से एक मात्र गवर्नर जनरल की रह गई थी। भारत के राजनीतिक दृश्य को प्रभावित करने की उन की क्षमता अब मात्र इतनी रह गई थी भारतीय नेताओं के साथ अपनी व्यक्तिगत दोस्ती के जोर पर अगर कोई बात मनवा ली, तो मनवा ली; वरना कुछ नहीं।

महात्मा गांधी की स्थिति भी ऐसी रह गई थी, जैसे तेजी से बहती किसी धारा ने कोई लक्कड़ किनारे सरका दिया हो, जो अब फालतू पड़ा हो। पुराने साथियों ने भी अकस्मात् उन के आदर्शों का त्याग कर दिया था। उन के अहिंसा धर्म को चुनौती देने के लिए हर कोने में कोई-न-कोई खड़ा था।

माउण्टबेटन ने भले ही महात्मा के विरुद्ध जा कर देश का विभाजन किया; किन्तु महात्मा का जो व्यक्तिगत स्नेह उन के प्रति था, उसमें कोई कमी नहीं आई थी। महात्मा ने,

बल्कि; यहां तक महसूस किया था कि आजादी के बाद मेरी जो भी गतिविधियां रही हैं, उनका सही मूल्यांकन अगर कोई कर सका है, तो केवल लार्ड माउण्टबेटन।

"मुझे आशा है कि आप अन्यथा नहीं लेंगे......" महात्मा गांधी का स्वर था, "मैं आपको अपने एक निर्णय की सूचना देने आया हूं। दिल्ली में जब तक पूर्ण एकता और शान्ति की स्थापना न हो जाए--और यह स्थापना भी सेना के जोर पर नहीं, बल्कि आत्मा की शक्ति के जोर पर —तब तक मैं .... आमरण उपवास करना चाहता हूं।"

गहरी सांस के साथ गवर्नर-जनरल अपनी कुर्सी में बैठे रह गए। उन्हें मालूम था, गांधी जी के साथ बहस करने का कोई अर्थ नहीं। इसके अलावा, उन्हें अकस्मात् यह भी महसूस हुआ कि गांधी जी के इस निर्णय के पीछे उनके जीवन भर का संचित असीम साहस काम कर रहा है। अपने आदर्शों और अनुभवजनित निष्कर्षों को वह यदि दांव पर लगाना चाहते हैं, तो उन्हें इस का हक है।

"मैं भला क्यों अन्यथा लूंगा?" माउण्टबेटन बोले, "मेरा ख्याल है कि जो आप करने जा रहे हैं उसके अधिक भव्यता मनुष्य के किसी कार्य में नहीं हो सकती। मैं शुरू से आप को बेहद पसन्द करता रहा हूं। जहां अन्य कोई शक्ति काम न कर रही हो, वहां आप हमेशा सफल होते रहे हैं।"

इन शब्दों के साथ माउण्टबेटन के मस्तिष्क में कौंध-सी हुई। उपवास शुरू होते ही देश की सबसे बड़ी नैतिक शक्ति गांधी जी पर केन्द्रित हो जाएगी। भारत सरकार पर उनका नियंत्रण इतना अधिक होगा, जितना देश के अन्य किसी व्यक्ति का नहीं। उपवास की वह अवधि कुछ घण्टों चले, चाहे हुछ दिन, लेकिन बिड़ला हाउस में बिछी दरी पर लेट कर जब गांधी जी मौत की दिशा में धीमे-धीमे बढ़ना शुरू करेंगे, तब देश के सर्वाधिक जीवन्त व्यक्ति वही होंगे। नेहरू और पटेल एक बार गवर्नर जनरल का प्रस्ताव गिरा सकते हैं लेकिन उपवास की यातना सह रहे गांधी का प्रस्ताव नहीं। माउण्टबेटन ने गांधी जी से कहा कि हमारी सरकार पाकिस्तान को उस की रकम अदा करने से मना कर रही है। सरकार के तमाम कार्यों के बीच यही एकमात्र कार्य ऐसा है जो जानबूझकर किया जा रहा है और जो गलत है।

गांधी जी तनकर बैठ गए। "जी हां!" वह सहमत होते हुए बोले, "यह गलत है। अनैतिक है। बेईमानी है। अन्तर्राष्ट्रीय वायदा खिलाफी है।"

और इन के होठों से शब्दों का प्रवाह फूट पड़ा। एक बार जब सरकार ने अनुबन्ध कर लिया है तो वह उससे पीछे कैसे हट सकती है? भारत को तो अपना व्यवहार ऐसा रखना चाहिए कि सारी दुनिया की आंखें खुल जाएं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत को अपनी आत्मा की शक्ति का प्रकाशन करना चाहिए। क्या जन्म के बाद, इतना जल्दी नए भारत के आदर्श इतने गिर जाएंगे कि ...... नहीं-नहीं......

महात्मा ने माउण्टबेटन से कहा कि अब वह अपने उपवास को एक नया आयाम देंगे। वह दिल्ली की शान्ति के लिए तो उपवास करेंगे ही, भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के लिए भी उपवास करेंगे। वह तब तक अन्न ग्रहण नहीं करेंगे; जब तक भारत, पाकिस्तान के साथ किए गए अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्ध का शब्दशः पालन करने को तैयार न हो जाए।

निःसन्देह; महात्मा गांधी का वह फैसला ईमानदारी और साहस का फैसला था। विडम्बना यह कि वही फैसला घातक भी सिद्ध होने वाला था।

महात्मा के चेहरे पर एक ऐसी मुस्कान खिल उठी, जो बच्चों जैसी सरल और शैतानी पूर्ण थी। उन्होंने माउण्टबेटन से कहा, 'मेरी बात वे अभी नहीं सुनेंगे। एक बार मेरे उपवास शुरू हो जाने दीजिए। फिर देखिएगा!'

□□□

17

'गांधी की जान-जाने दो! '

अन्तिम उपवास; नई दिल्ली; 13-18 जनवरी, 1948

मोहनदास करमचन्द गांधी का अन्तिम उपवास 13 जनवरी, 1948 की सुबह 11 बजकर 55 मिनट पर शुरू हुआ। उस समय बहुत कम लोग मौजूद थे—आभा और मनु; उनकी 'बैसाखियां'। प्यारे लाल नैय्यर; उनका सचिव। सुशीला नैय्यर; प्यारेलाल की बहन, जो डॉक्टर थी और उपवास की पूरी अवधि में गांधी जी की सेवा करने वाली थी। जवाहरलाल नेहरू; गांधी जी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी।

भारतीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समाचार पत्रों ने इस उपवास को इतना महत्व दिया, जितना कलकत्ता के उपवास को भी नहीं मिला था। दूसरी तरफ; अधिकांश व्यक्ति इस उपवास का कारण ठीक से न समझ पाए। कलकत्ता की तरह दिल्ली में हिंसा का कोई ऐसा जल जला नहीं आ गया था कि गांधी जी को एकाएक अनशन पर आमादा होना पड़े। दिल्ली में तनाव अवश्य था, मगर कहीं भी खून खराबा दुबारा शुरू नहीं हुआ था।

उपवास तोड़ने की जो शर्तें महात्मा गांधी ने सामने रखी थीं, उन्हें देश की जनता ने पसन्द नहीं किया। पाकिस्तान को 55 करोड़ की रकम बिना शर्त, अविलम्ब दे दी जाए—महात्मा के इस आग्रह ने असंख्य व्यक्तियों को आक्रोश से भर दिया।

लेकिन, उपवास शुरू करके, महात्मा गांधी ने अपने देशवासियों से अचानक पूछा था, 'तुम लोगों के लिए मेरी जिन्दगी का अर्थ क्या है? अर्थ कुछ है भी या नहीं? क्या कहते हो? मैं जिन्दा रहूं या नहीं?'

पूना; 13 जनवरी, 1948

भारत की राजधानी से सात सौ मील के फासले पर; लाल बटन दबा कर जिन दो व्यक्तियों ने 'हिन्दू राष्ट्र' अखबार की नई छपाई मशीन चालू की थी; उन्हीं दो व्यक्तियों की आंखें, उस अखबार के टेलीप्रिण्टर पर जैसे चिपकी रह गई थीं। टेलीप्रिण्टर की छड़े खटाखट जो सन्देश टाइप कर रही थीं। उसने नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे की नियति अब निश्चित रूप से तय कर दी थी। उस त्वरित सन्देश में महात्मा गांधी के उपवास एवं उस के उद्देश्यों को, शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशन के लिए, सारे देश के समाचार-पत्रों तक पहुंचाया जा रहा था।

नाथूराम गोडसे का चेहरा फक पड़ गया। 'यह तो राजनीतिक कालाबाजारी है!' उसने सोचा, 'मुसलमान हत्यारों और बलात्कारियों को उनकी रकम बिना शर्त, बिना विलम्ब दिलवा देने के लिए बूढ़ा अपनी जान दांव पर लगा रहा है। विशुद्ध कालाबाजारी!'

गोडसे ने घूम कर आप्टे की ओर देखा। आप्टे का भी रंग उड़ा हुआ था। गोडसे बोला, 'हैदराबाद में गुरिल्ला छापों के संचालन या जिन्ना की हत्या से भी पहले, अब हमें गांधी को खत्म करना होगा। अपनी सारी शक्तियों को, समस्त साधनों को हमें अब इसी एक उद्देश्य के पीछे झोंक देना है।'

उसी दिन; 'हिन्दू राष्ट्र' के कार्यालय में, चार व्यक्तियों की जो छिपी बैठक हुई; उस की टोह लेने के लिए सी.आई.डी. का कोई गुप्तचर किसी खिड़की के पीछे दुबका हुआ नहीं था। तीन मास पहले अखबार की छपाई-मशीन के उद्घाटन समारोह की टोह जिस गुप्तचर ने ली थी; उसे आदेश दिया गया था कि इन व्यक्तियों का पीछा फिलहाल छोड़ दो। यह आदेश विडम्बनापूर्ण न कहा जाए, तो क्या कहा जाए!—क्योंकि उस बैठक में नाथूराम गोडसे के मुंह से जो शब्द निकले, वे किसी भी भारतीय गुप्तचर के लिए सर्वाधिक महत्व के हो सकते थे।

गोड़से ने कहा, "अब हमें कोई-न-कोई कार्रवाई करनी ही होगी। गांधी की कालाबाजारी हमें हर सूरत में रोकनी है। गांधी को खत्म करने के लिए अगर खुद हम ही को खत्म हो जाना पड़े, तब भी क्या है!........"

बैठक के शेष तीन व्यक्ति थे—नारायण आप्टे; नाथूराम का साझेदार और 'हिन्दू राष्ट्र' का कामुक व्यवस्थापक विष्णु करकरे, डेक्कन गेस्ट-हाउस का मालिक। मदनलाल पाहवा; पंजाबी शरणार्थी, जिस का नाम सारे भारत में फैलने की भविष्यवाणी हुई थी।

ये चारों व्यक्ति, परस्पर सहमत होने के बाद, 'हिन्दू राष्ट्र' के कार्यालय से निकले और सीधे उस व्यक्ति के घर की ओर बढ़े, जो बम्बई पुलिस को झांसा देने के लिए हमेशा साधु के वेश में बाहर निकलता था और जो गैर-कानूनी हथियारों के लेन-देन का उस्ताद था।

दिगम्बर बगड़े ने उन चारों के सामने भांति-भांति के हथियार उसी मुस्तैदी और तसल्ली के साथ फैला दिए, जिस तरह कोई जौहरी अपने सब से श्रेष्ठ हीरे-मोतियों का प्रदर्शन किया करता है। हथगोलों एवं अन्य विस्फोटक पदार्थों के उस अम्बार में, लेकिन वह चीज मौजूद नहीं थी, जिस की उन चारों को सब से ज्यादा तलाश थी—छोटे आकार का स्वचालित पिस्तौल।

नारायण आप्टे ने सबसे कहा कि अब हमें अगली मुलाकात बम्बई में करनी है—14 जनवरी, बुधवार को जब अन्धेरा घिर चुका हो; तब........ हिन्दू महासभा के दादर-स्थित कार्यालय में।

इस फैसले के साथ वे, रात के अन्धकार में छिपते हुए, बिखर गए।

जब तक शक्तियां साथ दें, तब तक उपवास के दिनों में भी गांधी जी अपने दैनिक कार्यक्रमों में कोई अन्तर नहीं आने देते थे। आज भी उन्होंने सूर्योदय से पहले उठकर गीता का पाठ किया। अनशन के दिनों का 'भोजन' मनु ने उन के सामने रखा—कुनकुने पानी का गिलास और सोडा बायकार्बोनेट।

गांधी जी के सब से छोटे लड़के देवदास ने एक भावभीना पत्र लिख कर उनसे आग्रह किया था कि वह उपवास न करें, क्योंकि वह देश की जितनी सेवा जिन्दा रह कर करेंगे, उतनी मर कर नहीं। मनु को बुलाकर गांधी जी ने जवाब लिखवा दिया, 'मेरा अनशन केवल ईश्वर के आदेश पर समाप्त होगा। तुम्हें—एवं सबको—कभी नहीं भूलना चाहिए कि ईश्वर मुझे जीवित रखता है या नहीं, इस का बिल्कुल कोई महत्व नहीं है। ईश्वर से मैं एक ही प्रार्थना करता हूं कि वह मुझे शक्ति दे, ताकि मैं जीवन के मोह में पड़कर अपने अनशन को समय से पहले ही तोड़ देने के लालच से बच सकूं......'

गांधी जी की शक्तियों की अत्यधिक चिन्ता उस नवयुवती को थी, जो डॉक्टर होने के कारण जानती थी कि कलकत्ता के उपवास और देश की चिन्ता ने महात्मा के बदन को, भीतर-ही-भीतर कितना खोखला कर दिया है। उपवास के प्रथम चौबीस घण्टों में गांधी जी का वजन चौबीस पौण्ड घट गया था। वह घड़ी जल्दी ही आने वाली थी, जब शरीर में चरबी के सर्वथा अभाव के कारण महात्मा के प्रोटीन का दहन शुरू हो जाएगा। यदि इस दहन को शीघ्र न रोका गया, तो..........

दोपहर से पहले मन्त्रिण्डल के सदस्य, नेहरू और पटेल की अगवानी में; उस व्यक्ति के चारों और एकत्र हो गए, जो एक बार फिर सम्पूर्ण भारत की आत्मा बन गया था। वे महात्मा की उस मांग पर परामर्श करने आए थे, जिसके अनुसार पाकिस्तान को 55 करोड़ रुपये अविलम्ब और बिना शर्त दे दिए जाने थे। इस मांग ने अधिकांश मन्त्रिमण्डल को आघात पहुंचाया था। सरदार वल्लभभाई पटेल तो नाराज भी हो गए थे। नेहरू और पटेल ने मिलकर सफाई देनी चाही कि वह रकम हमेशा के लिए थोड़े ही दबाई जा रही है; लेकिन अगर उस का भुगतान ऐन अभी कर दिया गया, तो वह अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारने जैसा होगा;

क्योंकि पाकिस्तान उस का उपयोग निश्चित रूप से हथियार खरीदने में करेगा, जो निश्चित रूप से भारत के विरुद्ध उपयोग होंगे और इससे कश्मीर की समस्या और-और उलझती जाएगी।

गांधी जी बोले कुछ नहीं। चुपचाप छत की ओर देखते रहे, सुनते रहे। आखिर जब सरदार पटेल ने अपना तर्क बार-बार उनके सामने रखा, तो वह बड़े कष्ट के साथ दरी पर से उठने लगे। शरीर को कोहनियों का सहारा देते हुए महात्मा ने उस व्यक्ति की आंखों में देखा, जिसने न जाने कितने संघर्षों में उन्हें पूर्ण सहयोग दिया था।

"तुम वह सरदार नहीं हो, जिसे मैं इतने वर्षों से जानता हूं।" गांधीजी भारी स्वर में बुदबुदाए और वापस दरी पर निढ़ाल हो गए।

गांधीजी से अनशन तोड़ने का आग्रह करते हिन्दुओं सिखों और मुसलमानों के प्रतिनिधि मण्डल बिड़ला हाउस में आते ही जा रहे थे। वह प्रतिक्रिया, लेकिन, अभी तक बिड़ला हाउस के निकट पहुची नहीं थी; कि जिसे आम आदमी की प्रतिक्रिया कहा जा सकता।

कनाट-प्लेस और चांदनी चौक जैसे इलाकों में, जहां दिल्ली का आम आदमी खुली बहसें किया करता था, सादा पोशाक में घूम रहे अधिकारी उन्हीं बेबाक प्रतिक्रियाओं की टोह ले रहे थे। एक आघातजनक सच्चाई अधिकारियों के सामने उभर रही थी .... जनता का सबसे बड़ा सवाल, उस दिन, यही नहीं था कि गांधी का जीवन कैसे बचाया जाए। जनता बढ़-बढ़कर पूछ रही थी, 'यह बूढ़ा आखिर कब तक हमें तंग करता रहेगा?'

उस शाम; जब रात होने में विशेष देर नहीं थी, एक छोटे से जुलूस ने बिड़ला हाउस की ओर बढ़ना शुरू किया। उसमें अधिकांश हिन्दू शरणार्थी चल रहे थे। अपने नारे को वे पूरे दम-खम के साथ आकाश तक गुंजा रहे थे। उसी नारे को वे झण्डों और इश्तहारों आदि पर लिख कर भी लाए थे, जिनका वे पूरी ढिठाई के साथ प्रदर्शन कर रहे थे। उपवास की अशक्ति के कारण गांधीजी उस नारे का स्वागत करने के लिए बिड़ला हाउस से बाहर न आ सके। रूखी दरी पर लेटे महात्मा ने अपने सचिव प्यारेलाल से पूछा, "वे क्या कह रहे हैं? मैं ठीक से सुन नहीं पा रहा।"

उत्तर देने से पहले प्यारेलाल को गहरी सांस लेनी पड़ी, "वे कह रहे हैं, गांधी की जान-जाने दो!"

बम्बई; 14 जनवरी, 1948

तीन व्यक्ति, जो बड़ी शिद्दत से चाहते थे कि गांधी की जान चली जाए, बम्बई की उस पुरानी दो मंजिला इमारत के गेट पर खड़े थे, जिसकी दीवार पर जड़ा संगमरमरी नामपट्ट सबको सरेआम बताए दे रहा था, कि वह भवन कैसे और किन संवादों का साक्षी बनता है— "सावरकर सदन"।

वह उस व्यक्ति का निवास-स्थान था; जिसे महात्मा गांधी की एक-एक बात से, एक-एक उपलब्धि और एक-एक गतिविधि से सख्त घृणा थी। महात्मा गांधी चाहे बिड़ला हाउस में रह रहे होते या किसी हरिजन बस्ती में; उनका निवास-स्थान अनिवार्य रूप से अहिंसा की किरणें बिखेरता था। ठीक विपरीत; सावरकर सदन में से, अनिवार्य रूप से, उग्र हिंसा की किरणें निरन्तर बिखरती रहतीं।

उन तीन व्यक्तियों में से एक ने अपनी बगल में तबला दबा रखा था। बम्बई-पुलिस को झांसे में रखने के लिए, इस बार, दिगम्बर बगडे ने साधु की बजाए संगीतकार का रूप धारण किया था।

दरबान ने उन तीनों को वीर सावरकर के स्वागत कक्ष में बिठाया।

वीर सावरकर से मिलने के लिए, उस दिन, केवल वे तीन व्यक्ति ही नहीं आए थे। गोडसे, आप्टे और बगडे से पहले वहां दो और व्यक्ति आकर जा चुके थे। विष्णु करकरे ने मदनलाल पाहवा को वीर सावरकर के सामने पेश करते हुए कहा था कि यह पंजाबी हमारा 'अत्यन्त साहसी कार्यकर्त्ता' है। सावरकर ने मदनलाल को आशीर्वाद दिया था।

सावरकर से मुलाकात पूरी हो चुकने पर, बगड़े तो हिन्दू महासभा के सामान्य कक्ष में रात बिताने चला गया और गोडसे को साथ लिए हुए आप्टे चला गया 'सी ग्रीन होटल' में।

होटल में कमरे बुक करने के साथ नारायण आप्टे ने एक खास जगह का दूरभाष नम्बर मिलाया। जो व्यक्ति भारत का, उस शताब्दी का, सबसे बड़ा अपराध करने निकला था; वही व्यक्ति बाम्बे पुलिस डिपार्टमेण्ट के केन्द्रीय कार्यालय का नम्बर मिलाएगा, यह कभी किसी के जेहन में नहीं आ सकता था। आपरेटर की 'हैलो' सुनाई पड़ने पर आप्टे ने एक्स्टेन्शन 305 की मांग की। अब लाइन के दूसरे छोर से जो उत्साहित आवाज आ रही थी; जो अपनी उस शाम को नारायण आप्टे के बिस्तर में गुजारने वाली थी।

15 जनवरी, गुरुवार को; सुबह जब डॉ. सुशीला नैय्यर ने गांधीजी के पेशाब की जांच की, तो पाया कि उसमें एसिटोन और एसेटिक एसिड आना शुरू हो गया है। गांधीजी के शरीर के पास, अपनी जीवन-प्रक्रिया को टिकाए रखने के लिए, चरबी रूपी ईंधन अब शेष नहीं था। शरीर ने अपने आप को ही खाना शुरू कर दिया था—प्रोटीन के दहन द्वारा। अनशन प्रारम्भ होने के अड़तालीस घण्टों के भीतर महात्मा गांधी ने 'डेन्जर जोन' में प्रवेश कर लिया था।

उस नवयुवती डॉक्टर के सामने जब संयुक्त राज्य अमेरिका जाकर युनाइटेड नेशन्स की फेलोशिप स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा गया था, तो उसने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि मुझे तो यहां महात्मा गांधी की सेवा करनी है। डॉ. सुशीला नैय्यर ने पेशाब की जांच द्वारा एक और डरावनी बात का पता लगाया। पिछले चौबीस-घण्टों में गांधी ने अड़सठ औंस कुनकुना पानी और सोडा-बायकार्बोनेट पीया था। पेशाब के जरिए उन्होंने सिर्फ अठाईस

औंस पानी का त्याग किया। कलकत्ता के उपवास ने महात्मा के गुर्दों को इतना आहत कर दिया था कि अब वे ठीक से काम नहीं कर रहे थे।

अनशन के तीसरे दिन भारत की राजधानी का मानस बदलना शुरू हुआ। लाल किले पर दस हजार लोग नेहरू का भाषण सुनने आए जिन्होंने शान्ति की अपील करते हुए कहा कि यदि महात्माजी को खो दिया, तो भारत अपनी आत्मा खो देगा।

गवर्नमेण्ट-हाउस में लुई माउण्टबेटन ने, उपवास कर रहे महात्मा की सहानुभूति में, सभी स्वागतों और प्रीति-भोजों को रद्द कर दिया। दिल्ली की गलियों में इक्के-दुक्के जुलूस दिखाई पड़ने लगे, जो शान्ति की अपील कर रहे थे। कलकत्ता में तो, इतने समय में, कुछ-का-कुछ हो गया था। जबर्दस्त जुलूस .... जबर्दस्त सभाएं .... लेकिन दिल्ली इस बार इतनी क्रूर और ठण्डी साबित हो रही थी कि मनु को डर लगा, दिल्ली वाले कहीं फिर से यही नारा न लगाने लगें, "गांधी की जान-जाने दो!"

आश्चर्य यह कि सर्वाधिक सहानुभूति पाकिस्तान ने व्यक्त की। लाहौर से तार द्वारा गांधीजी को सूचित किया गया, यहां हर आदमी की जुबान पर एक ही सवाल है—'गांधी का जीवन कैसे बचाया जाए?' पाकिस्तान की सारी मस्जिदों में गांधी की जीवन-रक्षा के लिए दुआएं मांगी जा रही थीं।

गुरुवार की दोपहर को भारत सरकार ने घोषणा कर दी कि उसने पाकिस्तान की बकाया रकम, 55 करोड़ रुपये के भुगतान के लिए आदेश दिए हैं।

बम्बई; 15 जनवरी, 1948

55 करोड़ रुपये के उस भुगतान ने क्रान्ति-मन्दिर सावरकर सदन के निवासियों एवं मुलाकातियों के सीने में 55 करोड़ कीलें ठोंक दी थी, तुरन्त उस नकली साधु ने, अपने तबले में से निकले विस्फोटक पदार्थों का उपयोग करने के तरीके गोडसे और आप्टे को समझाने शुरू किए।

आज नकली साधु के तबले में से वह चीज भी निकल आई थी, जिसकी गोडसे और आप्टे को सर्वाधिक प्रतीक्षा थी—पिस्तौल। उसका निर्माण घर में किया गया था। वह चीज देखने में ही इतनी फूहड़ लग रही थी कि आप्टे बुदबुदाया, "गोली चलाते वक्त कहीं यह हमारे ही हाथ की धज्जियां न उड़ा दे!" उनकी साजिश का अधिकतम आधार पिस्तौल पर था और उसी चीज को हासिल करना इतना मुश्किल पड़ रहा था कि सोच कर ही दिमाग घूम जाए। बारूद एकत्र करने में तो उन्होंने इस हद तक सफलता पा ली थी कि अगर चाहते, तो किसी तिमंजिला भवन को भी उड़ा सकते थे; लेकिन अभी तक वह छोटा-सा, सरल हथियार उन्हें नहीं मिल पाया था, जो उनकी सफलता के लिए सर्वाधिक आवश्यक था। यहां तक कि रुपयों की प्राप्ति भी, पिस्तौल की तुलना में, कहीं आसान रही थी। नारायण आप्टे ने अपने उग्र

हिन्दू मित्रों के बीच केवल एक दिन दौरा लगाया और हजार-हजार रुपयों के अनेक नोट उनकी जेब में आ गए—लेकिन पिस्तौल?

बगड़े को अब तक बताया नहीं गया था कि साजिश क्या है। बगड़े पर पूरा विश्वास न आप्टे करता था न गोडसे। अब; सहसा आप्टे ने महसूस किया कि बगड़े को अपने साथ दिल्ली ले जाना अत्यन्त आवश्यक है। विस्फोटक पदार्थों की तकनीकी जानकारी रखने वाला एकाध व्यक्ति तो साथ रहना ही चाहिए; न जाने कब कैसी जरूरत पड़ जाए।

आप्टे, बगड़े को बरामदे में ले गया और उसके गले में हाथ डालता हुआ बोला, "हमारे साथ दिल्ली चलो।" फिर आप्टे ने वह बात कही, जिसके बिना बगड़े का लालची स्वभाव आश्वस्त नहीं हो सकता था, "तुम्हारे आने-जाने रहने, खाने-पीने का सारा खर्च हम उठाएंगे।"

बगड़े द्वारा जो भी और जैसे भी हथियार लाए गए थे, उन्हें मदनलाल पाहवा के बिस्तरे में छिपा दिया गया। पाहवा और विष्णु करकरे को, उसी रात, बम्बई के वी.टी. स्टेशन से फ्रण्टियर मेल पकड़ना था; जो उन्हें दो दिनों की यात्रा के बाद दिल्ली पहुंचा देगा। नाथूराम का छोटा भाई गोपाल गोडसे और दिगम्बर बगड़े, अड़तालीस घण्टों बाद, अलग-अलग ट्रेनों से दिल्ली पहुंचेंगे। नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे हवाई जहाज से आएंगे। दिल्ली में ये सब हिन्दू महासभा भवन में एकत्र होंगे, जो बिड़ला मन्दिर से जुड़ा हुआ है। गांधीजी उन दिनों जिस बिड़ला हाउस में रहते हुए उपवास कर रहे थे, उसी के स्वामी ने बिड़ला मन्दिर का भी निर्माण करवाया था; जिसके सान्निध्य में गांधीजी के सम्भावित हत्यारे आकर मिलने वाले थे।

गुरुवार की शाम, बिड़ला-हाउस के लॉन में, सैकड़ों व्यक्तियों की भीड़ जमा थी; जिसने न जाने किस आधार पर आशा रखी थी कि प्रार्थना सभा में महात्मा जी अवश्य सामने आएंगे। आशा फलीभूत न हुई। गांधी जी में आज इतनी भी शक्ति नहीं रही थी कि उठ कर जनता के सामने आ सकते और यदि आ भी जाते, तो बिना सहारे के बैठ सकते। बिड़ला हाउस में अपनी दरी पर लेटे हुए उन्होंने श्रोताओं के नाम सन्देश दिया, जो माइक्रोफोन द्वारा जनता तक पहुंचाया गया। जिस आवाज ने देश के करोड़ों लोगों को मार्गदर्शन दिया था, वह उस शाम इतनी धीमी थी कि माइक्रोफोन पर भी ठीक से सुनाई नहीं दे रही थी। अनेक श्रोताओं ने ऐसा महसूस किया, जैसे महात्मा जी इस धरती पर हैं ही नहीं और उन की वह परिचित आवाज तो सुदूर स्वर्ग से आ रही है .... धीमी-धीमी ....

प्रार्थना-सभा के समापन पर लोग, अपने प्रिय महात्मा के दर्शनों के लिए; कतार बना कर; बिड़ला हाउस में, धीमे-धीमे प्रवेश करने लगे।

शुक्रवार की सुबह, डॉ. सुशीला नैय्यर ने, महात्मा की शारीरिक दशा पर अपना जो बुलेटिन प्रकाशित किया; वह स्तब्ध कर देने वाला था। स्नानागार में जाते समय गांधी जी

एकाएक बेहोश होकर गिर पड़े थे। उन्हें होश में तो ले आया गया, लेकिन .... उनका वजन नहीं घट रहा था। पिछले 48 घण्टों से वह 107 पौण्ड के ही थे—जो कि एक अस्वाभाविक और घातक स्थिति थी। यह इसका ठोस सबूत था कि गांधी जी प्रतिदिन जो पानी पी रहे हैं, वह कमजोर गुर्दों के कारण ठीक से निष्कासित नहीं हो पा रहा है और शरीर में ही ठहर कर दूषण का कारण बन रहा है। इस दूषण ने उनके रक्त चाप और हृदय पर इतना कुप्रभाव डाला था कि मृत्यु अपना हमला करने के लिए कभी भी प्रकट हो सकती थी। किसी चमत्कारवश यदि मृत्यु को टाला जा सका, तो भी .... महात्मा के शरीर को इस हद तक अन्दरूनी आघात पहुंच चुका था कि .... अनशन यदि तुरन्त समाप्त करवाया जा सका, तो भी........... कहीं ऐसा न हो कि महात्मा जी को अपना शेष सारा जीवन एक अपंग के रूप में बिताना पड़े ....

दरअसल, डॉ. सुशीला नैय्यर के बुलेटिन में छिपी चेतावनी के बिना ही, न जाने कैसे, सारे देश ने आभास पा लिया था कि बापू का जीवन खतरे में है। शुक्रवार की सुबह से ही देश की राजधानी में अजब, विद्युतमय चौकन्नेपन का आभास मिल रहा था। डॉक्टर के बुलेटिन ने उस चौकन्नेपन को और पैना कर दिया।

आल इण्डिया रेडियो ने महात्मा की दशा का बुलेटिन, घण्टे-घण्टे भर में, सीधे बिड़ला हाउस से ही प्रसारित करना शुरू कर दिया। भारतीय और विदेशी संवाददाताओं की भीड़ बिड़ला हाउस के गेट पर जमा हो गई, जो महात्मा की मृत्यु का समाचार सुनने के लिए अपना जी कड़ा कर रही थी। भारत के हर शहर और नगर के हजारों मैदानों में जनता उमड़ पड़ी; जो भाईचारे, एकता और मानवप्रेम के नारे लगा रही थी। देखते-देखते, पूरे भारत में, 'गांधी जीवन-रक्षा समितियां' खड़ी हो गई। इन समितियों में प्रत्येक धर्म और विचारधारा के व्यक्ति शामिल हुए। उस दिन डाकघरों ने लाखों पत्रों के टिकटों पर जो मुहर लगाई, उसमें लिखा था—'साम्प्रदायिक शान्ति रखें। गांधी का जीवन बचाएं।' जगह-जगह आयोजित प्रार्थना-सभाओं में हजारों की भीड़ ने महात्मा की रक्षा के लिए ईश्वर से अनुनय किया। उस शुक्रवार को, भारत में ऐसी एक भी मस्जिद नहीं थी, जहां गांधी जी के जीवन के लिए दुआएं न मांगी गई। बम्बई के अछूतों ने अत्यन्त भावभीना तार भेजकर गांधी जी से आग्रह किया, 'आप के बिना हमारा कौन?'

लेकिन सर्वाधिक चमत्कार तो दिल्ली में देखा गया—वही दिल्ली, जिसके लोग अभी तक अलग-थलग खड़े तमाशा देख रहे थे। हर बाजार, हर मुहल्ले से लोग नारे लगाते निकल पड़े। गांधी की पीड़ा की सहानुभूति में सारी दुकानें बन्द हो गईं। हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों ने जल्दी-जल्दी 'शान्ति ब्रिगेडों' की रचना की। तीनों कौमें, बाहों में बाहें डालकर, जुलूस बनाकर निकल पड़ीं। ट्रकों में भर-भरकर युवक-युवतियां सारी दिल्ली में घूमे। वे तालियां बजा-बजाकर नारे लगा रहे थे, 'बापू हमें जान से प्यारे हैं।' स्कूल बन्द। कॉलेज बन्द।

विश्वविद्यालय बन्द। सर्वाधिक द्रावक दृश्य तो तब सामने आया, जब पंजाब के दंगों में बेवा हो चुकी स्त्रियों और लावारिस हो चुके बच्चों का एक मिला-जुला जुलूस बिड़ला हाउस पहुंचा और जिद पर अड़ गया कि गांधी जी के साथ हम भी उपवास करेंगे।

निःसन्देह; भक्ति और भावुकता का वह विस्फोट अद्वितीय था; किन्तु बिड़ला हाउस के भीतर खटिया पर पड़े उस बुढ़ऊ ने पसीजने का नाम न लिया। किसी ने आशा नहीं रखी थी कि देशवासियों को द्रवित करने के लिए गांधी जी के उपवास उतनी दीर्घ अवधि तक खिंच जाएंगे; लेकिन एक बार जब देशवासी द्रवित हो चुके थे, तो गांधी जी उस अवसर को अधिक-से-अधिक उपयोगी बना लेना चाहते थे। इसीलिए वह स्वयं को मृत्यु के अधिकाधिक निकट ले जा रहे थे; ताकि अपने देशवासियों के दिलों में जिस गहरे एवं अर्थपूर्ण परिवर्तन के वह आकांक्षी थे, उसे सम्भव किया जा सके।

चौथे दिन भी गांधी जी का वजन 107 पौण्ड ही रहा। उनके गुर्दों की शिथिलता बढ़ती जा रही थी। प्रतिदिन वह जो पानी पी रहे थे, उसके निष्कासन में उनके गुर्दे समर्थ नहीं थे। आज, डॉ. सुशीला नैय्यर के साथ, तीन और डॉक्टरों ने गांधी जी की जांच की। उनके पेशाब में ऐसिटिक एसिड का आधिक्य एक गम्भीर समस्या बन चुका था। यहां तक कि उन की सांसों में भी उसी एसिड की गन्ध आ रही थी। धड़कन बहुत जल्दी-जल्दी हो रही थी, मगर उसकी स्पष्टता और नियमितता खत्म होती जा रही थी।

चारों डॉक्टरों के सम्मिलित बुलेटिन ने कहा कि वर्तमान स्थितियों के जारी रहने पर गांधी जी हद-से-हद 72 घण्टे जीएंगे; लेकिन वास्तव में, आगामी 24 घण्टे बीतते-बीतते उनका अवसान हो जाने के सभी लक्षण प्रकट हो चुके हैं।

शनिवार के दिन, उन डॉक्टरों का पहला बुलेटिन अत्यन्त स्पष्टता के साथ, भारतवासियों से कह रहा था, 'जनता को यह बता देना हमारा परम कर्तव्य है कि अब अन्तिम सीमा आ चुकी है और इस अनशन के समापन में जो भी विलम्ब होगा, वह अनर्थ की ओर ले जाएगा ....'

पूना; 17 जनवरी, 1948

पूना के रेलवे स्टेशन पर जब बाम्बे एक्सप्रेस आकर खड़ी हुई, तो भारी बदन की उस स्त्री के रोम सिहर गए। हताशा और उत्तेजना के साथ उसने सोचा, "मैं—केवल मैं—जानती हूं कि मेरा पति दिल्ली क्यों जा रहा है।"

गोपाल गोडसे, 'उस सुबह, दिल्ली इसलिए जा रहा था कि महात्मा गांधी का सफाया किया जा सके। अपने बड़े भाई नाथूराम गोडसे को उसने जो वचन दिया था, उसे पूरा करने में उसने सफलता पा ली थी। उसके बिस्तरे में 32 कैलिबर का एक पिस्तौल छिपा हुआ था, जिसे उसने दो सौ रुपये में, पूना सैनिक डिपो में काम करते अपने एक साथी से खरीदा था।

दुनिया में उसने केवल एक व्यक्ति को बताया था कि उस पिस्तौल का क्या उपयोग वह करने जा रहा है—अपनी पत्नी को जो उतनी ही शिद्दत के हिन्दू राष्ट्रीयता में विश्वास करती थी, जितना कि स्वयं उसका पति। गोपाल गोडसे की उस बात को सुनकर वह मन ही मन बोली थी, 'भगवान! मेरे पति को सफलता देना और .... उसे जिन्दा वापस ले आना ....'

ट्रेन अब छूटने की तैयारी में थी। गोपाल गोडसे की पत्नी ने चार वर्षीया प्यारी-सी बच्ची असिलता को आगे बढ़ा दिया, ताकि उसका पति उसे आलिंगन में ले सके—वह आलिंगन, जो अन्तिम भी सिद्ध हो सकता था।

शरीर की दयनीय दशा के बावजूद, शनिवार की सुबह भी, गांधीजी की मानसिक क्षमताओं में कोई धुंधलापन नहीं आया था। अनशन के उस तीसरे चरण में वह प्रवेश कर चुके थे; जिसके बाद, अगला चरण मृत्यु ही होता है। नोआखाली की अपनी प्राय:श्चित यात्रा के दिनों उन्होंने बंगला भाषा का अध्ययन शुरू किया था। डॉ. सुशीला नैय्यर एवं अन्य डॉक्टरों को जब इस बात की चिन्ता हो रही थी कि महात्मा के शरीर में अब कितने घण्टों का जीवन शेष रह गया है। तब वह महात्मा अपने पुराने लिफाफों के पीछे बंगला के नए-नए शब्दों का अभ्यास कर रहा था।

इस प्रिय कार्य को समाप्त करने के बाद उन्होंने अपने सचिव प्यारेलाल नैय्यर को बुलाया। तमाम सहयोगियों और नेताओं ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि जिन उद्देश्यों से उन्होंने उपवास किया है, उनकी पूर्ति निश्चित रूप से हो चुकी है। अब वह परखना चाहते थे कि पूर्ति सचमुच हुई है या नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं कि महात्मा के जीवन पर तरस खाकर लोगों ने फिलहाल हामी भर दी हो; लेकिन ज्यों ही अनशन टूटा, त्यों ही वही ढाक के तीन पात? उन्होंने प्यारेलाल को वे सात मुद्दे लिखवाना शुरू किया, जिनके स्वीकारे जाने के बाद ही वह अपना अनशन तोड़ने को तैयार होते। दिल्ली के एक-एक राजनीतिक दल को इन मुद्दों पर अपने हस्ताक्षर देने होंगे। हिन्दू महासभा जैसे राजनीतिक दुश्मन को भी इसमें अपवाद स्वरूप छोड़ा नहीं जाएगा।

मुद्दों की तालिका लेकर प्यारेलाल नैय्यर झपटता हुआ निकल गया, ताकि उसे उस 'शान्ति-समिति' के सामने रखा जा सके, जिसका निर्माण ही खास गांधीजी की जीवन रक्षा के लिए किया गया था।

महात्मा जी की दशा इतनी बिगड़ चुकी थी कि बार-बार वह अर्द्ध-बेहोशी के भंवर में फंस जाते। जवाहरलाल नेहरू से अब देखा न गया। कोने में जाकर वह फूट-फूटकर रो पड़े।

थोड़ी देर में लार्ड और लेडी माउण्टबेटन गांधीजी के दर्शनार्थ आए। लॉर्ड माउण्टबेटन यह देखकर स्तब्ध रह गए कि इतना पीड़ित रहा, मृत्यु के इतने नजदीक खड़ा वह व्यक्ति अभी

तक एक विशेष प्रकार की आभा से आच्छान्दित है और जब भी वह पूरे होश में होता है, तो लोगों से हंसी मजाक तक कर लेता है।

एडविना माउण्टबेटन से बुढ़ऊ का दर्द देखा नहीं जा रहा था। कमरे से निकलते-निकलते उनके आंसू फूट पड़े। "उदास न होओ।" लुई माउण्टबेटन ने अपनी पत्नी से कहा, "वह दृश्य उदासी का नहीं, प्रेरणा का था। वह व्यक्ति ठीक वही कर रहा है, जो कि वह करना चाहता है। उस नन्ही-सी जान में बड़ी हिम्मत है, दिलेरी है ....।"

सारी तैयारियां हो चुकी थीं। मदनलाल पाहवा और विष्णु करकरे दिल्ली पहुंच गए थे—बगड़े द्वारा उपलब्ध कराए गए हथगोलों, टाइम बमों और घर में बने उस पिस्तौल सहित। दूसरा पिस्तौल लेकर गोपाल गोडसे चल चुका था। आज शाम बगड़े भी अलग ट्रेन से रवाना हो जाएगा। नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे भी, 'एयर इंडिया' के डी.सी.-3 हवाई जहाज द्वारा, केवल एक घण्टे के भीतर, यहां से रवाना हो जाएंगे। सीधे दिल्ली!

वह जुलूस, जो झण्डे लहराता और इश्तहार हिलाता हुआ बिड़ला हाउस की तरफ बढ़ रहा था, कम से कम तीन मील लम्बा था। उसमें चल रहे कम से कम एक लाख लोग पूरी हार्दिकता के साथ नारे लगा रहे थे, "महात्मा गांधी—जीते रहें।" केवल पांच दिनों पहले उन्हीं सड़कों पर निकले एक जुलूस ने नारे लगाए थे, "गांधी की जान—जाने दो!" किन्तु उनकी तुलना में आज के नारे दसियों गुना जोरदार थे।

जुलूस बिड़ला हाउस में घुस पड़ा। घास कुचली गई। फूलों के पौधे कुचले गए। जुलूस समा नहीं रहा था। लोगों के कण्ठ में उनके नारे भी समा नहीं रहे थे, "महात्मा गांधी जीते रहें .... अमर रहें .... जुग-जुग जीएं ...."

पण्डित नेहरू माइक पर आए, "यह केवल हमारे देश की धरती है, जहां गांधी जी जैसी महान् आत्माएं पैदा हो सकती हैं। गांधी जी को बचाने के लिए हमें चाहे कितना ही बड़ा त्याग करना पड़े, वह त्याग उनकी महानता के सामने तुच्छ ही रहेगा। वही एकमात्र ऐसे नेता हैं, जो हमें झूठी आशाओं से बचाए रखकर, सच्चाई और आदर्श की सही मंजिल तक ले जा सकते हैं।"

इन शब्दों के स्वागत में, उस खामोश भीड़ में खड़ा एक शरणार्थी, अचानक जोरों से चिल्लाता हुआ विरोध कर उठा। विरोध का वह चीत्कार मदनलाल पाहवा के होंठों से फूटा था। एक अजब विद्रूप-भरे कौतुहल के साथ विष्णु करकरे और मदनलाल पाहवा उस जुलूस में शामिल होकर बिड़ला हाउस तक आए थे। जिस व्यक्ति को वे कत्ल करना चाहते थे, उसी के अमर रहने के नारों के बीच डूब कर वे मन ही मन हंसते रहे थे। पं. नेहरू के उन शब्दों से मदनलाल एकाएक आपे से बाहर हो गया। अपनी घोर मूर्खता का परिचय देते हुए उसने गला फाड़कर नेहरू का विरोध कर डाला।

अगले ही क्षण मदनलाल को दो पुलिस वालों ने हिरासत में ले लिया था। उसे जब घसीट कर बाहर ले जाया जा रहा था; तो विष्णु करकरे अविश्वास से देखता रह गया। बिड़ला हाउस की सुरक्षित दीवारों के बीच लेटा वह बूढ़ा अपने अनशन के मारे मर जाए, इसकी सम्भावनां अब प्रायः नहीं है। पूना जितनी दूर की जगह से वे लोग इसीलिए आए हैं कि बूढ़ा जब जिन्दा बच जाए, तो उसे जान से मार दिया जाए .... लेकिन यह मदनलाल का बच्चा समय से पहले चिहुंक पड़ा .... अगर इसने पुलिस के सामने उगल दिया, तो? उन सबको, गांधी की हत्या की साजिश करने के आरोप में पकड़कर, जेल की कोठरियों में झोंक दिया जाएगा ....

करकरे का यह भय आधारहीन साबित हुआ। कुछ मिनटों बाद, जब भीड़ छंट रही थी, मदनलाल को छोड़ दिया गया। दिल्ली के असन्तुष्ट शरणार्थी इतने ज्यादा घूम रहे थे कि मदनलाल जैसे लोग कोई अजूबा नहीं थे। पुलिस ने मदनलाल से कोई पूछताछ नहीं की थी; यहां तक कि उसका नाम तक नहीं पूछा था।

शाम जब गहराने लगी थी, प्यारेलाल नैय्यर ने तूफान की तरह बिड़ला-हाउस में प्रवेश किया। सात मुद्दों के कागज पर वह दिल्ली के राजनीतिक दलों के हस्ताक्षर ले आया था। वे सब पारस्परिक शान्ति, सहयोग और स्नेह के लिए प्रस्तुत थे।

गांधी जी ने पूछा कि क्या सभी दलों ने हस्ताक्षर कर दिए हैं? जरा झिझकने के बाद प्यारेलाल ने बताया कि अभी दो हस्ताक्षर रह जाते हैं—हिन्दू महासभा और आर.एस.एस.।

"वे कल हस्ताक्षर करेंगे।" प्यारेलाल बोला, "सब ने गारण्टी दी है कि वे हस्ताक्षर जरूर कर देंगे .... आप अपना अनशन आज तोड़ सकते हैं......... कुछ तो ग्रहण करिए ही, ताकि आपको कल सुबह तक सहारा मिल सके ...."

गांधी जी का जीवन इतने कच्चे धागे से लटका हुआ था कि आगामी दिन तक वह धागा टूटेगा नहीं; ऐसा निश्चयपूर्वक कोई नहीं कह सकता था। इसके बावजूद महात्मा गांधी ने इन्कार में सिर हिला दिया। एक-एक शब्द अत्यन्त कठिनाई से बोलते हुए उन्होंने अपने सचिव से कहा, "नहीं .... मुझे हड़बड़ी में कुछ नहीं करना है। मैं तब तक उपवास नहीं छोडूंगा, जब तक सबसे कठोर दिल वाले भी पसीज न जाएं ...."

18 जनवरी; रविवार; सुबह 11 का समय। कांग्रेस अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का फोन बज उठा। वह सन्देश बिड़ला हाउस से आया था, जिसके अनुसार गांधी जी की दशा, अचानक और अधिक बिगड़नी शुरू हो गई थी। सात मुद्दों पर, शेष नेताओं के हस्ताक्षर लेकर, गांधी जी के बिस्तर तक यदि तुरन्त न पहुंचाए गए; तो अब सचमुच देर हो जाएगी। पिछले एक घण्टे से गांधी जी लगभग बेहोश की तरह पड़े हुए थे।

जिन नेताओं के हस्ताक्षर रह गए थे, वे उस वक्त डॉ. राजेन्द्रप्रसाद के कार्यालय में मौजूद थे। डॉ. प्रसाद ने कुछ प्रमुख नेताओं को तो अपने साथ ही गाड़ी में बिठाया और शेष से कहा कि आप पीछे-पीछे आइए। सब नेता तूफानी तेजी से बिड़ला हाउस पहुंचे।

गांधी जी अपनी दरी पर बेहोश पड़े थे। अनुयायियों ने उन्हें चारों ओर से घेर रखा था, जैसे किसी मर रहे मरीज को उसकी नर्सें घेर कर खड़ी हों। प्यारेलाल ने गांधी जी को पुकारा; फिर उनके मस्तक को धीरे-धीरे सहलाना शुरू किया, ताकि वह होश में आएं। गांधी जी को कुछ पता न चला। किसी ने गीला तौलिया लाकर उनके सिर पर रखा। उसकी ठण्डक से गांधी जी कसमसाए; फिर उन्होंने आंखें खोल दीं।

आसपास खड़े उन तमाम लोगों को देखकर उनके चेहरे पर एक फीकी मुस्कान उभरी। उन्होंने वह चमत्कार सम्भव कर दिखाया था, जो केवल उन्हीं के बूते की बात थी। उनके बिस्तर के चारों ओर जो व्यक्ति खड़े थे, उनके बीच सदियों पुराने तीव्र मतभेद थे। परम्परा और खून में बसे उन मतभेदों के बावजूद, केवल गांधी जी के कारण, वे सात मुद्दों पर सामूहिक हस्ताक्षर करने को तैयार थे।

मृत्यु का आह्वान करती हुई चारपाई पर पड़ी उस आकृति के बगल में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद घुटनों के बल बैठ गए। उन्होंने गांधी जी से कहा कि अब उनके सात मुद्दों पर सभी नेताओं के हस्ताक्षर हो गए हैं।

गांधी जी ने इशारा किया कि वह बोलना चाहते हैं। मनु ने उनके होठों पर अपना कान रखा। महात्मा के हर शब्द को उसने एक नोट-बुक में लिखा। फिर वह चिट प्यारेलाल को दी, ताकि वह सब को पढ़कर सुनाए।

"आपने मुझे जो मैंने मांगा, सो दिया; लेकिन अब भी मैं उपवास तोड़ना नहीं चाहता .... हम सबने मिलकर दिल्ली में जो सम्भव कर दिखाया है, क्या उसी को पूरे देश में सम्भव नहीं किया जा सकता? यदि हम दिल्ली में तो शान्ति रखने की चिन्ता करें, लेकिन दूसरी जगहों में हिंसा की आग जलती रहने दें, तो दिल्ली की शान्ति का अर्थ क्या होगा? यदि आप सारे देश में शान्ति रखने का वचन नहीं देते, तो अनशन तोड़ देना मेरी भूल होगी।"

उतनी मरणासन्न दशा में भी उस चालाक महात्मा को मालूम था कि यही है वह क्षण, जब सब सामने खड़े हैं और इन से अभी मैं जो चाहूं, सो मनवा सकता हूं।

एक-एक कर हर नेता ने गांधी जी के सामने आकर, हाथ जोड़कर, घुटने टेक कर वचन दिया कि दिल्ली जैसी ही शान्ति वे देश भर में कायम रखेंगे .... अशान्ति और दंगों को भड़काने वाली कोई कार्रवाई कभी किसी क्षेत्र में नहीं करेंगे।

गांधी जी ने मनु को फिर इशारे से अपने नजदीक बुलाया, "मैं अनशन तोड़ने को तैयार हूं। जो ईश्वर की इच्छा है, वह पूरी होनी चाहिए।"

गांधी जी एक-एक शब्द को रुक-रुक कर बोल पा रहे थे। मनु उन्हें कागज पर लिखती जा रही थी। जब उसने सभी व्यक्तियों को वे शब्द सुनाए, तो वह मारे खुशी के किलकारियां भर रही थी। लोगों के होठों से भी आनन्द-ध्वनि फूट पड़ी। माहौल ऐसा ही था, जैसे किसी चुनाव में अभी-अभी परिणाम घोषित हुआ हो—उम्मीदवार जीत गया। गांधी जी ने सबको

आमन्त्रण दिया कि आओ, हम सब मिलकर प्रार्थना करें। समवेत स्वर में सबने कुरान, गुरु ग्रन्थ साहब, गीता, बाइबल आदि धर्म-ग्रन्थों के अंशों को, प्रार्थना की तरह गाना शुरू किया। उस दौरान गांधी जी आंखें मूंदकर लेटे रहे। उनके कमजोर, नन्हे-से, पोपले चेहरे पर शुद्धतम आनन्द चमक रहा था। प्रत्येक प्रार्थना के शब्दों के साथ उनके होंठ हिल रहे थे।

संवाददाताओं और फोटोग्राफरों की भीड़ अन्दर आ चुकी थी। उस भीड़ को काटती हुई मनु गई और तुरन्त लौटी—सन्तरे के रस का गिलास ले कर। उसमें उसने ग्लूकोज भी मिलाया था। कांग्रेस के पूर्व अध्यक्ष मौलाना आजाद और जवाहरलाल नेहरू ने मिलकर जब उस गिलास को थामा, तो भावावेश में दोनों के हाथ झुरझुरा रहे थे। गिलास उन्होंने महात्मा के होठों से लगाया। महात्मा गांधी ने ज्यों ही पहला घूंट लिया, फ्लैश-बल्बों की सफेद रोशनी पूरे कमरे में फट पड़ी। दोपहर के ठीक बारह बजकर पैंतालीस मिनट हुए थे। गांधी जी ने, 78 साल की उम्र में, 121 घण्टे और 30 मिनट तक कुनकुने जल और सोडा-बायकार्बनेट के आधार पर जीवित रह कर, पोषण का पहला घूंट प्राप्त किया था।

तालियों की जो गड़गड़ाहट बिड़ला हाउस में हुई, थोड़ी देर में वही गड़गड़ाहट पूरे भारत देश में होने लगी—और पाकिस्तान में भी।

गांधी जी में जब इतनी शक्ति आई कि कुछ बोल सकें, तो मानवता के उस अजब पुजारी ने कहा, ''........ मुझ पर आप सबने जो दया दिखाई है, उसे मैं कभी नहीं भूल सकूंगा। कभी न सोचिएगा कि दिल्ली एवं अन्य स्थानों के बीच कोई अन्तर है। सब जगह मानव ही बसते हैं। मैं भारत और पाकिस्तान में एक जैसी शान्ति की कामना करता हूं। अगर हम याद रखें कि मनुष्य का जीवन सब जगह एक जैसा है, तो ऐसा कोई कारण हमें नजर आएगा ही नहीं कि जिससे हम एक-दूसरों को दुश्मन मानकर चलें। जैसा हम अपने धर्म का सम्मान करते हैं, वैसा ही सम्मान दूसरों के धर्म का क्यों न करें? क्योंकि धर्म तो सब एक जैसे हैं। सभी धर्म मनुष्य को सच्चाई की ओर ले जाना चाहते हैं। सच्चाई ही रहती है चाहे उसे संस्कृत में लिखा जाए; या उर्दू में, पार्शियन में, अंग्रेजी में; या किसी भी भाषा में।''

तीन घण्टे बाद, जब दिल्ली उनके उपवास-समापन का उत्सव मनाने में मगन थी, गांधी जी ने अपनी पहली दावत ग्रहण की—बकरी का दूध, आठ औंस; संतरे, चार।

इससे निबटते ही वह अपने चरखे के सामने आ बैठे। उन्होंने न डॉक्टरों की राय मानी, न साथियों का आग्रह। प्रकम्पित उंगलियों से उन्होंने चरखे को गतिमान किया। उनके होठों से वह बुदबुदाहट फूटी, जिसे संसार की दुःखी मानवता ने अमरवाणी के रूप में ग्रहण किया—

''जब मैं भोजन लेने ही लगा हूं, तो परिश्रम क्यों न करूं? क्योंकि जो रोटी बिना परिश्रम के खाई जाती है, उसमें और चुराई हुई रोटी में कोई अन्तर नहीं!''

❑❑❑

18

'मदनलाल पाहवा की वक्र दृष्टि'

नई दिल्ली; 19-20 जनवरी, 1948

प्यारेलाल नैय्यर ने महसूस किया कि उपवास समापन की उस शाम गांधी इतने प्रसन्न, सन्तुष्ट और उत्साही नजर आ रहे थे, जितने पिछले अनेक वर्षों से नहीं। उपवास की सफलता ने उनके सामने नए-नए सपनों और आशाओं का जैसे अम्बार खड़ा कर दिया था। पूरे विश्व में, 1929 के नमक आन्दोलन और दाण्डी मार्च की जैसी प्रतिध्वनियां उठी थीं, वैसी ही प्रतिध्वनियां इस बार के भी उपवास के कारण उठ रही थीं। कलकत्ता की सफलता भी, अभी भी सफलता के सामने, कुछ नहीं थी। गांधी जी निःसन्देह अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ गौरव-शिखर पर आ बैंठ थे।

बधाइयों के केबल एवं तारों का बिड़ला-हाउस में ढेर लग गया। विश्व के एक-एक प्रमुख अखबार ने—उन अखबारों ने भी, जो गांधी जी के कटु आलोचक रहे थे—इस बार उनकी अध्यात्मिक शक्ति की प्रशंसा के पुल बांध दिए।

बिड़ला-हाउस में बैठा वह नन्हा-सा आदमी भी, अपनी सफलता से, कम प्रसन्न नहीं था। उनकी आंखें चमक रही थीं; पूरा व्यक्तित्व गद्‌गद था; और वह खामोश थे—एकदम खामोश—क्योंकि 19 जनवरी का वह दिन सोमवार का दिन था; उनके मौन-व्रत का दिन। बिड़ला हाउस की एक-एक ईंट उनकी अध्यात्मिक शक्ति की किरणें बिखेर रही थी। गांधी के आसपास एक रहस्यमय प्रभा-मण्डल तैयार हो गया था। उनके अहिंसा के सिद्धान्तों के लिए एक अत्यन्त भव्य, नवीन और दिव्य क्षितिज खुल गया था।

उनका शरीर इतना कमजोर हो चुका था कि वह केवल तरल भोजन ही पचा सकते थे। उन्हें फलों के रस, ग्लूकोज और जौ के पानी पर रखा जा रहा था। उनके मन में जो

प्रसन्नता थी, वह तन में भी दिखाई पड़ी और उन्होंने केवल तरल भोजन पर ही पनपना शुरू कर दिया। उस सुबह उनका वजन एक पौण्ड कम हुआ था। बिड़ला हाउस में रह रहे उनके अनुयायियों के लिए इससे बढ़िया समाचार और भला क्या होता? गांधी जी के गुर्दे फिर से सक्रिय होने को प्रस्तुत थे। शरीर में जमा फालतू जल को उन्होंने निष्कासित करना शुरू कर दिया था। भारत की महान आत्मा, परछाइयों के पीछे से, दुबारा प्रकट हो रही थी।

जिस वक्त महात्मा गांधी का वजन लिया जा रहा था, लगभग उसी वक्त छह पुरुष नई दिल्ली के बिड़ला मन्दिर के सूने पिछवाड़े में प्रकट हुए; जहां उनकी गतिविधियों को देखने या सुनने वाला कोई नहीं था। इसका फैसला करने से पहले कि मोहनदास करमचन्द गांधी की हत्या के लिए कौन-सा तरीका अपनाया जाए; नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे अपने हथियारों की जांच कर लेना चाहते थे।

गोपाल गोडसे ने अपने जैकेट में से 32 कैलिबर का वह पिस्तौल निकाला, जिसे उसने पूना से दो सौ रुपये में खरीदा था। उसे लोड करके वह एक वृक्ष से पच्चीस फीट के फासले तक हटा। फिर उसके तने का निशाना लेकर उसने घोड़ा दबा दिया। कुछ भी न हुआ। पिस्तौल को काफी हिलाने के बाद उसने दुबारा घोड़ा दबाया इस बार भी कुछ न हुआ।

आप्टे ने इशारा किया कि बगड़े अपना पिस्तौल निकाले। गोपाल ने जिस तने का निशाना लिया था, उसी को निशाना बना कर बगड़े ने अपना पिस्तौल दागा। इस बार धमाके की आवाज हुई। वे सब दौड़कर तने के पास पहुंचे, ताकि देख सकें कि गोली का निशाना कहां लगा है। कहीं कोई निशान नहीं था। गोली ने पच्चीस फीट की दूरी को भी केवल आधा पार किया था। वह जमीन पर पड़ी दिखाई दी। बगड़े ने दुबारा फायर किया। इस बार गोली तने से दाहिनी तरफ उछली। बगड़े ने चार गोलियां और चलाई। एक भी गोली निशाने पर न लगी। बगड़े का पिस्तौल सचमुच वैसा ही था, जैसा आप्टे ने बम्बई में सन्देह किया था—गांधी को गोली मारने वाला कहीं खुद ही गोली खाकर न गिर जाए।

षड्यन्त्रकारियों के बीच अकुलाहट-भरा सन्नाटा छा गया।

बम्बई का वह कपास-व्यापारी उस दिन, बिड़ला हाउस में आने वाले अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्तियों में से एक था, उसे महात्मा गांधी ने चुपके से करांची भेज रखा था, ताकि वह महात्मा की पाकिस्तान-यात्रा के लिए सभी योग्य प्रबन्ध करवा सके। जिस दौरान गांधी उपवास करते हुए मृत्यु के सानिध्य में जा बैठे थे, उस दौरान जहांगीर पटेल ने जिन्ना के साथ गुप्त मन्त्रणाएं जारी रखी थी। जहांगीर पटेल एक ऐसी यात्रा को स्वीकृत कराने की चेष्टा में था, जिस का यात्री अपने देश भारत में जिन्दा रहेगा या नहीं, निश्चयपूर्वक कोई नहीं कह सकता था। जिन्दा रह जाए तब भी पाकिस्तान-यात्रा के दौरान कोई धर्मान्ध व्यक्ति उस यात्री को मार नहीं डालेगा; इसी का क्या भरोसा था?

उक्त प्रस्ताव पर जिन्ना की पहली प्रतिक्रिया बहुत बुरी रही। कांग्रेस पार्टी में अपनी सम्मानित जगह जिन्ना को छोड़नी पड़ी, इसके पीछे गांधी का ही हाथ था—यह विश्वास जिन्ना के मानस में इतना दृढ़ हो चुका था कि अब उन्होंने गांधी की प्रत्येक बात, प्रत्येक हरकत को शक की नजर से देखना शुरू कर दिया था। इसके अलावा; कदम-कदम पर भारत ने जो वायदा-खिलाफी और दादागिरी का बरताव चला रखा था उससे भी जिन्ना कम पीड़ित नहीं थे। इसीलिए; जिस व्यक्ति को उन्होंने हमेशा 'चालाक हिन्दू लोमड़ी' कहा, उसके उस सरल प्रस्ताव पर भी उन्हें सन्देह होना स्वाभाविक था।

लेकिन जब गांधी के ही कारण पाकिस्तान को 55 करोड़ की वह रकम मिल गई जिसके अभाव में उस देश की लुटिया डूबी जा रही थी; तो जिन्ना के रुख की कठोरता कुछ कम हुई और उन्होंने आखिर उस बूढ़े राजनीतिक दुश्मन को अपने पवित्र देश की धरती पर चरण रखने की अनुमति दे दी।

जिन्ना की इस अनुमति से महात्मा को यही लगा, जैसे उनके जीवन को एक नई सार्थकता मिल गई है। सचमुच वे अपने जीवन के एक नितान्त नए मोड़ पर आ खड़े हुए थे। उनके सामने वह पहला अवसर था, जब वह अहिंसा का प्रचार करने के लिए भारत से बाहर जा सकते थे। ऐसे प्रचार के लिए विदेश जाने से वह अब तक मना करते रहे थे, क्योंकि भारतीय आजादी उनके जीवन का सर्वोपरि उद्देश्य था। अब; आजादी मिल चुकी थी और उनके नवीनतम उपवास ने देशवासियों को सही जीवन-दृष्टि भी दे दी थी।

भारत की भौगोलिक एकता को वह संजोकर नहीं रख सके थे, लेकिन यदि पाकिस्तान में जाकर उन्होंने अहिंसा का सफल प्रचार किया, तो क्या भारत की अध्यात्मिक एकता पुन: स्थापित नहीं हो जाएगी ? उन्होंने यहां तक कल्पना कर ली थी कि पाकिस्तान वह किस प्रकार जाएंगे—पैदल!

भारत से पैदल चलकर पाकिस्तान पहुंचना और वहां भी हर जगह पैदल ही घूमना—इस उपाय से गांधी जी नि:सन्देह एक विलक्षण अध्यात्मिक आभा का प्रकाशन करते; किन्तु उस वक्त तो उनके पैरों में इतनी भी शक्ति नहीं थी कि उठकर बिड़ला हाउस के लॉन तक जा सकते। प्रार्थना-सभाओं में अनुयायी उन्हें अपने कन्धों पर रखी चौकी पर बिठाकर बाहर लाते और सभा के समापन पर उसी तरह वापस अन्दर उठा ले जाते।

उस दिन .... प्रार्थना-सभा की सभी आंखें उन पर भक्ति-भाव से टिकी हुई नहीं थी। आंखों में तीन जोड़े ऐसे थे, जो उन्हें कातिलाना तसल्ली से घूर रहे थे। नाथूराम गोडसे, उसका भाई गोपाल और नारायण आप्टे उस प्रार्थना-सभा में इसलिए नहीं आए थे कि महात्मा के दर्शनों द्वारा स्वयं को धन्य करें; बल्कि इसलिए आए थे कि बिड़ला हाउस के लॉन का ठीक से अध्ययन कर सकें, ताकि स्पष्ट हो जाए कि महात्मा के कत्ल क़े लिए वे कौनसी पद्धति अपनाएं।

गोपाल गोडसे के लिए जीवन में यह पहला अवसर था, जब वह गांधी जी को देख रहा था। चौकी पर बैठे उस कमजोर आदमी ने गोपाल को प्रभावित नहीं किया। गोपाल की नजरों में वह 'केवल एक मामूली बूढ़ा था; नाटे कद का और झुर्रियों से सना।' गोपाल ने उसे देखने के साथ कोई घृणा अनुभव नहीं की थी। ''उसे कत्ल करना मेरे लिए न कोई गम की बात थी; न खुशी की।'' गोपाल गोडसे, भविष्य में, स्वीकार करने वाला था, ''उसे केवल इसलिए खत्म किया जाना था कि वह लोगों को लगातार गुमराह कर रहा था।''

गोपाल गोडसे ने महात्मा के प्रति घृणा अनुभव की, चाहे न की; लेकिन वह चौकन्ना अवश्य हो गया; क्योंकि उसने भांप लिया था कि श्रद्धालुओं की इस भीड़ में केवल श्रद्धालु ही बैठे हुए नहीं हैं। सादा पोशाकें पहनकर, न जाने कितने पुलिस वाले भी यहां मौजूद हैं। प्रार्थना के मैदान से लौटते समय गोपाल ने देखा कि गेट पर पुलिस का तम्बू लगा है, जिसके भीतर रखी सब मशीनगन साफ नजर आ रही हैं।

'भाग निकलने की गुंजाइश नहीं के बराबर है ....' वह मन-ही-मन बोला।

पैंतालीस मिनट बाद, इसकी तसल्ली करके कि किसी की भी नजर हम पर नहीं; साजिश के मुख्य सूत्रधार, एक-एक करके, नई दिल्ली के कनाट-प्लेस में स्थित होटल 'मरीना' के कमरा नम्बर 40 में एकत्र हो गए; जिसे आप्टे और गोडसे ने एस. देशपाण्डे और एन. देशपाण्डे के फर्जी नामों से बुक किया हुआ था। करकरे ने आप्टे एवं स्वयं के लिए व्हिस्की का आदेश दिया।

आप्टे ने कहा कि अब ठोस कार्य करने का अवसर आ गया है। ''बिड़ला हाउस की रचना इत्यादि का जो भी अध्ययन मैंने किया है, उस पर से लगता है कि वार हमें प्रार्थना-सभा में ही करना होगा; जब वह बूढ़ा आम जनता के सामने प्रकट होता है। शेष सारा समय वह इतना सुरक्षित है कि हम उसे पा नहीं सकेंगे। खुली प्रार्थना-सभा में वार करने के बाद हम पलायन भी कर जाएं; इसकी सम्भावना कम होने के बावजूद .... हमारे पास दूसरा कोई चारा नहीं।'' आप्टे का स्वर था, ''कल; 20 जनवरी, मंगलवार की शाम पांच बजे .... प्रार्थना-सभा में .... फैसला!''

20 जनवरी, मंगलवार की सुबह नौ बजे; बिड़ला हाउस के पिछवाड़े में, लाल ईंटों की चहारदीवारी के समानान्तर एक टैक्सी आगे बढ़ रही थी। नौकरों के आने-जाने का, लकड़ी का गेट दिखाई दिया; जहां टैक्सी रुक गई। उसके दोनों यात्रियों ने जब पैदल चलते हुए गेट पार किया, तो उन्हें रोकने या टोकने वाला कोई व्यक्ति आसपास मौजूद नहीं था। सामने के आंगन में, एक किनारे, सीमेन्ट की बनी एक मंजिला कोठरियों की कतार-सी खड़ी थी। वे बिड़ला हाउस के नौकरों की कोठरियां थी। इन्हीं कोठरियों के पीछे वह लाल दीवार थी, जो कि प्रार्थना-सभाओं के मंच को घेरती थी .... प्रत्येक शाम को आयोजित नियमित प्रार्थना-सभाएं ....

दोनों यात्रियों ने तब तक चलना जारी रखा, जब तक वे बगीचे में न पहुंच गए। सुबह की धूप में बगीचा सूना और खामोश था। उस सूनी खामोशी ने नारायण आप्टे और उसके नकली साधु दिगम्बर बगड़े का हौसला बढ़ा दिया। वे एक नाजुक निरीक्षण के लिए अन्दर घुसे थे और उन पर किसी की नजर नहीं पड़ी थी। आज ही शाम को, इसी घास के मैदान में, उन्हें जो अपराध करना था; उसे ठीक-ठीक किस प्रकार सम्पन्न किया जाए; इसकी बारीकियां अब वे तय कर लेना चाहते थे।

गांधी का प्रार्थना-मंच जिस लाल दीवार के सामने था, उस पर आप्टे की नजर गड़ी रह गई। उस दीवार में छोटी-छोटी खिड़कियों की कतार सी कटी हुई थी। साफ-साफ देखा जा सकता था कि उन खिड़कियों के एक तरफ तो है गांधी जी का प्रार्थना-मंच और दूसरी तरफ है नौकरों की कोठरियां। एक खिड़की ठीक उस जगह थी, जहां से झांकने पर गांधी जी का माइक्रोफोन दिखाई पड़ता।

आप्टे की चालाक आंखों ने तुरन्त हिसाब लगाया .... उस खुली खिड़की से निशाना लेने पर, भाषण देने में लीन गांधी की खोपड़ी और पिस्तौल के बीच मुश्किल से दस फीट का फासला रहेगा। यह शॉट इतना सरल होगा कि बगड़े के घटिया पिस्तौल का निशाना भी चूक नहीं सकता।

माइक्रोफोन के ठीक सामने वाली वह खिड़की; बाईं तरफ से गिनने पर, नौकरों की तीसरी कोठरी के अन्दर थी। यानी, अगर तीसरी कोठरी में घुस कर, पिछवाड़े की खिड़की में से झांका जाए; तो भाषण देने में लीन गांधी की खोपड़ी ठीक सामने दिखाई देगी। दोनों आगन्तुक, पूर्ण सन्तोष के साथ, जिस राह आए थे, उसी राह लौट गए, ताकि सड़क पर प्रतीक्षा करती अपनी टैक्सी में बैठें और निकल चलें।

'मरीना होटल' के रूम नं. 40 के बाथ-रूम में, पांच जोड़ी उत्सुक आंखें दिगम्बर बगड़े की उंगलियों की प्रत्येक हरकत को गौर से देख रही थीं। सावधानी के साथ बगड़े ने उन हथगोलों के अन्दर 'डिटोनेटर्स' सरका दिए, जिन्हें वे उसी शाम उपयोग करने जा रहे थे। दरवाजे पर खड़े नाथूराम का चेहरा सफेद हो चला था।

"बगड़े!" नाथूराम ने भर्राए गले से कहा, "दूसरा मौका नहीं मिलेगा। अच्छी तरह जांच लो। ऐसा नहीं कि ऐन मौके पर ....।"

अब उन्हें क्षण-क्षण का हिसाब लगाना था कि उनके पास जो पलीता है, वह किस स्पीड से जलता है। बगड़े ने चाकू से पलीते की डोर काटी। आप्टे से माचिस लेकर बगड़े ने तीली जलाई और पलीते को दिखा दी। आप्टे ने अपनी आंखें घड़ी पर जमा दी थीं। पलीते की डोर ने जलना और आप्टे ने सेकण्ड गिनना शुरू किया। पलीता जलते ही, अचानक, इतना धुआं निकल पड़ा कि सारा बाथ-रूम भर गया। खांसते-खांसते षड्यन्त्रकारियों का बुरा हाल हो गया। धुआं बाथ-रूम से बाहर निकलने लगा था। उसका राज छिपाने के लिए उन्होंने दीवानों की तरह जल्दी-जल्दी सिगरेटें पीना शुरू किया।

इस हंगामे के शान्त होने पर आप्टे ने उन सबको शयन-कक्ष में बुलाया; ताकि प्रत्येक को उसका काम सौंपा जा सके। नाथूराम को अचानक आधासीसी का तेज दर्द होने लगा, जिसका वह पुराना मरीज था। वह सिर पकड़ कर निढ़ाल हो गया। आप्टे ने मदनलाल से कहा कि तुम बिड़ला हाउस के पीछे, प्रार्थना-सभा की दीवार से सटाकर वह बम छिपा आओगे, जिसके विस्फोट के साथ हमारा एक्शन शुरू होगा। विस्फोट से जो भगदड़ मचेगी, उससे हत्या में आसानी रहेगी।

इस बीच दिगम्बर बगड़े और गोपाल गोडसे, नौकरों की कोठरी नम्बर तीन में प्रवेश कर चुके होंगे—वही कोठरी, जिसका निरीक्षण आज सुबह किया गया है। यदि किसी ने रोकटोक की, तो सफाई में यह कहा जाएगा कि हमें पीछे की तरफ से गांधी जी का फोटो खींचना है—प्रार्थना सभा के श्रद्धालुओं के साथ। ज्यों ही मदनलाल का बम फटेगा, त्यों ही बगड़े इस कोठरी की खिड़की में से गांधी पर गोली चलाएगा। लगभग पॉइण्ट-ब्लैक चली हुई यह गोली निशाना चूक नहीं सकती। बगड़े की गोली चलते ही गोपाल अपना हथगोला, उस खिड़की में से, गांधी पर फेंक देगा।

गांधी के सामने, एक और हथगोला लेकर, श्रद्धालुओं के बीच, करकरे बैठा होगा। मदनलाल का बम फटते ही करकरे भी अपना हथगोला गांधी पर फेंक देगा। इस हंगामे में कुछ निर्दोषों की जानें भी जाएंगी; मगर उसका कोई उपाय नहीं।

कमरे में तनावपूर्ण सन्नाटा छा गया। नाथूराम की आधासीसी की पीड़ा इतनी बढ़ चली थी कि वह बिस्तर पर पड़ा-पड़ा कराहने लगा था। हत्या करते समय सबकी पोशाकें रूप-रंग आदि अलग-अलग होना आवश्यक था; ताकि वे एक ही थैली के चट्टे बट्टे न मालूम पड़ें। आप्टे ने, जो हमेशा शानदार सूट पहनता था, धोती-कुर्ता धारण किया। करकरे ने अपनी भौहें रंग ली और मस्तक पर लाल तिलक लगाया। मदनलाल ने बम्बई से एक नीला सूट खरीदा था। उसने उसी को पहन लिया। जीवन में यह पहली बार उसने सूट पहना था।

सबने मिलकर कॉफी पी। फिर वे, पांच-पांच मिनट के अन्तर से, एक-एक कर कमरे से निकलने लगे। अलग-अलग तांगों में बैठकर वे बिड़ला हाउस की ओर चले। आप्टे सबसे बाद में रवाना हुआ—टैक्सी में। वह टैक्सी हरे रंग की शैवरलेट गाड़ी थी—पी.बी.एफ. 671, जिसे आप्टे ने रीगल सिनेमा से सवा चार बजे पकड़ा। आने-जाने का भाड़ा बारह रुपए तय हुआ था।

गांधी जी में उस दिन भी इतनी शक्ति नहीं थी कि प्रार्थना-सभा तक पैदल चलकर आते। उन्हें एक कुर्सी में बिठाकर, मंच तक, उठा कर लाया गया। वह कुर्सी जब भीड़ के बीच से सामने लाई जा रही थी, तब जनता दोनों तरफ सादर हाथ जोड़ कर खड़ी थी। उसी जनता के बीच खड़ा मदनलाल पाहवा भी उस व्यक्ति के सामने हाथ जोड़कर सिर झुका रहा था, जिसे कि वह कत्ल करने आया था। बम को उसने अपने पीछे की दीवार के पास, पत्तों और घास के नीचे छिपा दिया था।

बिड़ला हाउस के पिछवाड़े में, जहां नौकरों के आने-जाने का गेट था, आप्टे की हरी शैवरलेट टैक्सी आ कर रुकी। आप्टे उतरा और करकरे तुरन्त उसके नजदीक आया। करकरे ने उसे आश्वस्त किया कि मदनलाल का बम सही-सही छिपा दिया गया है। नौकरों की कोठरी नम्बर तीन में जाने में भी कोई दिक्कत न होगी, जिसकी खिड़की से गांधी का सिर एकदम नजदीक पड़ता है। करकरे ने कोठरी के नौकर को दस रुपये दिए थे और वह उनकी सुविधा के लिए कोठरी छोड़ने को तैयार हो गया था। करकरे ने इशारा कर बताया कि कौन-सा व्यक्ति उस कोठरी का निवासी है। इसके बाद करकरे, गांधीजी के श्रद्धालुओं के साथ मिलकर, प्रार्थना-सभा में जा बैठने के लिए, रवाना हो गया।

आप्टे ने टैक्सी में बैठे बगड़े को नजदीक बुलाया और इशारे से बताया कि करकरे ने किस नौकर को दस रुपये दिए हैं। फिर कहा कि अब तुम उस कोठरी में जाओ। बगड़े ने कोठरी की ओर बढ़ना शुरू किया। अभी वह मुश्किल से दस कदम जा पाया होगा कि ठिठक कर खड़ा रह गया। कोठरी का स्वामी, वह नौकर, शाम की धूप में बाहर बैठा हुआ था। बगड़े ने देखा कि उसकी केवल एक आंख है। इससे बुरा सगुन भला और क्या हो सकता था। कांपता हुआ बगड़े वापस आया और आप्टे से बोला, ''मैं उसके कमरे में नहीं जा सकता। वह काना है।''

सुनकर आप्टे भी एकबारगी सिहर गया। उधर, मैदान में, प्रार्थना समाप्त हो चुकी थी और गांधी ने बोलना शुरू कर दिया था। उनका स्वर इतना कमजोर था कि डॉ. सुशीला नैय्यर उनके हर वाक्य को भीड़ के सुनने के लिए दोहरा रही थी। जाहिर था कि उतनी कमजोरी में गांधी का भाषण अधिक समय तक चलने वाला नहीं। आप्टे समझ गया कि बहस करने का मौका नहीं है। उसने गोपाल गोडसे से कहा कि तुम तो उस कमरे में चले ही जाओ और ज्यों ही मदनलाल का बम फटने की आवाज सुनाई दे, त्यों ही अपना हथगोला खिड़की में से गांधी पर फेंक दो।

बगड़े को उसने ताबड़तोड़ एक नया काम सौंपा। जाओ। प्रार्थना-सभा के श्रद्धालुओं के साथ घुल-मिलकर बैठो। आगे बढ़ो। गांधी और स्वयं के बीच अन्तर कम से कम रखो। मौका आते ही गांधी पर आमने-सामने फायर करो।

गोपाल गोडसे नौकरों की कोठरी नम्बर तीन की ओर बढ़ा। उसके स्वामी पर हल्की मुस्कान फेंककर वह कोठरी में घुसा और दरवाजा बन्द कर सिटकनी चढ़ा ली। अब उसने, अन्धेरे में, खिड़की की तरफ बढ़ना शुरू किया, जहां आप्टे की योजना की पहली जबर्दस्त भूल उसका इन्तजार करती बैठी थी। गोपाल गोडसे थर्रा कर खड़ा रह गया। सुबह, जांच पड़ताल करते समय, आप्टे ने इतनी चुस्ती नहीं बरती थी कि वह बाकायदा कोठरी के अन्दर आकर देखता। जिस खिड़की में से गोपाल को अपना हथगोला फेंकना था; वह कम नहीं, पूरे आठ फीट की ऊंचाई पर थी! आप्टे ने अपनी जल्दबाजी में इतना गौर नहीं किया था कि

प्रार्थना-सभा के मैदान की ऊंचाई, नौकरों के आंगन की अपेक्षा बहुत अधिक थी। इसीलिए जो खिड़की प्रार्थना-सभा में जमीन के नजदीक खुली हुई थी; उसी की ऊंचाई, कोठरी के अन्दर, लगभग आठ फीट थी। हाथ पूरे उठाने के बाद भी, गोपाल मुश्किल से उसकी सलाखें छू सका। घबराकर गोपाल, कोठरी के अन्धेरे में, नौकर की चारपाई ढूंढ़ने के लिए हाथ-पैर मारने लगा।

बाहर सब-कुछ योजनानुसार तैयार था। नाथूराम गोडसे ने देखा कि करकरे ने अपना हथगोला फेंकने के लिए मोर्चा ले लिया है। समय आ गया था। नाथूराम ने अपनी ठुड्डी खुजलाई। संचालक का यह इशारा आप्टे ने देखा। उसने मदनलाल को इशारा किया। वह पंजाबी तैयार बैठा था। उसने बड़ी शान्ति और तसल्ली से सिगरेट का गहरा कश लिया; फिर उसके जलते सिरे को अपने पैरों के पास ले जाकर पलीते के छोर पर रख दिया। इसके साथ ही वह तुरन्त उठकर दूर चला गया।

गिनती के क्षणों के बाद जब अचानक बम फूटा, तो उसके धमाके और धुएं से लोगों की चीखें निकल गई। श्रद्धालुओं में भगदड़ मच गई। सुशीला के मुंह से निकल पड़ा, "ओ मां!"

और गांधी जी अपने कमजोर किन्तु शान्त स्वर में उससे कहने लगे, "डर गईं? प्रार्थना करते-करते समाप्त हो जाना .... इससे बेहतर मृत्यु और क्या हो सकती है?"

गांधी जी के ठीक पीछे की उस कोठरी में, गोपाल गोडसे ने चारपाई खोज ली थी। उसकी लकड़ी पर खड़े होने के बाद भी उसने पाया कि आंखें खिड़की तक नहीं पहुँच रही हैं। अब उसके पास केवल एक चारा रह गया था कि वह अपना हथगोला, खिड़की में से, अललटप, बाहर की तरफ गिरा दे। जिस पर गिरता हो, गिरे। जो मरता हो, मरे। उसने हथगोला जेब से निकाला।

उसी समय उसने ध्यान दिया के बाहर से गोली चलने की कोई आवाज सुनाई नहीं दी। न करकरे का हथगोला फटने का ही कोई धमाका हुआ। केवल मदनलाल का बम फूट कर रह गया था।

गोपाल के कानों तक गांधी जी की आवाज पहुंच रही थी। अपने कमजोर स्वर में वह अपील किए जा रहे थे, "सुनिए, सुनिए; कुछ नहीं हुआ है। यह तो केवल सेना की चांदमारी है। बैठिए। शान्त रहिए। प्रार्थना जारी रखिए।"

लेकिन मदनलाल का बम फूटते ही सभा के मैदान में हड़कम्प मच गया था। इसका लाभ उठाता हुआ करकरे, गांधी के पन्द्रह फीट नजदीक तक चला आया। वह बूढ़ा बिल्कुल सामने था—कठपुतले जैसा कमजोर और असुरक्षित। करकरे ने अपना हथगोला बाहर निकालना शुरू किया।

साथ-साथ उसने, गांधी के सिर के पीछे उस खिड़की पर नजर डाली; जिसकी सलाखों के बीच से पिस्तौल की चमकती नली दिखाई पड़नी चाहिए थी। हथगोले का काला आकार भी बाहर की तरफ लुढ़कता या उछलता दिखना चाहिए था। खिड़की पर कुछ नहीं था। करकरे बुत की तरह खड़ा रह गया।

गोपाल गोडसे चारपाई से फर्श पर कूद पड़ा। नहीं, उससे वह-सब नहीं हो सकेगा। 'हथियार दूसरों के पास भी हैं।' उसने सोचा, 'वे हमला करें।' बिना यह देखे कि हथगोला किसकी जान लेगा, वह उसे फेंक नहीं सकता था। अंधेरे में लपक कर वह दरवाजे के पास आया और सिटकनी उतारने लगा।

उधर, मैदान में, करकरे का साहस प्रति पल छूट रहा था। गांधी पर अपना हथगोला फेंकने के लिए वह तब तक प्रस्तुत नहीं था, जब तक खिड़की में से भी पिस्तौल या हथगोले का हमला होता दिखाई न दे। इसका कोई आसार खिड़की पर नहीं था। अचानक उसने, तीसेक फीट के फासले पर, भीड़ के बीच, बगड़े को खड़े देखा। करकरे को आश्चर्य हुआ, 'बगड़े यहां क्या कर रहा है? उसे तो कोठरी में होना चाहिए ....'

बगड़े के दिमाग में केवल एक योजना थी—कैसे वहां से भाग निकले। उसने अचानक महसूस किया था कि राजनीति के साथ उसका कोई सरोकार नहीं। वह केवल व्यापारी आदमी है। उसका व्यापार है हथियार बेचना, न कि हथियार चलाना। उसने करकरे की आंख-से आंख न मिलाई। वह चुपचाप भीड़ में खो गया।

उसी समय एक औरत ने, जिसने मदनलाल को पलीते का छोर जलाकर खिसकते देखा था, अचानक उस पंजाबी को पहचान लिया। वह इशारे करती हुई चिल्लाने लगी, "यही है! यही है वह!"

गोपाल जब उस कोठरी में से बाहर निकला, तो औरत की चीखों ने उसे चौंकाया। उसने देखा कि दो पुरुष, जिनमें से एक नीली वर्दी में है, मदनलाल को घसीटते हुए गिरा रहे हैं। गोपाल ने अपने भाई नाथूराम और आप्टे को भीड़ में खड़े देखा। वे स्तब्ध थे। गोपाल उनके साथ जा मिला। वे तीनों चितपावन ब्राह्मण; एकाध पल झिझकने के बाद, अपने शेष साथियों की चिन्ता किए बगैर, उस हरी शैवरलेट टैक्सी की ओर बढ़ चले; जिसे आप्टे ने बुक किया था। टैक्सी में घुसते ही उन्होंने चालक से कहा कि वह ज्यादा-से-ज्यादा स्पीड के साथ शहर की ओर निकल चले।

पीछे छूट गए करकरे ने देखा कि मदनलाल को घसीटकर उस टेण्ट की तरफ ले जाया जा रहा है, जो बिड़ला हाउस के गेट पर लगा है। अब करकरे में इतना साहस न रहा कि वह अपना हथगोला बाहर निकाल भी सके। उसने पलायानं की तैयारी कर ली।

मंच से आदेश दे रहे गांधी जी ने आखिर व्यवस्था स्थापित कर ली थी। लोग बैठने लगे थे। गांधी जी ने शान्ति से घोषणा की, "मुझे अब पाकिस्तान जाना है। सरकार और डॉक्टरों की अनुमति मिलते ही मैं रवाना हो जाना चाहता हूं।"

गांधी जी प्रसन्नता से मुस्करा रहे थे। उन्हें अनुमान नहीं था कि अभी-अभी वह कितने चमत्कारिक ढंग से बच गए हैं। सभा के समापन पर उन्हें उसी कुर्सी पर बैठाए रखकर श्रद्धालुओं ने कन्धे पर उठाया और सादर भीतर ले चले।

टैक्सी में; शहर की तरफ झपटते नाथूराम गोडसे, गोपाल गोडसे और नारायण आप्टे की हताशा का कोई ओर छोर नहीं था। नाथूराम का सिर, आधासीसी की लपटों में, धू-धू कर जलने लगा था। उन्हें बिल्कुल समझ नहीं आ रहा था कि अब आगे क्या करें। मदनलाल को उनके नामों की जानकारी नहीं दी गई थी। फिर भी, वह इतना अवश्य जानता था कि वे पूना से आए हैं और उनके अखबार का नाम क्या है। पुलिस को उन तक पहुंचने में देर ही क्या लगेगी?

नाथूराम बौखलाहट की धुंध से बाहर आया। अपने भाई से उसने मराठी में कहा कि तुम पूना वापस चले जाओ और कोई 'एलिबि' सोचो। तुम्हारी बीबी है, बच्ची है; तुम्हें उन्हें पालना है। अगला कदम क्या उठाया जाए, इसकी चिन्ता मैं और आप्टे कर लेंगे।

आप्टे ने चालक से टैक्सी रोकने को कहा। गोपाल उतर गया। नारायण आप्टे और नाथूराम गोडसे को लिए हुए टैक्सी वाहनों की कतार में खो गई।

उधर, बिड़ला हाउस में, पूछताछ और बधाइयों का ढेर लग गया था। फोन बजता ही जा रहा था। नेहरू और पटेल दौड़े-दौड़े आए। उन्होंने महात्मा को बांहों में भर लिया। एडविना माउण्टबेटन भी, सबसे पहले आने वालों में से एक थीं। फिर तो इतने आगन्तुक आते गए कि गिने न जाएं।

गांधी जी ने एडविना से कहा, ''लीजिए! इसमें आप मुझे बधाई दे रही हैं! मैंने भला कौनसी बहादुरी दिखाई, जो आप बधाई दें? हां; अगर कोई आमने-सामने आकर गोली चलाए और मैं मुस्कराता हुआ, राम का नाम लेता हुआ, उस गोली को सहर्ष झेल जाऊं; तब जरूर कहूंगा कि बधाई दीजिए।''

उस शाम; गांधी जी का जीवन लेने के प्रयास की जांच करने की जिम्मेदारी जिस व्यक्ति को सौंपी जानी चाहिए थी; वह डी.डब्ल्यू. मेहरा, जो दिल्ली-पुलिस के डिप्टी इन्स्पेक्टर-जनरल थे; फ्लू के 103^0 बुखार में लेटे पड़े थे। सब सूचनाएं उन्हें फोन से मिलती गईं। उन्हें जब बताया कि बम फोड़ने वाला प्रश्नों के जवाब नहीं दे रहा है, तो उन्होंने 'तीसरी श्रेणी' के कदम उठाने की इजाजत दे दी।

इससे आगे की कार्रवाई क्या होगी; इसका फैसला, दरअसल, उस व्यक्ति पर आधारित था, जिसका नाम था डी.जे. संजीव। दिल्ली-पुलिस के चीफ वही थे; हालांकि, आम तौर पर, सारी जिम्मेदारियां वह मेहरा पर छोड़ दिया करते; क्योंकि उनका वास्तविक काम था भारत के 'सेण्ट्रल इण्टेलिजेन्स ब्यूरो' का संचालन।

लेकिन इस बार, संजीव के इस फोन ने मेहरा को आश्चर्य में डाल दिया, ''मदनलाल के मामले की चिन्ता आप न करें। यह मामला मैं देख लूंगा।''

पार्लियामेण्ट स्ट्रीट के पुलिस थाने में मदनलाल अपनी वक्र दृष्टि की कीमत चुका रहा था। बुरी तरह त्रस्त और परेशान होकर उसने उन तीन अधिकारियों के सामने झुकना शुरू किया, जो पिछले तीन घण्टों से लगातार उस पर प्रश्नों की बौछार कर रहे थे।

उसने स्वीकार कर लिया कि वह अकेला नहीं है। वह एक टोली के साथ आया है। उसने टोली के सदस्यों की संख्या बताई—सात। उसने गौरव के साथ स्वीकार किया कि वह अपने साथियों-सहित सावरकर सदन में गया था, जहां उसकी उस प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ से व्यक्तिगत मुलाकात हुई थी।

पुलिस ने उसे अपने साथियों का हुलिया बयान करने पर मजबूर किया। उसने गोलमोल बातें बताईं। नाम उसने केवल एक का लिया—करकरे का; लेकिन उसे उसने 'किरक्री' उच्चारित किया।

नाथूराम गोडसे का व्यवसाय क्या है, यह उसके मुंह से एकाएक निकल गया। उसने बताया कि मेरा एक साथी किसी मराठी अखबार का सम्पादक है। अखबार का नाम या तो 'राष्ट्रीय मराठा' है, या 'अग्रणी मराठा'। अखबार का नाम अधूरा और गलत होने के बावजूद, उस आधार पर आगे बढ़कर, पुलिस कहां-से-कहां पहुंच सकती थी।

मदनलाल से प्राप्त जानकारी के आधार पर पुलिस ने तुरन्त हिन्दू महासभा के कार्यालय और मरीना होटल की तलाशी ली। मदनलाल का कोई साथी न मिला। बगड़े, अपने नौकर के साथ, मीलों दूर था; और क्षण-क्षण दूर खिसक रहा था, क्योंकि वह पूना की दिशा में जाती ट्रेन में बैठा हुआ था। करकरे और गोपाल गोडसे, फर्जी नामों से, पुरानी दिल्ली के एक अन्य होटल के मेहमान बन चुके थे। नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे भी, घण्टों पहले, मरीना होटल छोड़ चुके थे।

आधी रात को, पुलिस ने, अगली सुबह तक के लिए, मदनलाल से पूछताछ रोक दी। मामले की दैनिक कार्यवाही बन्द करते समय पुलिस अधिकारी अपने कार्य की गति से असन्तुष्ट नहीं थे। केवल छह-सात घण्टों में उन्होंने इतना-कुछ जान लिया था कि अब धैर्य और चतुराई का थोड़ा-सा ही उपयोग करके पुलिस नाथूराम गोडसे को पहचान सकती थी; साथ में नारायण आप्टे को भी।

इसके बावजूद—

जो पुलिस कार्रवाई उतने अच्छे ढंग से शुरू हुई थी; वही क्रमशः इतनी धीमी, फूहड़ और फालतू साबित होती गई कि तीस-तीस साल बीत जाने के बावजूद भारत की समझ में यह आने वाला नहीं था कि जो हुआ, वह आखिर कैसे हुआ ...... कैसे हुआ....।

❑❑❑

19

''पुलिस हमें पकड़े, इससे पहले गांधी को मार देना है'

नई दिल्ली व बम्बई; 21-29 जनवरी, 1948

मदनलाल पाहवा के मामले की तहकीकात, दिल्ली-पुलिस के चीफ ने, भले ही अपने कन्धों पर ले ली; गांधी जी की रक्षा की जिम्मेदारी, फ्लू से पीड़ित डी.डब्ल्यू. मेहरा की ही थी। उतने तेज बुखार के बावजूद, लम्बे ओवरकोट में अपना बदन छिपाकर मिस्टर मेहरा स्वयं बिड़ला हाउस पहुंच गए। तब दोपहर होने को थी। उन्होंने गांधी जी के सामने स्पष्ट किया कि बम-विस्फोट करने वाला वह उन्मादी कोई अकेला व्यक्ति न होकर, सात षड्यन्त्रकारियों में से एक था। खुले घूम रहे छह षड्यन्त्रकारी, अगला हमला करने के लिए, कभी भी आ सकते थे। मेहरा की इच्छा थी कि बिड़ला हाउस पर सशस्त्र पहरा और बढ़ा दिया जाए। न केवल इतना बल्कि प्रार्थना सभा में आते व्यक्तियों में से जो भी, जरा भी, संदिग्ध मालूम पड़े; उसकी तुरन्त तलाशी ली जाए।

गांधी जी इसकी अनुमति देने के लिए बिल्कुल तैयार न हुए और बोले, ''मेरा एकमात्र रक्षक राम है। अगर राम ही नहीं चाहता कि मैं जिन्दा रहूं, तो आप यहां दस लाख पुलिस वाले तैनात करके भी मेरा जीवन नहीं बचा सकेंगे। अगर मुझे पता चला कि आपने मेरी प्रार्थना-सभाओं की सरलता और गरिमा भंग कर दी है, तो मैं तुरन्त दिल्ली छोड़कर चला जाऊंगा और जाते-जाते कहता भी जाऊंगा कि क्यों जा रहा हूं।''

'लेकिन .... अगर मैं रोज आपकी प्रार्थना सभा में आकर बैठूं, तो............ आप इसकी अनुमति तो देंगे न?' मेहरा ने पूछा।

''क्यों नहीं! लेकिन पुलिस की वर्दी पहन कर न आइएगा।'' गांधी जी ने उत्तर दिया, ''जैसे सब आते हैं, वैसे आइए।''

बुखार के बावजूद, पांच बजने में दस मिनट पहले ही; मिस्टर मेहरा, बिड़ला हाउस में, दुबारा दिखाई दिए—और वह सादा पोशाक में थे। सशस्त्र पहरे पर उन्होंने पांच की अपेक्षा अब छत्तीस व्यक्ति नियुक्त कर दिए थे, जिनमें से अधिकतर श्रद्धालुओं की पोशाक में, श्रद्धालुओं के ही बीच में बैठने वाले थे। मेहरा के कोट में भरा-भराया रिवाल्वर तैयार रखा था। गांधी जी ज्यों ही प्रार्थना-सभा की ओर रवाना हुए, मिस्टर मेहरा ने वह जगह ले ली, जिसे कि अब वह प्रत्येक शाम को ग्रहण करने वाले थे—गांधी जी के दाहिनी तरफ।

आज भी गांधीजी को कन्धों पर उठाकर मंच तक ले जाना पड़ा। अपने सम्भाषण का प्रारम्भ ही उन्होंने इस बात से किया कि उस नौजवान शरणार्थी को रिहा कर दिया जाए; क्योंकि अगर हम उसे सजा देते हैं, तो उसके मन में पहले से बैठी घृणा घटेगी नहीं, और बढ़ेगी; जिसकी जिम्मेदारी हम लोगों पर होगी। किसी भी रुष्ट व्यक्ति से घृणा करने का हमें अधिकार नहीं है।"

एक बात तो निश्चित ही थी—कि वह साजिश बम्बई प्रांत में पकाई गई। मि. संजीव ने बम्बई-पुलिस की कार्रवाई के साथ स्वयं अपनी कार्रवाई का तालमेल बिठाने के लिए दो सी.आई.डी. अधिकारियों को, हवाई जहाज से, तुरन्त बम्बई रवाना किया।

उन दो में से किसी भी अधिकारी ने मदनलाल के टाइप हो चुके बयान की एक प्रति अपने साथ ले जाना आवश्यक न समझा। जो एकमात्र दस्तावेज वे लेकर चले, वह था दो इंच चौड़ा और चार इंच लम्बा एक कार्ड, जिस पर दो-चार प्रमुख बातें जल्दी-जल्दी हाथ से लिख ली गई थीं। करकरे का नाम उस कार्ड पर था—'किरक्री' के रूप में। दिल्ली-पुलिस को जो सर्वाधिक नाजुक सूचना प्राप्त हो चुकी थी, वह उस कार्ड पर नदारद थी—गोडसे और आप्टे के अखबार की लगभग सही शिनाख्त।

बम्बई सी.आई.डी. की विशेष के सेक्शन एक और दो के प्रभारी, डिप्टी कमिश्नर ऑफ पुलिस, उस 32 वर्षीय नौजवान का नाम था जमशेद नागरवाला—'जिम्मी'। राजनीतिक गतिविधियों और विदेशियों की सक्रियता पर नजर रखना जिम्मी की जिम्मेदारी थी। दिल्ली के अधिकारियों ने जिम्मी साहब को जो बताया, उससे ज्यादा तो वह स्वयं ही जानते थे। बम्बई के गृह-मंत्री मोरारजी देसाई से प्राप्त सूचनाओं एवं आदेशों के अनुसार, जिम्मी ने बहुत कार्य कर रखा था। वीर सावरकर एवं उनसे मिलने-जुलने वालों पर जिम्मी के जासूस चौबीसों घण्टे नजर रख रहे थे।

यह मामला सौंपे जाने के कुछ घण्टों के भीतर ही जिम्मी नागरवाला पता लगा चुके थे कि विष्णु करकरे कौन है, कहां रहता है, क्या करता है। उन्हें मालूम था कि करकरे अहमद नगर से जनवरी की छठी तारीख से ही गायब है। एक गुप्तचर ने उन्हें यह भी बता दिया कि पूना का 'कोई बगड़े', जो छिटपुट हथियारों का व्यापारी है, 'महात्मा की हत्या की

साजिश में करकरे के साथ है'। जिम्मी ने यह समाचार तुरन्त पूना-पुलिस को दी थी। जांच के बाद पूना-पुलिस ने जिम्मी को सूचित किया कि बगड़े अपने दूकान में नहीं है और यथासंभव 'आसपास के जंगलों में कहीं छिपा है'।

दुर्भाग्यवश, पूना-पुलिस ने यह जानने की कोशिश नहीं की कि बगड़े की लम्बी अनुपस्थिति का राज क्या है। पहली छानबीन होने के कुछ घण्टों बाद ही बगड़े अपने 'दिल्ली अभियान' में वापस आ गया था। जिस दौरान दिल्ली-पुलिस बगड़े की खोज में परेशान रही, उस दौरान वह नकली साधु अपनी ही दुकान के गुप्त कमरे में बैठा, बन्दूक की गोली से भी न भिदने वाले कवच बनाने में मगन था।

दिल्ली के अधिकारी जिम्मी नागरवाला को विशेष प्रभावित न कर पाए। उन्होंने उन दोनों अधिकारियों को अगले ही दिन दिल्ली वापस भेज दिया।

शुक्रवार को दोपहर आते-आते मदनलाल का रहा-सहा मनोबल भी समाप्त हो गया। पुलिस-अधिकारियों से उसने कहा कि वह पूरा बयान लिखित रूप से देने को तैयार है। प्रश्नों की जो बौछार फिर से शुरू हुई, वह पूरे दो दिनों तक चली। सभी प्रश्न और उत्तर टेप किए गए। टंकित होने पर मसौदा 54 पृष्ठों में फैला। हर पृष्ठ को मदनलाल ने दुबारा पढ़ा। फिर उस विस्तृत बयान पर उसने 24 जनवरी की रात साढ़े नौ बजे हस्ताक्षर कर दिए। यह बयान शीघ्रातिशीघ्र डी.जे. संजीव की मेज पर पहुंचाया गया।

इस बार मदनलाल ने कुछ नहीं छिपाया था। जो कुछ उसे मालूम था, सब उसने बयान में कह दिया था। पुलिस उस आधार पर चमत्कारिक गति से काम कर सकती थी। विडम्बना यह रही कि जिस क्षण से डी.जे. संजीव ने यह मामला अपने हाथ में लिया था, उसी क्षण से तमाम कार्रवाई में एक ऐसा ढीलापन आ गया था, जिसका न तो कोई विश्वसनीय कारण सामने रखा जा सकता है और न जिसे कभी माफ ही किया जा सकेगा।

छह में से कम-से-कम पांच व्यक्तियों की शिनाख्त मदनलाल के बयान के आधार पर निश्चित रूप से हो सकती थी; लेकिन डी.जे. संजीव ने उस बयान को जिम्मी नागरवाला के पास बम्बई भिजवाया ही नहीं। इससे भी बुरा यह कि उन्होंने पूना-पुलिस को फोन तक नहीं किया, कि जिससे 'हिन्दू-राष्ट्र' के सम्पादक की शिनाख्त हो सकती। डी.जे. संजीव ने एक के बाद एक ऐसी भयंकर लापरवाहियां दिखाई कि जिन्हें अपराध की ही श्रेणी में रखा जाना चाहिए।

जिन पुलिस-अधिकारियों के अजब व्यवहार का स्पष्टीकरण कभी नहीं दिया जा सकेगा, उनकी संख्या केवल डी.जे. संजीव पर समाप्त नहीं हो जाती। ऐसे अधिकारियों के बीच यू.एच. राना का महत्व भी कम नहीं; जो पूना सी.आई.डी. के डी.जी.आई. थे और 25 जनवरी से ही, एक कान्फरेन्स के सिलसिले में, दिल्ली में मौजूद थे। पूना में रखी उनकी पत्रावलियों में वह सारी सामग्री मौजूद थी; जिससे गोडसे, आप्टे, बगड़े और करकरे की क्षण-

मात्र में शिनाख्त हो सकती थी। उन पत्रावलियों में करकरे और आप्टे के फोटोग्राफ भी थे, जो यदि बिड़ला हाउस में तैनात पुलिस तक पहुंचाए जाते, तो महात्मा की प्रार्थना-सभाओं में उन दो व्यक्तियों को प्रवेश करने से रोकना सम्भव हो जाता।

संजीव साहब ने राना साहब को अपने कार्यालय में बुलाया और दोनों ने मिलकर पूरे दो घण्टों तक मदनलाल के बयान के हर पृष्ठ की जांच की। उस बयान की लगभग हर पंक्ति ऐसी थी कि पूना के उस पुलिस-अधिकारी को सन्न रह जाना चाहिए था। ठीक विपरीत, यू.एच. राना की प्रतिक्रिया इतनी ठण्डी रही कि ऐसा आखिर क्यों हुआ, इस प्रश्न पर रहस्यमय उत्तर कभी नहीं पाया जा सकेगा। पूना ट्रंक करके उन्होंने अपने सहयोगियों को कोई सूचना या चेतावनी नहीं दी; तहकीकात तुरन्त करने का आदेश देने की कोई चिंता राना जी ने नहीं की। हवाई-जहाज से फौरन उड़कर वह पूना जाते और सारा कार्यभार स्वयं सम्भालते; इसका प्रश्न ही कहां था? हवाई यात्रा उन्हें सूट नहीं करती थी; वह बीमार-से पड़ने लगते। अन्ततः; उन्होंने पूना-वापसी के लिए ट्रेन पकड़ी, जिसने दिल्ली से मुम्बई पहुंचने में लगभग छत्तीस घण्टे लिए। राना जी ने छोटे मार्ग और तेज गति की ट्रेन पकड़ने तक की चिन्ता नहीं की थी। वह लम्बे मार्ग और धीमी गति की ट्रेन से रवाना हुए; वरना वह यात्रा छह घण्टे पहले समाप्त हो सकती थी।

बाद में; अपने ऐसे व्यवहार का जो स्पष्टीकरण राना जी ने दिया, वह यह था कि जब दिल्ली के अधिकारियों ने ही मामला गम्भीरता से नहीं लिया था, तो उन्हें अपनी ओर से चुस्ती दिखाने की एकाएक कैसे सूझती? दिल्ली-पुलिस के चीफ, मिस्टर डी.जे. संजीव, के मन में यह विश्वास हिमालय जैसे दृढ़ता से जमा हुआ था कि हत्यारे दूसरी कोशिश करने के लिए लौटें, इसका कोई सवाल ही नहीं है। संजीव साहब ने हत्यारों को 'सनकियों की बुद्धू टोली' कहकर रद्द कर दिया था।

बम्बई के उपनगर थाना के प्लेटफार्म पर वह चारों व्यक्ति चुपके से आ जुड़े थे। नाथूराम ने भर्राई बुदबुदाहट में कहा, 'हम सफल नहीं हुए, क्योंकि जरूरत-से-ज्यादा लोग साथ रहे। ज्यादा हाथों से खिचड़ी हमेशा बिगड़ती है। गांधी को मारने का तो, दरअसल, एक ही तरीका है। चाहे कितना ही बड़ा खतरा क्यों न उठाना पड़े, यह काम किसी अकेले आदमी के ही हाथों होना चाहिए।'

नाथूराम अत्यन्त स्वस्थ और शांत नजर आ रहा था। किशोरावस्था में जिसने कापालिक-पूजा की क्षमता अर्जित करके, गोबर-पुती दीवार के सामने बैठकर, समाधि में, अजीबोगरीब आकृतियां सरकते देखी थीं; उस व्यक्ति ने आज अपने जीवन की उपयोगिता को अन्तिम रूप से पहचान लिया था।

''यह कार्य मैं करूंगा।'' उसने घोषणा की। यह निर्णय किसी ने उस पर थोपा नहीं था। उसने स्वयं ही कहा, ''राष्ट्रहित के लिए एक व्यक्ति की बलि तो कभी भी दी जा सकती है।''

गांधी की हत्या वह शीघ्रातिशीघ्र करने जा रहा था। उसे दो सहयोगियों की जरूरत पड़ेगी। उन दो में से एक तो होगा आप्टे। दूसरे के रूप में उसने करकरे को आमन्त्रित किया। अपने भाई गोपाल गोडसे को उसने छोड़ दिया।

करकरे ने आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। गोडसे ने उससे कहा कि वह जल्दी-से-जल्दी दिल्ली चला जाए। वहां, प्रत्येक दोपहर को वह पुरानी दिल्ली रेलवे-स्टेशन के सामने, सार्वजनिक नल की बगल में खड़ा होता रहे। नारायण आप्टे और नाथूराम गोडसे उससे वहीं आ कर मिलेंगे—दिल्ली पहुंचने के साथ, शीघ्र।

मगर दिल्ली जाने से पहले, यहां, आप्टे और गोडसे अपनी अधिकतम क्षमता लगाकर कोई ऐसा पिस्तौल ढूंढ़ेंगे, जो छोटे आकार का होने के कारण आसानी से छिपाया जा सके और पूर्णतया विश्वसनीय हो। इस बार गलती की कोई संभावना नहीं छोड़ी जा सकती थी।

सबसे महत्वपूर्ण बात, जो नाथूराम ने उन सबको बार-बार याद दिलाई, यह थी कि जो करना है अब शीघ्रातिशीघ्र कर लेना है। मदनलाल पुलिस के शिकंजे में फंस चुका है। ''पुलिस देर-सबेर हम तक जरूर पहुंचेगी।'' गोडसे ने कहा, ''पुलिस हमें पकड़े, इससे पहले गांधी को मार देना है।''

25 जनवरी की शाम, दिल्ली-पुलिस के उच्च अधिकारी डी.डब्ल्यू. मेहरा को फिर से बिस्तर पकड़ लेना पड़ा। फ्लू का आक्रमण इस बार और भी तेज था। हर शाम भरे रिवाल्वर के साथ, प्रत्येक प्रार्थना-सभा में, गांधी जी की बगल में, सादा पोशाक पहनकर मौजूद रहने की जिम्मेदारी उन्होंने ए.एन. भाटिया नामक एक अन्य पुलिस-अधिकारी को सौंपी।

गांधी जी को इन पुलिस कार्यवाहियों का कोई आभास नहीं था। वह अपने जीवन का एक नया और अत्यन्त महान् सपना देखने में लीन थे। पाकिस्तान से आए हुए एक मिलने वाले के सामने उन्होंने उस सपने को प्रकट भी कर दिया था......... ''मैं चाहता हूं कि एक ऐसा कारवां देखूं, जो पचास मील लम्बा हो। मैं उसके आगे-आगे चल रहा होऊं। पीछे-पीछे हिन्दू और सिख चलते हों। मैं उन सबको वापस पाकिस्तान ले जाऊं ....''

महात्मा का यह सपना कितना जबर्दस्त, कितना अलौकिक था! उस छरहरे मानव आकार ने भारत का अनेक दशकों से सफल मार्गदर्शन किया था। वह पिद्दी मानव आकृति फिर से एक नया रास्ता खोलना चाह रही थी। हाथ में लाठी लिए, खड़ाऊं चटकाता, धूप में अपना गंजा सिर चमकता वह बुढ़ऊ, दु:खी मानवता के किसी ऐसे कारवां के आगे-आगे पैदल चह रहा हो, जिसकी लम्बाई का कोई छोर ही नजर न आता हो............. बुढ़ऊ के चमत्कारों ने आज तक कोई सीमा स्वीकार नहीं की थी। उसके लिए यह बिल्कुल असम्भव नहीं था कि सिखों और हिन्दुओं का पचास मील लम्बा कारवां लेकर वह यहां से पाकिस्तान पहुंचाए और बसा दे। फिर, जब वहां से भारत की तरफ लौटे, तो पीछे-पीछे एक और कारवां चल रहा हो। भारत में वापस बसने के इच्छुक मुसलमानों का पचास मील लम्बा कारवां!

महात्मा ने डॉ. सुशीला नैय्यर को बुलाया और आदेश दिया कि शीघ्र पाकिस्तान जाकर मेरी पदयात्रा की प्रारम्भिक तैयारियां करवाओ।

केवल दस दिन के भीतर, नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे हवाई-जहाज से दुबारा दिल्ली जा रहे थे; ताकि महात्मा गांधी की हत्या कर सकें। इस बार वे एयर-इण्डिया के वायकिंग हवाई-जहाज में बैठे हुए थे।

उन दोनों नौजवानों ने बम्बई में जो आखिरी दिन बिताया था, उसमें कदम-कदम पर उन्हें असगुन का ही सामना करना पड़ा था। सारा दिन कभी इससे मिल रहे हैं तो कभी उससे। भीख मांग रहे हैं—पैसों के लिए और पिस्तौल के लिए। पैसे प्राय: सभी जगह से मिलते जा रहे हैं; पिस्तौल के प्रबन्ध का वादा कोई भी नहीं कर रहा। दिन भर की दौड़-धूप के फलस्वरूप, आप्टे की जेब में दसेक हजार रुपए एकत्र हो गए थे—लेकिन पिस्तौल की परछाई भी नहीं।

वे यह मानकर चल रहे थे कि पुलिस उनके पीछे हाथ धोकर पड़ी है। बम्बई में जितना ज्यादा समय बिताया जाएगा, उतना ही उनकी गिरफ्तारी का खतरा बढ़ेगा। आखिर उन्होंने फैसला किया कि पिस्तौल के बिना ही बम्बई से निकल चलें। दिल्ली में, घृणा और क्रोध से बिलबिलाते शरणार्थियों के अनेक शिविर लगे हैं। क्या किसी शिविर में कोई पिस्तौल नहीं मिलेगा?

महात्मा गांधी ने अपने अन्तिम उपवास के दौरान जो पीड़ा सही थी, उसके अनेक पुरस्कार सामने आए; किन्तु कोई पुरस्कार 27 जनवरी, 1948 की दिव्यता की बराबरी नहीं कर सकता था। दिल्ली से सात मील दक्षिण में; महरौली की प्रसिद्ध मस्जिद 'कूवत-उल-इस्लाम' (इस्लाम की शक्ति) पर; चढ़ती सुबह, महात्मा गांधी का तीव्र इन्तजार किया जा रहा था। वह मस्जिद 27 हिन्दू और जैन मन्दिरों को तोड़कर, उनके मलबे से तैयार की गई थी—दिल्ली के प्रथम मुसलमान सुल्तान कुतुबुद्दीन द्वारा। वह भारत की सबसे पुरानी मस्जिद कहलाती थी। हर साल वहां, कुतुबुद्दीन के मृत्यु-दिवस पर देश के कोने-कोने से हजारों श्रद्धालु एकत्र होते।

महात्मा गांधी ने अपना उपवास तोड़ने के लिए जो सात शर्तें मनवाई थीं, उनमें से एक यह भी थी कि 'कूवत-उल-इस्लाम' के समारोह में जो हजारों मुसलमान आएं, उन्हें अपने जीवन का कोई खतरा नहीं होना चाहिए।

केवल पन्द्रह दिन पहले जो माहौल था, उसके अनुसार हिन्दुओं और सिखों ने उन मुसलमानों का स्वागत नंगे छुरों और कृपाणों से ही किया हो। ठीक विपरीत, मस्जिद के दरवाजे पर आज वे मन्द-मन्द मुस्कराते खड़े थे। मुसलमान यात्रियों को वे बढ़-बढ़कर फूलों की मालाएं पहना रहे थे। भीतर सिखों ने एक छोटा-सा स्टाल लगा रखा था, जहां उन यात्रियों को नि:शुल्क चाय पिलाई जा रही थी। हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों की उस आनन्दित

भीड़ के बीच टहल रहे महात्मा गांधी के दोनों हाथ मनु और आभा के कन्धों पर थे। उस प्रेममय दृश्य से वह इतने विचलित हो गए थे कि उनकी आंखें बार-बार भीग रही थीं।

मस्जिद के मौलवियों ने, आभार-प्रदर्शन करने के लिए, गांधी जी को आमन्त्रित किया कि वह ऐसी जगह बैठें, जिसे मस्जिद का दिल कहा जाता; और वहां से श्रद्धालुओं को दो शब्द कहें। मस्जिद में महिलाओं के प्रवेश की सख्त मनाही की परम्पराओं को भी, मनु और आभा के लिए, मौलवियों ने भुला दिया; क्योंकि वे 'गांधी जी की पुत्रियां थीं।' गांधी जी का दिल भर आया। हिन्दुओं, सिखों और मुसलमानों से उन्होंने एक ही बात कही, '.................... आज इस पवित्र जगह पर बैठकर हम प्रतिज्ञा करें कि हमेशा दोस्तों और भाइयों की तरह रहेंगे; क्योंकि .... भले ही हमारे घर जुदा-जुदा हों, आखिर हम एक ही पेड़ की टहनियां हैं ....'

नाथूराम गोडसे के आदेशानुसार; पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन के सामने, गोल बगीचे के नजदीक सार्वजनिक नल के अगल-बगल विष्णु करकरे टहल रहा था। जनवरी की 27 तारीख थी और वक्त दोपहर का। शरणार्थी सड़कों के किनारे सो रहे थे, हग-मूत रहे थे, भीख मांग रहे थे; यदाकदा मर भी जाते थे। करकरे ने अचानक देखा कि उसके दोनों दोस्त, शरणार्थियों की भीड़ को काटते हुए, उसी की ओर बढ़े आ रहे हैं।

नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे के चेहरों पर हवाइयां उड़ रही थीं। घण्टों-घण्टों तक उन्होंने दिल्ली के शरणार्थी-शिविरों की खाक छानी थी। उन तम्बुओं में दु:ख-दर्द और शिकायतों के अलावा कुछ नहीं था; पिस्तौल तो विशेष रूप से नहीं। एक और दिन बर्बाद हो गया था; जब पुलिस उनके नजदीक आ रही होगी, जब गांधी के आसपास सुरक्षा का छल्ला और भी कड़ा हो गया होगा .... पिस्तौल पाने का अब केवल अन्तिम सूत्र रह जाता था। यदि वहां भी निराशा मिली, तो चुल्लू भर पानी में डूब मरने जैसी बात होगी। वह सूत्र था दिल्ली से 194 मील दूर ग्वालियर में।

दोनों ने करकरे से कहा कि यथासम्भव हम 24 घण्टों में वापस आकर तुम से यहीं मिलते हैं। इन शब्दों के साथ, गोडसे और आप्टे स्टेशन की भीड़ में खो गए; ताकि ग्वालियर की ट्रेन पकड़ सकें।

27 जनवरी की आधी रात को जब ग्वालियर के वैद्य दत्तात्रेय परचुरे की काल-बेल आतुरता से बज उठी, तो परचुरे ने यही सोचा कि कोई दु:खियारी मां अपने बच्चे के लिए सर्दी-जुखाम और खांसी की दवा लेने आई होगी। इसकी अपेक्षा, दरवाजा खोलते ही उसने प्राचीन काल के अपने दो परम मित्रों के दर्शन किए। ऐसे मित्र, जिनका हिन्दू राष्ट्रीयता पर विश्वास स्वयं परचुरे से भी बढ़ा-चढ़ा था। यह वही परचुरे था, जिसने मदनलाल पाहवा के लिए रहने और खाने-पीने के अलावा सुरक्षा का भी पूरा वचन देते हुए कहा था कि जितने मुसलमान मार सको, मारते जाओ।

अगले दिन, रात की गाड़ी से, गोडसे और आप्टे जब दिल्ली की ओर वापस चले, तो परचुरे ने उनकी वह समस्या आखिर हल कर दी थी, जिसके चक्कर में उन दोनों ने न जाने कहां-कहां की ठोकरें खाई थी। कागज के थैले में बन्द, पुराने कपड़ों से लिपटा, काले रंग का एक आटोमेटिक बेरेटा पिस्तौल; जिसका नम्बर 606824-पी था; गोडसे की बांह के नीचे दबा हुआ था। परचुरे ने इस पिस्तौल की बीस गोलियों का भी प्रबन्ध कर दिया था।

आप्टे और गोडसे ने, ग्वालियर स्टेशन से, दिल्ली-वापसी के लिए, एक्सप्रेस ट्रेन जिस वक्त पकड़ी; लगभग उसी वक्त, 800 मील के फासले पर, एक व्यक्ति अपनी यात्रा समाप्त कर रहा था। पूना सी.आई.डी. के डी.आई.जी. मिस्टर यू.एच. राना की लम्बी, धीमी और कष्टप्रद यात्रा आखिर पूरी हो गई थी। जिस अधिकारी की पत्रावलियों में गोडसे और आप्टे की शिनाख्त के जरिए उन दोनों हत्यारों का बिड़ला-हाउस में प्रवेश रोका जा सकता था; वह अधिकारी आखिर अपने खुद के कार्य-क्षेत्र में कदम रख चुका था। राना जी ने सीधे अपने कार्यालय जाने की चिन्ता नहीं की। उतनी लम्बी यात्रा ने उन्हें थका जो दिया था। वह सीधे अपने घर चले गए, ताकि आराम से सो सकें।

''मिल गया! आह, करकरे! इस बार पिस्तौल मिल गया!'' नाथूराम गोडसे का उत्साह समा नहीं रहा था। पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन के सामने नल के आसपास घिरी उस भीड़ को काटकर नाथूराम, डेक्कन गेस्ट हाउस के मालिक को, अलग खींच ले गया। जिस प्रकार कोई तस्कर अपने दिव्य किन्तु गुप्त माल की हल्की-सी झलक संभावित ग्राहक को दिखाता है; उसी प्रकार नाथूराम ने अपने भूरे, पुराने कोट के बटन खोल कर अन्दर की झलक दिखाई। करकरे ने देखा, उसकी कमर में सचमुच एक पिस्तौल खोंसा हुआ है, जिसकी काली मूठ चमक रही है।

तो .... आखिर वह चीज उन्हें मिल गई थी, जिसकी उन्हें उतनी शिद्दत से तलाश थी। उस प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति हो जाने के बाद, वे तीनों व्यक्ति, अत्यधिक तीव्रता से अपने पूर्व-निश्चित निर्णय के अनुसार, आगे बढ़ने वाले थे। उन तीनों में से जो केवल एक व्यक्ति जीवित रहने वाला था, उस विष्णु करकरे के अपने शब्दों में :

हम नल के नजदीक खड़े थे। आप्टे ने हमसे कहा, ''इस बार हमें कोई भूल नहीं करनी है। हमें पूरी तसल्ली कर लेनी चाहिए कि पिस्तौल न केवल काम करता है, बल्कि सही निशाना भी लेता है। अभ्यास के लिए हमारे पास काफी गोलियां हैं। देखो!''

इन शब्दों के साथ उसने अपने कोट की जेब खोल कर दिखाई। उसने सच कहा था। भीतर मैंने अनेक गोलियां देखीं ....

अन्त में हमने बिड़ला मन्दिर के सूने पिछवाड़े में जाने का फैसला किया। वहां; आप्टे एक बबूल के तने से सटता हुआ बैठ गया, ताकि अन्दाजा लग सके कि

बैठे हुए आदमी का सिर किस ऊंचाई पर होता है। चाकू निकाल कर, अपने सिर के सामने, बबूल के तने पर उसने गोल घेरा-सा खुरचना शुरू किया।

''हां .... तो, नाथूराम ....'' वह बोला, ''समझ लो कि यही गांधी का सिर है। जरा निशाना ले कर तो देखो ....''

नाथूराम उस बबूल से कोई पच्चीस फीट के फासले पर हटा। फिर उसने निशाने पर फायर किया। उसने धांय-धांय चार गोलियां छोड़ी। आप्टे दौड़कर तने के पास गया। उसने जो गोल-सा खुरचा था, उस पर वह झुक कर देखने लगा। सारी गोलियां गांधी के सिर में लगी थीं।

''खूब!'' आप्टे किलक उठा, ''सारे निशाने सही लगे हैं। वाह, नाथूराम!''

पड़ोस के ही झाड़-झंखाड़ के बीच; एक व्यक्ति जब गांधी जी के सिर का प्रतिनिधित्व करते गोले पर धड़ाधड़ गोलियां छोड़ रहा था; उस वक्त गांधी जी नई दिल्ली से अपनी रवानगी की सम्भावित तिथि निश्चित कर रहे थे—3 फरवरी। पहले तो वह अपने वर्धा आश्रम में जाएंगे। वहां, दस दिनों के निवास के बाद, अपने बूढ़े पैरों को वह उन अभागे रास्तों पर चलना शुरू करेंगे, जिन्हें पार करते समय हजारों-हजार लोग मौत के घाट उतर गए। पाकिस्तान की इस पद-यात्रा में वह अपने उस महान् सपने को साकार करना चाह रहे थे, जो किसी मरुभूमि में दिखाई पड़ती मृगतृष्णा की तरह उन्हें अपनी ओर खींचे जा रहा था।

गांधी जी की प्रार्थना-सभा के समापन को अभी थोड़ा ही समय बीता होगा कि उनके प्राण लेने के मामले की तहकीकात जिस पुलिस अधिकारी ने अपने कन्धों पर लाद रखी थी, उसका फोन घनघनाने लगा। मदनलाल का मनोबल टूटने और उसके द्वारा विस्तृत बयान दिय जाने के बाद भी, संजीव साहब ने अपनी गाड़ी लगभग जहां-की-तहां खड़ी कर रखी थी। उनके इस विश्वास में कोई कमी नहीं आई थी कि हत्यारे दुबारा हमला करने के लिए कदापि नहीं लौटेंगे।

उन्हें फोन करने वाले व्यक्ति को भी, आगे बढ़ने में कोई विशेष सफलता नहीं मिली थी। जिम्मी नागरवाला अधिकतम जो भी कर सकते थे, प्रथम 48 घण्टों की जांच-पड़ताल में उन्होंने कर लिया था। इसके बावजूद, एक बात ऐसी जरूर थी कि उन्हें मुम्बई से दिल्ली फोन मिलाना पड़ जाए।

''देखिए; कारण तो मैं आपके सामने कोई नहीं रख सकता।'' उन्होंने संजीव जी से कहा, ''लेकिन .... यह निश्चित जानिए कि हत्यारे फिर से आ रहे हैं। सावरकर सदन के आसपास जो चहल-पहल है, जो माहौल है; उसे देखते हुए .... मैं दावे के साथ कह सकता हूं, दूसरा हमला जरूर होगा।''

''तो मैं क्या करूं?'' संजीव साहब फट पड़े, ''नेहरू और पटेल दोनों जाकर गांधी से जिद कर चुके हैं कि वह प्रार्थना-सभा में आने वालों की तलाशी लेने की अनुमति दें।

जानते हैं, गांधी ने क्या उत्तर दिया? बोले कि अगर एक भी वर्दीधारी सिपाही प्रार्थना-सभा में दिखाई दिया; अथवा अगर एक भी श्रोता की तलाशी ली गई, तो मैं आमरण अनशन करूंगा। हम क्या कर सकते हैं?''

जो किया जा सकता था; जो किया जाना चाहिए था; उनका जवाब एक और पुलिस-अधिकारी की मेज पर रखा हुआ था—दिल्ली से 700 मील दूर। पूना सी.आई.डी. के डी.आई.जी मिस्टर यू.एच. राना ने आखिर वे जानकारियां प्राप्त कर ली थीं, जिन्हें वह चार दिन पहले केवल एक टेलिफोन-कॉल द्वारा प्राप्त कर सकते थे। मदनलाल पाहवा के पहले बयान के नौ दिनों बाद, उसकी विस्तृत आत्म-स्वीकृति के पांच दिनों बाद, उस पुलिस-अधिकारी को आखिर पता चल गया था कि वे तीन व्यक्ति कौन हैं, जिन्होंने गांधी की हत्या की शपथ लेकर बिड़ला हाउस में दाखिल हो जाने में सफलता पा ली थी।

इसके बावजूद, राना जी ने आप्टे और गोडसे के हुलिए की कोई सूचना दिल्ली नहीं भेजी—न तार से, न टेलिफोन से। बिड़ला हाउस के गेट पर तैनात चौकीदारों को देने के लिए आप्टे और गोडसे के फोटोग्राफ भी अविलम्ब रवाना किए जाने थे। राना ने इस बाबत भी कोई कार्य नहीं किया। बगड़े पूना में ही बैठा हुआ था—अपने गुप्त कमरे में, बन्दूक की गोली द्वारा भी न भिदने वाले कवच तैयार करता हुआ। राना ने बगड़े की इस गतिविधि में कोई खलल न पहुंचाया।

वे तीन व्यक्ति, जिनके बारे में सोच लिया गया था कि इनके वापस लौटने की कोई संभावना नहीं है; पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन के प्रतीक्षालय रूम नम्बर छह की खिड़की पर आराम से खड़े थे; ताकि तांगों, रिक्शों, बसों, ठेलों आदि की जो रेलमपेल नीचे, सड़क पर मची हुई थी, उसे देखकर अपना निःशुल्क मनोरंजन कर सकें। गोडसे, आप्टे और करकरे ने फैसला कर लिया था कि महात्मा गांधी की हत्या उन्हें किस वक्त करनी है। कल; शुक्रवार, 30 जनवरी, 1948 की शाम, 5 बजे, बिड़ला हाउस की प्रार्थना-सभा में, जहां उन्हें पहली बार सफलता नहीं मिली थी, इस दूसरी बार में वे निश्चित रूप से गांधी की हत्या कर देंगे।

नाथूराम बड़े अच्छे स्वभाव में था (करकरे का बयान) **। उसकी सफलता क्षण-क्षण गहरी हो रही थी। बिल्कुल नहीं लगता था कि वह किसी तनाव में है। जब साढ़े आठ बजने को थे, उसने आकर कहा, ''चलो। हमें आखिरी बार साथ बैठकर भोजन करना चाहिए। भोजन भी मामूली नहीं शानदार पार्टी! शायद दुबारा हम कभी साथ बैठ कर भोजन न कर सकें।''**

नीचे उतर कर हम स्टेशन की भीड़ में चलने लगे। हम 'ब्रेण्डोन' नामक एक रेस्तोरां में पहुंचे, लेकिन आप्टे ने कहा, ''हम यहां नहीं खा सकते। करकरे शाकाहारी है।''

नाथूराम ने मेरे गले में बांह डालकर कहा, "अरे, हां! करकरे शाकाहारी है। आज रात तो हम तीनों को साथ होना ही चाहिए।" और हम किसी अन्य बढ़िया होटल की तलाश में निकल पड़े।

महात्मा गांधी ने अपने जीवन की अन्तिम रात्रि में उस कार्य को सम्पन्न किया, जो उन्हें जवाहरलाल नेहरू द्वारा सौंपा गया था। रात्रि के सवा नौ बजते-बजते उन्होंने कांग्रेस पार्टी का नया संकल्प-पत्र तैयार कर लिया था। कौन जानता था कि वही संकल्प-पत्र उनकी अन्तिम इच्छा बन जाएगा—राष्ट्र के नाम उनका मृत्यु लेख ....।

"आज तो सिर घूम गया।" उन्होंने गहरी सांस के साथ कहा।

दरी पर लेट कर उन्होंने मनु की गोद में सिर रख दिया। मनु उन्हें तेल की हल्की-हल्की चम्पी करने लगी। बापू के चेहरे से उदासी की रेखाएं मिट नहीं रही थीं। वह मनु को बताने लगे कि कांग्रेस के नए संकल्प-पत्र में उन्होंने क्या-क्या लिखा है। भ्रष्टाचार .... देश के शासकों के बीच दिनों दिन बढ़ रहा भ्रष्टाचार .... इस संकल्प-पत्र के अनुसार कौन चलेगा, जो मात्र सदाचार की हिमायत कर रहा है? कितने नेताओं को फुर्सत भी होगी, जो इस संकल्प-पत्र का मर्म समझने की कोशिश करेंगे? स्वयं गांधी जी स्पष्ट उत्तर नहीं दे सकते थे ....

भोजन के बाद नाथूराम ने कहा कि वह अकेले में आराम करना चाहता है। उसे प्रतीक्षालय में छोड़कर करकरे और आप्टे बाहर निकल आए। वे दोनों अब नरवस होने लगे। उन्होंने कोई फिल्म देखने का फैसला किया।

मध्यान्तर में मैं और आप्टे लॉबी से निकल आए और खड़े-खड़े बातें करने लगे। (करकरे ने याद करते हुए कहा)। **विदाई के भोजन के दौरान नाथूराम ने कहा था, "कल शाम को सब निबट जाना चाहिए .... या, हद-से-हद, परसों ...." मैं नाथूराम के इन शब्दों पर चिन्तित हो रहा था।**

मैंने आप्टे से पूछा, "क्या तुम्हें नाथूराम के शब्द ठीक से याद हैं?"

"हां। अच्छी तरह।" उसने कहा।

"उसने थोड़ी संभावना परसों पर भी छोड़ी है।" मैं बोला, इसका "अर्थ क्या है। यह काम इतना .... भारी है कि .... पता नहीं; नाथूराम कर पाए; न कर पाए ...."

आप्टे मेरे नजदीक खिसक आया। "सुनो, करकरे;" वह बोला, "नाथूराम को तुमसे ज्यादा मैं जानता हूं। मैं तुम्हें एक बात बताता हूं। उसका मतलब खुद निकाल लेना। बीस जनवरी को जब हमने दिल्ली छोड़ी थी, तो मैं और वह कानपुर चले गए थे। वह यात्रा हमने प्रथम श्रेणी के डिब्बे में की। हमें नींद नहीं आ रही थी। बड़ी देर तक हम बातें करते

रहे थे। सुबह छह बजे के करीब, जब कानपुर नजदीक ही था, नाथूराम अपनी ऊपर की बर्थ से अचानक नीचे कूदा और मुझे हचमचाने लगा, ''जाग रहे हो, आप्टे? सुनो। यह मैं हूं—केवल मैं—जो इस काम को करेगा। यह काम केवल एक आदमी के हाथों हो सकता है, जो अपनी बलि चढ़ाने को तैयार हो। वह मैं हूं। यह काम मुझे करना है। अकेले।''

आप्टे की आंखें मुझ पर ठहर गई। पूरी शिद्दत के साथ, लेकिन अत्यन्त धीमे स्वर में, ताकि कोई और न सुन ले, उसने कहा, ''सच मानो, करकरे; नाथूराम के मुंह से ज्यों ही वे शब्द निकले; मुझे यही लगा, जैसे मैं डिब्बे के फर्श पर, खुद अपनी आंखों से, महात्मा गांधी की लाश पड़ी देख रहा हूं। नाथूराम पर मैं इस हद तक भरोसा करता हूं।''

विष्णु करकरे और नारायण आप्टे ने प्रतीक्षालय नम्बर छह का दरवाजा धीरे से खोल कर अन्दर झांका। दीवार से सटे पलंग पर नाथूराम आराम से गहरी नींद सो रहा था। करकरे को यही लगा, जैसे 'उसके तन-मन पर कहीं कोई तनाव नहीं है।' पलंग के नजदीक, फर्श पर, वह जासूसी उपन्यास पड़ा हुआ था, जिसे नाथूराम ने उसी शाम पढ़कर पूरा किया था।

❑❑❑

20

‘सलीब पर एक और ईसा’

नई दिल्ली; 30 जनवरी, 1948

मोहनदास करमचन्द गांधी के जीवन का अन्तिम दिन उसी प्रकार शुरू हुआ, जिस प्रकार दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलनों से लेकर अब तक शुरू होता रहा था। सूर्योदय से पहले, लगभग साढ़े तीन बजे ही, वह जाग गए; ताकि परम पिता परमेश्वर की प्रार्थना कर सकें।

जैसा कि उनके बीच पिछली रात तय हुआ था, आप्टे और करकरे पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन के प्रतीक्षालय नम्बर छह में, सुबह सात बजते ही पहुंच गए। उन्होंने पाया कि नाथूराम गोडसे तो कब से जागकर तैयार बैठा है।

उन्होंने साथ बैठकर चाय-नाश्ता किया, बहसें की, बातें की, हंसी-मजाक किया। फिर, सहसा, वे गम्भीर होने लगे। उन्हें केवल इतना मालूम था कि आज के बाद महात्मा गांधी को जिन्दा नहीं रहना है; मगर इस कार्य को सम्पन्न कैसे किया जाए, उनके सामने जरा भी स्पष्ट नहीं था। वे तरह-तरह के उपाय सोचने और रद्द करने लगे। करकरे के अपने शब्दों में :

> **.......... अब हमारे पास केवल छह घण्टों का समय रह गया था और अभी तक हम कुछ तय नहीं कर पाए थे। अन्त में आप्टे ने कहा, "ऐसा है, नाथूराम; कभी-कभी जो उपाय सबसे सरल होता है, वही सर्वश्रेष्ठ भी होता है।" आप्टे ने सुझाव दिया कि हमें नाथूराम को खाकी रंग का सैनिक-सूट पहनाना चाहिए। उन दिनों वैसी पोशाक पहनने का खासा फैशन था। उसकी ढीली कमीज, पैण्ट के किनारे से बाहर झूलती रहती। पैण्ट की पिछली जेब में रखे पिस्तौल का उभार, ढीली कमीज में ढक जाएगा;**

दिखाई नहीं पड़ेगा। मैं और आप्टे तुरन्त बाजार जाकर नाथूराम के लिए खाकी सैनिक-सूट खरीद लाए।

इसके बाद हमने एक अत्यन्त मूर्खतापूर्ण, बचकाना और भावुकता से ओतप्रोत कार्य किया—हम तीनों ने साथ बैठ कर फोटो खिंचवाया।

फिर हम प्रतीक्षालय में लौटे, ताकि जरा आराम करें और अपनी योजना पर थोड़ा और सोचें। बिड़ला हाउस की तरफ नाथूराम पहले रवाना होगा। मैं और आप्टे बाद में आएंगे। फिर, ज्यों ही असली मौका आएगा; मैं और आप्टे नाथूराम के दाएं-बाएं खड़े हो जाएंगे; ताकि गोली चलाते समय अगर कोई व्यक्ति बीच में आने लगे या नाथूराम को रोकना चाहे, तो उसे हम धक्का देकर अलग हटा सकें।

तब तक प्रतीक्षालय की मियाद पूरी हो चुकी थी और हमें उसे खाली कर देना था। नाथूराम ने पिस्तौल निकाला। सावधानी के साथ उसने उसमें सात गोलियां भरी। फिर उसे पैण्ट की पीछे की जेब में रख लिया। हम बाहर निकले।

समय बिताने के लिए हम रेलवे-स्टेशन के प्रतीक्षा कक्ष में चले गए। वहां के भीड़-भड़क्के में सहसा किसी का ध्यान हम पर नहीं जा सकता था। रवानगी के समय तक हम वहीं रुके रहना चाहते थे। थोड़ी देर बाद नाथूराम ने कहा कि उसे मूंगफली खाने का मन हो रहा है। कितनी मामूली चीज मांगी थी उसने! हमारे दिलों में उसके प्रति कोमलता का दरिया उमड़ पड़ा था। हमारी स्थिति उस मक्खन जैसी थी, जो उसकी हथेली पर रखा हो। थोड़ी ही देर में वह अपने-आप की बलि चढ़ा चुका होगा। हम बिल्कुल नहीं चाहते थे कि उसे खलल पहुंचे; या उसका ध्यान जरा भी इधर-से-उधर हो। वह जो चाहता, हम करने को तैयार थे।

आप्टे मूंगफली खरीदने चला गया। भटकना तो उसे बहुत पड़ा, लेकिन आखिर वह मूंगफली का काफी बड़ा लिफाफा लेकर लौटा। नाथूराम ने लिफाफा लेकर, अत्यन्त उत्कण्ठा के से, मूंगफली खाना शुरू किया। जब तक वह इससे निबटा, हमारी रवानगी का समय हो गया था।

हमने फैसला किया कि सबसे पहले बिड़ला मन्दिर जाएंगे। मैं और आप्टे विशेष रूप से चाहते थे कि चलने से पहले भगवान के दर्शन कर लें। नाथूराम को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। जब हम लक्ष्मीनारायण और महाकाली के दर्शन कर रहे थे, प्रसाद ले रहे थे, चढ़ावा चढ़ा रहे थे, आशीर्वाद मांग रहे थे; तब नाथूराम मन्दिर के पिछवाड़े की तरफ चला गया, जहां जंगल में हमने पिस्तौल चलाने का अभ्यास किया था।

जब हम लौटे, तो नाथूराम को हमने बगीचे में लगी शिवाजी की मूर्ति के नजदीक खड़े देखा। उसने हम पूछा, "कर आए दर्शन?" जब हमने 'हां' कही, तो नाथूराम बोला, "मैंने भी दर्शन कर लिए ...."

और नाथूराम की आंखें महान् योद्धा, हिन्दुत्व के महान् रक्षक, छत्रपति शिवाजी की मूर्ति पर ठहर गईं। अब नाथूराम, मुश्किल से एक घण्टे के भीतर, वह अपराध करने को तैयार था; जिससे सारा संसार सन्नाटे में आ जाने वाला था।

तीनों व्यक्ति बिड़ला मन्दिर के बगीचे में कई मिनटों तक टहलते रहे। आप्टे ने अपनी घड़ी में देखा। साढ़े चार बज चुके थे। नाथूराम ने अपने दोस्तों को हाथ जोड़कर नमस्कार किया और विदा मांगी, "आगे .... हम तीनों कब इस तरह साथ होंगे, कौन कह सकता है?" और वह मन्दिर की सीढ़ियां उतर कर, तांगे की तलाश में निकल गया, ताकि बिड़ला हाउस जा सके; जहां महात्मा गांधी अपनी प्रार्थना-सभा में सबके साथ उसका भी स्वागत हाथ जोड़ कर करने वाले थे।

30 जनवरी, शुक्रवार के दिन, महात्मा गांधी के शरीर में इतनी शक्ति आ गई थी कि वह बिना सहारा लिए चल-फिर सकें। उनके अनुयायी गद्गद घूम रहे थे।

दोपहर के आराम के बाद उन्होंने दस-बारह मिलने वालों से बातचीत की। अन्तिम मिलने वाले के साथ बातचीत सर्वाधिक कठिन साबित हुई। वह मुलाकाती उनका सबसे पुराना और सर्वाधिक श्रद्धालु साथी था—सरदार वल्लभभाई पटेल। जवाहरलाल नेहरू के साथ उनकी हमेशा कोई-न-कोई खटपट चलती रहती। उस मतभेद में अब इतनी उग्रता आ गई कि पटेल ने नेहरू की सरकार से त्याग-पत्र देने का फैसला कर लिया था।

लेकिन गांधी जी पटेल को समझा रहे थे कि उनका त्याग-पत्र देश के हित में उचित नहीं रहेगा। गांधी जी ने सुझाव दिया कि आजादी से पहले जिस प्रकार हम तीनों साथ-साथ बैठकर नाजुक समस्याओं को सुलझाया करते थे; उसी प्रकार, क्यों न इस बार भी मैं, तुम और नेहरू साथ-साथ बैठें और मतभेद दूर करें?

पटेल के साथ बातचीत के दौरान गांधी जी अपना चरखा भी चलाते जा रहे थे।

उस समय, गांधी जी के कमरे से सटे मैदान में हत्यारों ने पहुंचकर टहलना शुरू कर दिया था। बिड़ला मन्दिर से नाथूराम के जाने के पांच मिनट बाद; आप्टे और करकरे भी, एक तांगा लेकर, बिड़ला हाउस पहुंच गए थे।

हमने आश्चर्य और राहत के साथ देखा कि बिड़ला हाउस के प्रवेशद्वार पर कहीं कोई रोड़ा नहीं था (करकरे के शब्दानुसार)। **गश्त जरूर बढ़ा दी गई थी, लेकिन आते जा रहे श्रद्धालुओं की तलाशी बिल्कुल नहीं ली जा रही थी। हम आराम से चलकर बगीचे तक पहुंच गए, जहां हमने नाथूराम को लोगों के बीच टहलते देखा। नाथूराम**

पूर्णतया स्वस्थ और प्रसन्न दिखाई दे रहा था। जाहिर है कि हमने आपस में कोई बातचीत नहीं की। पांच बजते ही प्रार्थना-सभा का समय हो गया और इधर-उधर बिखरे लोग जुड़कर एकत्र होने लगे। मैं और आप्टे नाथूराम के अगल-बगल खड़े हो गए। हमने उससे कुछ कहा नहीं, उसकी तरफ देखा तक नहीं। तभी हमारा रहस्य, रहस्य बना रह सकता था।

मैंने अपनी घड़ी में देखा। गांधीजी के आने में आज देरी हो गई थी। मैं इसका कारण समझ नहीं पाया था और कुछ-कुछ नरवस होने लगा था।

मनु और आभा भी नरवस हो रही थीं। पांच बजकर दस मिनट हो चुके थे। पटेल के साथ वार्ता इतनी गम्भीरतापूर्वक चल रही थी कि गांधी जी को समय की सूचना देने के लिए टोका कैसे जाए, दोनों युवतियों में से किसी की समझ में नहीं आ रहा था। आखिर, गांधी जी की नजर से मनु की नजर मिली। मनु ने तुरन्त अपनी घड़ी की ओर इशारा किया। तब गांधी जी ने भी अपनी पुरानी घड़ी की ओर देखा।

दरी पर से वह लगभग उछलते हुए खड़े हो गए और पटेल से.बोले, "अभी मुझे जाने दो। ईश्वर की प्रार्थना-सभा में जाने का वक्त कब का हो चुका!"

कार्यालय से बाहर निकल कर गांधी जी ज्यों ही बगीचे में आए, त्यों ही उनकी वह मण्डली तुरन्त आ जुड़ी, जो प्रत्येक प्रार्थना-सभा में जाते समय हमेशा उनके साथ चलती थी। आज उस मण्डली के दो सदस्य अनुपस्थित थे। डॉ. सुशीला नैय्यर, जो आम तौर पर गांधी जी के आगे-आगे चला करती थी, अभी तक पाकिस्तान से लौट नहीं सकी थी। वह पुलिस अधिकारी, जिसे फ्लू-पीड़ित डी.डब्ल्यू. मेहरा ने अपनी जगह सौंपी थी, गांधी जी की बगल से चलने के लिए आज मौजूद नहीं था। दिल्ली की अनिवार्य सेवाओं के कार्यकरों ने, आगामी कल, हड़ताल करने का फैसला किया हुआ था। कल की स्थितियों को पुलिस किस-किस प्रकार सम्भाले, इसकी एक त्वरित बैठक में भाग लेने के लिए उक्त अधिकारी को बुला लिया गया था।

आभा और मनु के कन्धों पर हाथ रख कर गांधी जी अपने जीवन की अन्तिम पद-यात्रा पर चल पड़े, जो बिड़ला-हाउस के उनके कमरे से प्रारम्भ हुई और उसी बिड़ला-हाउस के बगीचे में समाप्त हो जाने वाली थी ....।

अपनी मण्डली-सहित गांधी जी उस छोटी-सी सीढ़ी के पास पहुंचे, जिसके चार चरणों को पार करने के साथ प्रार्थना-सभा का लॉन शुरू हो गया। वहां श्रद्धालुओं की भीड़ उनकी प्रतीक्षा में खड़ी थी—और हत्यारे भी। गांधी जी ने मनु और आभा के कन्धों पर से हाथ हटाए। अपनी लाड़ली 'बैसाखियों' का सहारा लिए बिना वह आगे बढ़े। सभी उपस्थित जनों के अभिवादन में उन्होंने नमस्कार की मुद्रा में हाथ जोड़ दिए।

एकाएक हमने देखा कि भीड़ के बीच से रास्ता खुल रहा है। बिल्कुल सीधी लकीर में, लोगों द्वारा छोड़ दिए गए उस रास्ते में से होते हुए, गांधी जी ऐन हमारी दिशा में बढ़े आ रहे थे। नाथूराम ने दोनों हाथ अपनी जेबों में डाले। फिर एक हाथ उसने बाहर निकाला-खाली हाथ। जो हाथ जेब में ही रहने दिया, उसी में पिस्तौल था। अन्दर-ही-अन्दर उसने पिस्तौल का सेफ्टी-कैच उतारा।

क्षण-मात्र में उसने हिसाब लगा लिया था, 'गोली चलाने का क्षण यही है, यही है।' नाथूराम को मालूम था कि केवल दो कदम आगे बढ़कर वह भीड़ में से अलग निकल आएगा। जो रास्ता, भीड़ में अपने-आप खुल गया है.......... जिस रास्ते पर गांधी जी बढ़े आ रहे हैं .... उनके बीचोंबीच आ खड़े होने के लिए उसे केवल दो कदमों और तीन सेकेण्डों की जरूरत थी। फिर; निशाना लेना इतना आसान हो जाएगा कि हत्या को किसी भी प्रकार टाला नहीं जा सकेगा।

करकरे की आंखें नाथूराम पर थीं। उसने जेब से पिस्तौल निकालकर दोनों हथेलियों के बीच छिपा लिया। जब गांधी जी केवल तीन कदम के फासले पर रह गए तो नाथूराम दो कदम आगे आकर बीच के उस रास्ते में खड़ा हो गया। उसने नमस्कार की मुद्रा में हाथ जोड़े। उन्हीं हथेलियों के बीच पिस्तौल छिपा हुआ था। वह धीमे-धीमे अपनी कमर मोड़कर झुका और बोला, "नमस्ते, गांधी जी।"

मनु ने सोचा कि शायद वह गांधी जी के चरण चाहता है। मनु ने नम्रता के साथ हाथ बढ़ाया, ताकि उसे रास्ते से हटा सके। "भाई!" वह बुदबुदाई, "बापू को वैसे ही दस मिनट की देरी हो गई है।"

उसी क्षण नाथूराम ने अपने बाएं हाथ से मनु को बड़े जोर का धक्का मारा। वह लड़खड़ा गई। नाथूराम के दाहिने हाथ में काला बेरेटा पिस्तौल चमक उठा। उसने तीन बार घोड़ा दबाया। प्रार्थना-सभा के शान्त मैदान में तीन तीखे धमाके सुनाई दिए। नाथूराम गोडसे विफल नहीं रहा था। जो छरहरा मानव उसकी ओर बढ़ा आ रहा था, उसकी छाती में तीनों गोलियां प्रवेश कर चुकी थीं।

नाथूराम ने गांधी जी की थूकदानी और नोट-बुक मनु के हाथ से गिरा दी थी। वह उन्हीं को उठाने की कोशिश में थी कि उसने गोली चलने की आवाज सुनीं। उसने नजर उठाई। उसके प्रिय बापू अभी भी नमस्कार की मुद्रा में हाथ जोड़े हुए थे। ऐसा लगा, जैसे वह अभी भी चलते जा रहे हैं। प्रार्थना-मंच की दिशा में जैसे वह एक और, आखिरी, कदम उठा लेना चाहते थे। सफेद खादी पर मनु ने खून फैलते देखा। गांधी जी बस इतना ही बोल सके, "हे राम!" और वह निर्जीव होकर, मनु के नजदीक, जमीन पर धीरे-धीरे गिर गए। चेतना के अन्तिम क्षणों में उन्होंने अपने हत्यारे को नमस्कार किया था। निर्जीव होकर गिरने के बाद भी उनके हाथ उसी तरह नमस्कार किए जा रहे थे। खून से सन चुकी धोती में गांधी जी की वह

घड़ी उलझी पड़ी थी; जिसकी चोरी ने, दस मास पहले, उन्हें अत्यधिक पीड़ित किया था। मनु को अनायास वह घड़ी दिखाई पड़ी। पांच बजकर सत्रह मिनट हुए थे।

×× ×× ××

यदि गांधी जी का हत्यारा कोई मुसलमान निकल आया, तो पूरे भारत में जो भयानक खून-खराबा होना सुनिश्चित था; उसे दृष्टि में रखते हुए ऑल इण्डिया रेडियो के निदेशक ने एक असाधारण किन्तु विवेकपूर्ण निर्णय लिया। निदेशक के आदेशानुसार, सभी कार्यक्रम ऐसे चलते रहे, जैसे कुछ हुआ ही न हो। इस दौरान, पुलिस एवं सेना के मुख्यालयों ने, भारत में उपलब्ध एक-एक कमाण्ड को, अत्यन्त गम्भीर आपातकाल स्थिति के लिए तैयार कर लिया। बिड़ला-हाउस से पुलिस ने रेडियो-स्टेशन को, उस अवसर का सर्वाधिक नाजुक समाचार रिले किया—नाथूराम गोडसे न केवल हिन्दू है, ब्राह्मण भी है। लगभग छह बजे भारतीय जनता ने उस विनम्र व्यक्ति की मृत्यु का समाचार इन शब्दों में सुना, जिसने कि देश को आजादी दिलाई थी :

'आज नई दिल्ली में, शाम के पांच बजकर सत्रह मिनट पर, महात्मा गांधी की हत्या हो गई।' रेडियो ने घोषित किया, 'उनका हत्यारा एक हिन्दू है।'

महात्मा गांधी का शव तुरन्त बिड़ला हाउस के भीतर ले जाया गया। जब तक लुई माउण्टबेटन का आगमन हुआ, कमरा शोक-संतप्त व्यक्तियों से भर चुका था। पण्डित नेहरू, सर्द चेहरे के साथ, फर्श पर बैठे हुए थे। उनका सिर दीवार से टिका था और दोनों आंखों से आंसू बहे जा रहे थे। थोड़े ही फासले पर बैठे थे सरदार पटेल; जैसे अभी-अभी उन पर बिजली गिरी हो। उस व्यक्ति के शव पर से उनकी आंखें हट नहीं रही थीं, जिससे उन्होंने अभी घण्टा भर पहले बातचीत की थी।

सारे कमरे में सिसकियां दहक रही थीं। शव को घेर कर बैठी स्त्रियां गीता-पाठ कर रही थीं। पास ही अनेक दीए जला कर रखे गए थे; जिनकी पीली, उदास रोशनी ने महात्मा के शव को मृदुता से ढक लिया था। धूपबत्तियों और अगर की सुगन्ध वायु में ठहर गई थी। मनु चुपचाप रोए जा रही थी। अपने लाड़ले बापू का सिर उसने गोद में ले रखा था। कल रात इसी सिर पर उसने तेल की राहतपूर्ण मालिश की थी। वही सिर आज निर्जीव हो गया। रोती मनु की हथेलियां धीरे-धीरे उस सिर को दबा रही थीं, जिसमें से न जाने कितने मौलिक विचार मानव जाति के कल्याण के लिए उदित होते रहे थे।

इस्पाती फ्रेम के चश्मे को किसी ने गांधी जी के चेहरे पर से उतार लिया था। वह चश्मा इस सीमा तक उनके व्यक्तित्व का हिस्सा बन चुका था कि उसके अभाव में, माउण्टबेटन उस प्रसिद्ध चेहरे को भी सहसा पहचान नहीं पाए। किसी ने उनके हाथ में गुलाब के फूल रखे। उन्होंने अत्यन्त उदासी के साथ उन फूलों और पंखुड़ियों को शव पर बरसा दिया। उस श्रद्धांजलि के साथ एक विचार उनके मन में आया, जिसे वह शीघ्र ही अपने एक मित्र के सामने व्यक्त करने वाले थे :

'महात्मा गांधी को ....' उन्होंने स्वयं से कहा, 'इतिहास में वही जगह मिलेगी, जो .... बुद्ध और ईसा को मिली।'

सिसकियों में डूबी भीड़ को पार करते हुए माउण्टबेटन, नेहरू और पटेल के पास पहुंचे। दोनों के कन्धों पर हाथ रखते हुए उन्होंने कहा, "मैं गांधी जी को कितना प्यार करने लगा था, आप जानते हैं .... आज, उदासी के इस अवसर पर, एक बात कहना चाहूंगा। पिछली बार जब मैं गांधी जी से मिला था, तो आप दोनों को लेकर वह अत्यन्त चिन्तित थे। आप दोनों को ही उन्होंने अपने सबसे बड़े मित्र, सबसे बड़ा सहायक माना। जितना प्यार उन्होंने आप दोनों को दिया, उतना दुनिया में किसी अन्य को नहीं। इसीलिए; आपके बीच जो मदभेद की दरार पड़ी हुई है, उसकी पीड़ा सबसे ज्यादा उन्हीं को हुई।"

माउण्टबेटन ने जारी रखा, "गांधी जी ने मुझसे कहा था, 'वे दोनों मुझसे ज्यादा अब आपकी बात सुनते हैं। उनका मतभेद दूर करने के लिए आप जो भी कर सकते हों, करिएगा।' जाते-जाते वह यह जिम्मेदारी मुझे सौंप गए हैं। यही उनकी आखिरी इच्छा थी। यदि उनकी स्मृति का अर्थ आप दोनों के लिए उतना ही है, जितना कि अभी आपके दु:खी चेहरों से लग रहा है; तो .... सारे मतभेद भूलकर, एक-दूसरों को बांहों में भर लीजिए।"

इन शब्दों ने दोनों नेताओं को एकदम द्रवित कर दिया। पीड़ा के उन क्षणों में दोनों ने एक-दूसरे को बांहों में भर लिया।

अब माउण्टबेटन ने पटेल और नेहरू को सावधान करते हुए कहा, "कल दिल्ली में ऐसी भीड़ एकत्र होगी, जैसी भारत ने कभी न देखी हो। देश में केवल एक संस्थान ऐसा है, जो उस भीड़ को वश में रख सके और उसके बीच से शवयात्रा ले जा सके—सेना।"

दोनों भारतीय नेता इन शब्दों से स्तब्ध रह गए। जिस व्यक्ति का जीवन ही अहिंसा को समर्पित था, उसकी शवयात्रा हिंसा के साक्षात् प्रतीक सेना द्वारा संचालित की जाए; यह विचार उन्हें असहनीय लगा।

किन्तु, उनके सामने, यह स्पष्ट होते भी देर नहीं लगी कि माउण्टबेटन ने जो कहा था, उसके अलावा और कोई चारा भी नहीं था। उन्हें हामी भरनी पड़ी। माउण्टबेटन ने शीघ्र सेना के नाम आवश्यक आदेश जारी किए। दूसरी ओर—

सारे देश में, गांधी जी के अवसान का समाचार पाकर, जनता ने वही किया, जो आजादी की खातिर गांधी जी ने जनता से करवाया था। उन्होंने जनता को 'हड़ताल' नामक हथियार दिया था, जिससे वह आजादी के रास्ते पर आगे बढ़ सकी। वही हड़ताल, क्षण-मात्र में, देश भर में हो गई। पूरा देश बन्द। सन्नाटा .... अधिकांश शहरों, नगरों, देहातों में भोजन भी नहीं पका .... महात्मा का शरीर ठण्डा होने के साथ पूरे देश की अंगीठियां ठण्डी हो गई थीं।

बम्बई शहर भुतहा हो गया। मलाबार हिल्स के खूबसूरत बंगलों से लेकर परेल की झोंपड़पट्टी तक, लोग रोने लगे। कलकत्ता में ऐसा सन्नाटा छाया कि ढूंढ़ने पर भी मनुष्य न मिले। पाकिस्तान में पीड़ा का समुद्र लहराने लगा।

कुछेक स्थलों में दंगे भी हुए। पूना में 'हिन्दू राष्ट्र' के प्रेस एवं कार्यालय की सुरक्षा के लिए पुलिस बुलानी पड़ी। करीब एक हजार लोगों की भीड़ ने बम्बई के सावरकर सदन पर आक्रमण किया और पुलिस बीच में पड़ी। हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक दल के दफ्तरों पर, सारे देश में, जनता ने हमले बोल दिए।

फूलों से ढका गांधी जी का शव बिड़ला हाउस की दूसरी मंजिल की बाल्कनी में जनता के दर्शनार्थ रख दिया गया। पंच-तत्वों के प्रतीक चार दीए उनके सिर के पास जल रहे थे—अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी और प्रकाश। अपने खोए हुए महात्मा की तलाश में जनता उमड़ती चली आ रही थी। गांधी की ललकार पर जनता ने अंग्रेजों का मुकाबला किया था। गांधी के अन्तिम दर्शनों के लिए वह सेना और पुलिस का मुकाबला कर रही थी। जनता की अश्रु-डूबी कतारों का कोई ओर छोर नहीं था। लोग उस बगीचे की घास तोड़-तोड़कर स्मृति-स्वरूप रखे ले रहे थे, जहां महात्मा गांधी को गोली मारी गई थी।

राष्ट्र को सम्बोधित करने के लिए जवाहरलाल नेहरू जब ऑल इण्डिया रेडियो के माइक्रोफोन पर आए, तो उनकी आंखों में आंसू समा नहीं रहे थे, ''........... बापू चले गए। पूरा देश प्यार से जिन्हें बापू कहता था, वह अब हमारे बीच नहीं हैं। हमारे जीवन से रोशनी चली गई है। चारों तरफ अंधेरा हैं। मैंने अभी कहा कि रोशनी चली गई .... यह सच होते हुए भी मैंने सच नहीं कहा। कारण, वह जो रोशनी थी .... इस देश में चमकने वाली वह रोशनी कोई मामूली रोशनी नहीं थी। हम उसे अब भी देख सकते हैं। सारी दुनिया देख सकती हैं। असंख्य मानवों की वह रोशनी दिलासा दे रही है, देती रहेगी .... उस रोशनी में केवल वर्तमान की जगमगाहट नहीं थी। उससे भी आगे .... उसमें वह क्षमता थी, जो भूत और भविष्य को भी जगमग कर दे। उन्होंने हमें गलतियों से पीछे हटाया। उन्हीं के कारण हमने परम सत्य को पहचाना .... उन्हीं के कारण यह प्राचीन देश गुलामी की बेड़ियों को तोड़ सका ....''

सचमुच वह रोशनी पूरी दुनिया की थी, जो उस दिन अचानक गुल हुई। दुनिया के कोने-कोने से आघात और सहानुभूति के सन्देश आने लगे। महायुद्ध के बाद, ऐसी कोई घटना नहीं घटी थी, जिसने लन्दन को उतना विचलित किया, जितना गांधी जी के अवसान ने। इंग्लैण्ड से हजारों व्यक्तियों की श्रद्धांजलियां आईं; जिनमें महामना सम्राट जार्ज षष्टम, प्रधानमंत्री एटली और गांधी जी के पुराने शत्रु विन्स्टन चर्चिल की श्रद्धांजलियां शामिल थीं। नाटककार जार्ज बर्नार्ड शा ने, जिन से गांधी जी की मुलाकात 1931 में हुई थी, अपने अविस्मरणीय शोक-सन्देश में कहा, 'उनकी हत्या से पता चलता है कि अच्छा होना कितना खतरनाक है।'

वाशिंगटन में प्रेसिडेण्ट हैरी ट्रूमैन ने घोषित किया, 'भारत के साथ पूरा विश्व शोक में डूब गया है।'

जवाहरलाल नेहरू की बहन श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ने, मास्को में नए-नए उद्घाटित भारतीय दूतावास में, उस रजिस्टर को निरन्तर खुला रखा, जिसमें शोक-सन्देश लिखा जा सकता; किन्तु जोसेफ स्टालिन के विदेश कार्यालय के एक भी सदस्य ने वहां कुछ भी दर्ज करना आवश्यक न समझा।

'मौत के वक्त बहस की कोई संभावना नहीं होती।' गांधी जी के सबसे बड़े राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी मोहम्मद अली जिन्ना ने अपने शोक-सन्देश में लिखा 'वह हिन्दू समाज के महानतम व्यक्तियों में से एक थे।' सन्देश भेजने से पहले जिन्ना के एक सहयोगी ने उनका ध्यान आकर्षित किया कि गांधी जी की उपलब्धियों को केवल हिन्दू समाज तक सीमित नहीं माना जा सकता, किन्तु जिन्ना सहमत न हुए। केवल एक पखवाड़ा पहले गांधी जी ने मुसलमानों को जीवन बचाने और पाकिस्तान का दिवालियापन दूर करने के लिए अपनी जान खतरे में डाली थी। इसके बावजूद कायदा-ए-आजम द्रवित होने को प्रस्तुत नहीं थे।

''नहीं।'' जिन्ना बोले, ''वह वही थे, जो मैंने कहा—एक महान् हिन्दू।''

जैसा कि स्वाभाविक और अपेक्षित था, सर्वश्रेष्ठ श्रद्धांजलियां स्वयं भारतीयों की तरफ से आईं। उनमें भी जो श्रद्धांजलि सर्वोच्च थी, वह 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' के सम्पादकीय पृष्ठ पर प्रकट हुई। पूरा पृष्ठ कोरा छोड़ दिया गया था, जिस पर काला बार्डर लगा था। बीच में केवल एक पैरागाफ था; बड़े अक्षरों में छपा हुआ :

'जिन भारतीयों पर गांधी जी ने अपना जीवन न्यौछावर कर दिया था, उन्हीं में से एक ने उनका जीवन ले लिया है। सलीब पर एक और ईसा के चढ़ जाने की यह घटना, विश्व के इतिहास में, शुक्रवार के दिन घटी है—इसी दिन ईसा मसीह को भी एक हजार नौ सौ पन्द्रह साल पहले मौत के घाट उतारा गया था। ओ पिता! हमें क्षमा करना!'

आधी रात के बाद गांधी जी की लाश बिड़ला हाउस की बाल्कनी से उतार ली गई। वह पार्थिव शरीर, कुछ घण्टों के लिए, अब उनके साथ रहने वाला था, जो गांधी जी के अपने लोग थे—बिल्कुल अपने। मनु और आभा, सचिव प्यारेलाल, तीन में से दो पुत्र देवदास और रामदास; एवं कुछेक अन्य लोग, जो सुख-दुःख में उनके साथी रहे। धीमा-धीमा रोते हुए उन सब ने अन्तिम विदाई का श्लोक उस छोटे-से कमरे में गुंजा दिया :

.... धूल से अपने आपको सान लो, क्योंकि यह धूल ही है, जिसमें अन्ततः तुम्हें मिल जाना है .... लो, अपना अन्तिम स्नान करो, नए कपड़े पहनो .... जहां तुम जा रहे हो, वहां से वापस नहीं आओगे ....

सूर्योदय होते ही, जनता के दर्शनार्थ, लाश एक बार फिर लकड़ी की चौकी पर रखकर, बिड़ला हाउस की बाल्कनी में, फूलों के बीच प्रदर्शित की गई। सुबह ग्यारह बजे

उसे उतार कर, श्रद्धा और नम्रता के साथ, उस वाहन पर रखा गया, जो उसे रोदन में डूबी राजधानी के रास्तों पर से गुजार कर, यमुना के किनारे, राजघाट पर सज चुकी चिता तक पहुंचाने वाला था। वह एक शस्त्र-वाहक डॉज गाड़ी थी। जिस व्यक्ति की लाश का वहन उसे करना था; उसे यन्त्र-युग के अभिशापों से जिस हद तक विरक्ति थी, उसका सम्मान करने के लिए, पूरी शव-यात्रा में उस डॉज गाड़ी का इंजन बन्द ही रखा जाने वाला था। उसके बम्पर के साथ चार रस्से बांध दिए गए थे, जिन्हें ढाई सौ भारतीय नागरिकों, सैनिकों, नौसैनिकों और वायु-सैनिकों द्वारा खींचा जाना था। मानव-शक्ति ही उस मानवता के पुजारी को उसकी अन्तिम यात्रा पर ले जाने वाली थी।

जवाहरलाल नेहरू की आंखें रो-रोकर लाल हो चुकी थीं। सरदार पटेल अभी तक अपनी स्तब्धता से मुक्त नहीं हुए थे। उन दोनों ने, आभा और मनु के साथ मिलकर, शव-विदाई का अन्तिम कार्य सम्पन्न किया। शव पर उन्होंने लाल और सफेद कपड़े की दो पट्टियां रखीं, जो इस सांकेतिक अर्थ में थीं कि जाने वाला अपने जीवन को पूरी तरह भोगकर जा रहा है औरा अनन्त में मिल जाने की उसकी यह यात्रा सानन्द प्रारम्भ हो रही है। फिर उन्होंने, गरीबी और देश भक्ति के उस मसीहा को वह पोशाक पहनाई; जो उसके लिए, उस अवसर पर, निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ थी—उन्होंने महात्मा के नन्हे से शव को तिरंगे झण्डे से ढांक दिया।

मनुष्यों द्वारा खींचा जा रहा वह वाहन बिड़ला हाउस के गेट से बाहर निकला, जहां मनुष्यों का ही एक विशाल समुद्र विलखता हुआ खड़ा था। वह समुद्र थोड़ी-थोड़ी जगह देता गया। वाहन समुद्र के अन्दर आता गया। वाहन के आगे-आगे चल रही थीं चार बख्तरबन्द गाड़ियां और गवर्नर-जनरल के अंगरक्षकों की टुकड़ी। मंत्री और कुली, महाराजा और अछूत, गवर्नर और पर्दानशील मुसलमान महिलाएं, प्रत्येक जाति और धर्म के प्रतिनिधि, तरह-तरह के रंगों वाली त्वचा के लोग उस क्षण अद्भुत एकता की डोर से बंध गए थे, क्योंकि उन सब के सीने में एक जैसा दर्द था। वे शव के पीछे-पीछे चलने लगे।

राजघाट तक के पांच मील लम्बे उस पूरे रास्ते पर गुलाब एवं अन्य फूलों की पंखुड़ियां बिखेर दी गई थीं। समूचे रास्ते के दाएं-बाएं, इंच-इंच जगह पर लोग खड़े थे—अपने बापू पर अन्तिम बार फूल न्यौछावर करने के लिए। वृक्षों पर लदे, खिड़कियों से झांकते, छतों पर चढ़े, खम्बों से लटकते वे लोग या तो रो रहे थे, या रोना रोकने की अर्द्धसफल चेष्टा कर रहे थे।

शव-वाहिनी के चारों ओर लोगों की ऐसी भीड़ घिर आई थी कि जनता का वह आलिंगन ताले की तरह कस गया था। शव-वाहिनी इंच-इंच करके ही खिसक पा रही थी और उस खिसकने का एकाएक पता भी नहीं चलता था। पांच मील का वह रास्ता पांच घण्टों में पार हुआ। लाखों का वह कारवां सुबह से दोपहर तक और दोपहर से शाम के चार बजे तक निरन्तर चलता ही रहा। यमुना-किनारे, राजघाट पर, कम से कम दस लाख लोग और

मौजूद थे। 'लाइफ' पत्रिका की फोटोग्राफर मार्गरेट बर्कव्हाइट ने एकाएक महसूस किया कि अपने लाइका लेन्स से जिस भीड़ को वह अंकित करने जा रही है, वह 'इस धरती पर जुड़ी हुई, अब तक की, सबसे बड़ी भीड़ है।'

उस अविश्वसनीय मानव-समुद्र के बीच जो थोड़ी-सी जगह छूटी हुई थी, उसे मुट्ठीभर वायु-सैनिक घेर कर खड़े थे। वहां लगभग एक सौ विशेष अतिथि शव की प्रतीक्षा करते हुए उपस्थित थे। सजी हुई चिता के पास ही खड़े थे लुई माउण्टबेटन। उन्होंने अपना सिर नौसेना-अधिकारियों की सफेद कैप से ढांक रखा था।

आखिर जब गांधी जी के शव ने, शव-वाहिनी से उतरकर, भीड़ के सिरों के ऊपर ही ऊपर से चिता की ओर बढ़ना शुरू किया, तो उस मानव-समुद्र में अकुलाहट की आग-सी लग गई। भीड़ में एक ऐसा रेला आया, जिस पर काबू रखना किसी तरह सम्भव नहीं था। माउण्टबेटन के स्टाफ के एक सदस्य मेजर मार्टिन गिलिएट ने सोचा, 'जब लन्दन तक यह समाचार पहुंचेगा कि भीड़ के धक्के खाकर, लॉर्ड माउण्टबेटन; अपनी बीबी, बच्चों और पूरे स्टाफ सहित, गांधी जी की चिता में पहुंच गए और उनके साथ ही फुंक गए; तो बड़ा हंगामा मचेगा।'

माउण्टबेटन ने भी उस खतरे को उसी पल पहचान लिया था। सभी अतिथियों को उन्होंने चिता से बीसेक गज और पीछे हटाया। फिर सबसे कहा कि बैठ जाइए। यमुना किनारे, लाखों की उस भीड़ द्वारा धरती इतनी रौंदी गई थी कि चारों तरफ कीचड़-ही-कीचड़ था। माउण्टबेटन ने परवाह न की। नौसेना की अपनी अत्यन्त स्वच्छ पोशाक की चिन्ता न करते हुए वह, पत्नी और बच्ची समेत, जब खुद बैठ गए; तो अतिथियों ने भी बैठना शुरू कर दिया।

चन्दन की उस जबर्दस्त चिता पर, गांधी जी के पुत्रों ने उनकी लाश आदरसहित लाकर रखी। पैर दक्षिण की तरफ। सिर उत्तर की तरफ। चार बज चुके थे। ढलते सूरज की किरणें शव के चेहरे पर आशीर्वाद बरसाती हुई गिर रही थीं।

ज्येष्ठ पुत्र हीरालाल की अनुपस्थिति में, गांधी जी के द्वितीय पुत्र रामदास ने, अपने छोटे भाई देवदास की सहायता से, चिता पर शुद्ध घी, कपूर, नारियल का तेल और अगर छिड़कना शुरू किया। लुई माउण्टबेटन विचलित होने लगे थे। चिता पर रखे शव की ओर वह देखते रह गए। केवल एक वर्ष की छोटी-सी अवधि में उस महात्मा से वह कितना स्नेह करने लगे थे! महात्मा के अग्नि-संस्कार का वह दृश्य, माउण्टबेटन के मानस में, हमेशा के लिए अंकित रह जाने वाला था। उनके अपने शब्दों में, गांधी जी 'ऐसे दिख रहे थे, मानो हमारी आंखों के सामने, शान्तिपूर्वक, गहरी नींद सो रहे हों। इसके बावजूद, कुछ क्षणों में, हमारे देखते-देखते वह हमेशा के लिए आग की लपटों में खो जाने वाले थे।'

रामदास गांधी ने चिता की पाँच परिक्रमाएं कीं, ब्राह्मणों का मन्त्रोच्चार निरन्तर जारी था। रामदास ने चिता को अग्नि दिखा दी। चन्दन की लकड़ी में अग्नि तुरन्त प्रकट न

हुई। उसकी लपटों को आगे आने से हिचक-सी हों रही थी। फिर, एकाएक, लपटों ने हिचक छोड़कर प्रकट होना शुरू किया। प्राचीन वैदिक प्रार्थनाएं चिता के चारों ओर सिहर रही थीं:

मेरा मागदर्शन करो,
असत्य से सत्य की ओर ....
अन्धकार से प्रकाश की ओर ....
मृत्यु से अमरत्व की ओर ....

मानव-समुद्र ने जब चिता में से धुआं उठता देखा, तो पूरे समुद्र ने अचानक आगे बढ़ना चाहा। पामेला माउण्टबेटन ने घूमकर पीछे देखा। अनेकानेक स्त्रियां दीवानों की तरह छाती पीट-पीटकर रो रही थीं। बाल नोचते और कपड़े फाड़ते हुए उन स्त्रियों ने चिता की दिशा में दौड़ने की कोशिश की। वे गांधी जी के साथ सती हो जाना चाहती थीं। उनकी अकुलाहट ने पूरी भीड़ में फिर से जबर्दस्त रेला पैदा कर दिया। पुलिस वालों ने उन उन्मादित स्त्रियों को बड़ी मुश्किल से वश में किया।

चिता की लपटें, घी का उत्प्रेरण पाकर, अचानक विस्फोटक ढंग से प्रकट हुई और बड़ी ऊंचाइयों तक उठने लगीं। लपटों के गर्भ में लेटी वह भूरी मानव आकृति आग के परदे के पीछे हमेशा के लिए लुप्त हो गई। लाखों की उस भीड़ ने हृदय-विदारक चीत्कार किया, जिसने यमुना के किनारों को दूर-दूर तक झकझोर दिया, ''महात्मा गांधी अमर हो गए।''

चिता के अंगारे सारी रात दहकते रहे। रात भर श्रद्धालुओं का तांता लगा रहा। कभी जो एक महान् व्यक्ति था; वह आज राख, अंगारों और धुंए में बदल गया था। श्रद्धालुओं की उस भीड़ में एक व्यक्ति ऐसा था, जिसे कोई पहचान नहीं रहा था, जिस पर कोई ध्यान नहीं दे रहा था; किन्तु यही था वह व्यक्ति, जिसके हाथों चिता में आग लगनी चाहिए थी, लेकिन जो समय पर उपस्थित ही न हुआ। महात्मा गांधी का ज्येष्ठ पुत्र हरीलाल, घोर शराबी और क्षय का मरीज, वहां अब आया था। राख, धुएं और अंगारों के दर्शनार्थ ....

एक और व्यक्ति वहां सारी रात बैठा रहा। उसका सुन्दर चेहरा पीड़ा से विकृत हो गया था। उन लपटों और अंगारों ने उस व्यक्ति के गुरु को, धर्म पिता का, सलाहकार का, मित्र का, परम पूज्य पुरखे का भक्षण.कर लिया था। उस चिता ने जवाहरलाल नेहरू के जीवन का एक युग समाप्त कर दिया था। बापू उन्हें लावारिस-सा छोड़कर चले गए थे। सूर्य की पहली किरण फूटने के साथ, अभी तक दहकते अंगारों पर जवाहरलाल नेहरू ने गुलाब के फूल चढ़ाए और भर्राए कण्ठ से कहा, ''बापू! इन फूलों को स्वीकार करिए। आज ...... कम से कम ये अंगारे तो हैं, यह राख तो है; जिन पर मैं फूल चढ़ा सकता हूं। कुछ .... जब कुछ भी न होगा .... मैं कहां जाऊंगा फूल चढ़ाने?''

xx xx xx

अग्निदाह के बारहवें दिन, महात्मा गांधी की भस्म, इलाहाबाद के पवित्र संगम में प्रवाहित कर दी गई। जिस ताम्र कलश में वह भस्म रखी गई थी, उसे नई दिल्ली से इलाहाबाद ले जाने के लिए जो ट्रेन चली, उसमें केवल तीसरी श्रेणी के डिब्बे थे। इलाहाबाद स्टेशन पर ताम्र-कलश को, प्रतीक्षा में खड़े ट्रक तक ले जाया गया। स्टेशन से संगम तक के पूरे रास्ते में, जिसे ट्रक ने पार किया, लोगों की भीड़ समा नहीं रही थी।

संगम पर भारतीय सेना का एक ऐसा वाहन खड़ा था, जो जल और थल पर समान क्षमता से गति कर सकता था। उसका रंग सफेद था और उसे फूलों से भली-भांति सजाया गया था। उसका नाम था 'डक' और वह ताम्र कलश को संगम के बीचोंबीच ले जाने को प्रस्तुत था।

नेहरू, पटेल, गांधी जी के पुत्र देवदास और रामदास, मनु, आभा एवं गांधी जी के कुछ अन्य अन्तरंग व्यक्ति, ताम्र-कलश के साथ, 'डक' पर स्थान ग्रहण करने लगे। संगम के किनारों पर खड़े तीस लाख व्यक्तियों की भीड़, श्रद्धावनत, उस ताम्र-कलश को नदी के बीचोंबीच पहुंचते देखती रही ....

जब 'डक' ठीक उस जगह आ पहुंचा; जहां संगम की तीनों नदियों, गंगा, यमुना, सरस्वती का जल परस्पर मिलन कर रहा था, तो उसे रोक दिया गया। रामदास गांधी ने अपने पिता की भस्म में गाय का पवित्र दूध मिलाया और धीरे-धीरे घोलना शुरू किया। 'डक' पर उपस्थित व्यक्तियों ने समवेत स्वर में श्लोक पढ़ा : ओ पवित्र आत्मा! सूर्य, अग्नि और वायु का आशीर्वाद तुझे मिले। सभी नदियों एवं समुद्रों का जल तेरी सहायता करे। तुझे हमेशा सत्कर्मों की प्रेरणा मिले ....

श्लोक के समापन पर रामदास ने झुक कर ताम्र-कलश का मिश्रण धीरे-धीरे संगम में प्रवाहित करना शुरू किया। जल धारा उस भस्म को, अदम्य अकुलाहट के साथ, समुद्र की ओर ले जाने लगी। सभी व्यक्तियों ने उस प्रवाहित भस्म पर पुष्प न्यौछावर किए। संगम के किनारे खड़े लाखों लोगों ने जलधारा में फूल फेंके, स्नान किया। कभी जो एक महान् व्यक्ति था, आज वह पानी की सतह पर एक लम्बे धूसर चिन्ह के रूप में अंकित हो गया था।

वह धूसर चिन्ह, गुलाब की पंखुड़ियों का मुकुट पहने हुए, क्रमशः क्षितिज की ओर बढ़ने लगा। महात्मा गांधी की अन्तिम यात्रा यही थी, जब उनकी भस्म पवित्र गंगा नदी की स्नेहभरी गोद में छिपकर समुद्र की ओर बढ़ रही थी; ताकि उनकी आत्मा रात्रि के अंधकार को चीर कर प्रकाश में चली जाए और उस 'महत्' के साथ जा मिले; जो गीता के अनुसार; आदि है, अनन्त है, सर्वोपरि है ....

❑❑❑

21

‘आधी रात को आजादी’

अन्ततः

जीवन के अन्तिम दिनों में जिसे पाने के लिए महात्मा गांधी अत्यन्त लालायित रहे, उसे उन्होंने मरणोपरान्त प्राप्त कर ही लिया। उनकी हत्या ने हमेशा के लिए उस वैमनस्य को समाप्त कर दिया, जिसकी आग में झुलसते हिन्दू-मुसलमान अपने ही मुहल्लों में, अपने ही पड़ोसियों की हत्याएं करते फिर रहे थे। उपर्युक्त दोनों जातियों का सदियों पुराना विरोधाभास तो बरकरार रहा, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति सामान्य जनता के बीच दंगों के विस्फोटों के माध्यम से होनी रुक गई। वह विरोधाभास केवल राजनीतिक धरातल पर ही व्यक्त होने के लिए शेष रह गया। उसके फलस्वरूप; भारत और पाकिस्तान के बीच सशस्त्र संघर्ष की सम्भावनाएं, प्रारम्भ से ही, मिटाई न जा सकी।

नाथूराम गोडसे, अपने पिस्तौल के साथ, तुरन्त हिरासत में ले लिया गया। उसने हिरासत से बचने का कोई प्रयास न किया। षड्यन्त्र के शेष सदस्यों की गिरफ्तारी ताबड़तोड़ हुई। नारायण आप्टे और विष्णु करकरे, पुलिस के शिकंजे में इसलिए फंसे कि आप्टे का अपनी नारी-लोलुपता पर कोई नियन्त्रण नहीं था। चौदह फरवरी, 1948 के दिन; बम्बई के एक होटल में, उस कमरे में बन्द दरवाजे पर होले से खटखटाहट हुई; जिसमें आप्टे पिछले 48 घण्टों से छिपा हुआ था। उसने तपाक से उठकर दरवाजा खोला, क्योंकि उसने अपनी प्रेमिका के आने की आशा रखी थी। प्रेमिका की अपेक्षा पुलिस के तीन सिपाहियों ने दर्शन दिए। पुलिस को किन्हीं सूत्रों से पता चल गया था कि स्वयं पुलिस के चीफ सर्जन की सुपुत्री के साथ आप्टे की कैसी आत्मीयता है।

27 मई, 1948 के दिन; महात्मा गांधी की हत्या की साजिश करने के आरोप में; आठ व्यक्तियों को अदालत में खड़ा किया गया—नारायण आप्टे, नाथूराम गोडसे, गोपाल गोडसे, मदनलाल पाहवा, विष्णु करकरे, वीर सावरकर, दत्तात्रेय परचुरे और दिगम्बर बगड़े का नौकर। स्वयं बगड़े पर कोई मुकदमा न चला, क्योंकि वह सरकार का गवाह बन गया। मुख्यत: उसी की जुबानी पर आठ में से सात आरोपियों को सजा सुनाई गई। ठोस प्रमाण के अभाव में वीर सावरकर को छोड़ दिया गया।

प्रारम्भ से ही नाथूराम ने दावा किया कि महात्मा गांधी की हत्या की पूरी जिम्मेदारी अकेले उसी की है। उसने जोर देकर कहा कि इस षड्यन्त्र में अन्य कोई व्यक्ति उसके साथ नहीं। नाथूराम ने कभी उस कार्रवाई के लिए आवेदन नहीं किया, जो उसकी जान बचाने का एकमात्र सम्भावित उपाय था—मानसिक जांच।

नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे, दोनों को, फांसी की सजा सुनाई गई— आप्टे को इस आधार पर कि ग्वालियर में जब हत्या का पिस्तौल प्राप्त किया गया, तब वह वहां उपस्थित था। शेष पांच आरोपियों को न्यायाधीश ने उम्रकैद की सजा दी। बाद में, अपीलीय अदालत में, परचुरे ने यह सजा पलटवा ली—और बगड़े के नौकर ने भी।

15 नवम्बर, 1949 के दिन; नारायण आप्टे और नाथूराम गोडसे को, अम्बाला जेल की उनकी कोठरियों से निकाला गया, ताकि उन्हें फांसी के फन्दों तक ले जाया जा सके; जहां उन्हें गर्दन से तब तक लटकाया जाना था; जब तक जान न निकल जाए।

नाथूराम गोडसे ने अपनी अन्तिम इच्छा में लिखा कि उसकी भस्म कहीं भी प्रवाहित करने की अपेक्षा, कलश में रखकर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपी जाती रहे; ताकि अन्तत: उसे उस सिन्धु नदी में प्रवाहित किया जा सके, जो पूरी-की-पूरी पवित्र और अखण्ड हिन्दू राष्ट्र भारत में बह रही हो।

वीर सावरकर का अवसान, सावरकर सदन में, 83 वर्ष की उम्र में हुआ। सन् 1966 में।

दत्तात्रेय परचुरे, सजा पलटवा कर, वापस ग्वालियर आ गया, ताकि सर्दी-जुखाम की अपनी सुप्रसिद्ध दवा 'शीतोपलादि' के वितरण द्वारा अपना नाम रोशन करता रहे। वह आज भी ग्वालियर में है और यही कार्य कर रहा है।

दिगम्बर बगड़े को, पूना में जान का खतरा होने के कारण, अदालत के फैसले के बाद, बम्बई में, खास पुलिस की तरफ से एक निवास-स्थान प्राप्त हुआ; जहां उसने अपने उसी व्यवसाय की धाक जमाई, जिसके लिए वह प्रारम्भ से प्रसिद्ध रहा था—ऐसे कवचों की 'बुनाई', जिन्हें बन्दूक की गोली भी न भेद सकती हो। आज, उसका एक-एक कवच हजार रुपयों में बिक रहा है। उसे सम्पूर्ण भारत से आदेश मिलते हैं। उसके ग्राहकों के बीच उन राजनीतिज्ञों की संख्या काफी बड़ी है जिन्हें अपनी जान का खतरा महसूस होने लगा हो।

भारतीय कानून के प्रावधान के अनुसार विष्णु करकरे, मदनलाल पाहवा और गोपाल गोडसे ने जेल भुगतकर, 1960 के अन्तिम दिनों में मुक्ति पा ली।

करकरे लौटकर अहमदनगर चला गया, ताकि अपने डेक्कन गेस्ट-हाउस का कारोबार सम्भाल सके। अप्रेल, 1974 में वह दिल के दौरे से गुजर गया।

मदनलाल पाहवा ने स्वयं को बम्बई में स्थापित किया। जिसने कभी गांधी-हत्या-षड्यन्त्र में भाग लिया था; वह आज बम्बई में, नाजुक और भोले बच्चों के लिए भांति-भांति के खिलौनों का उत्पादन करता है।

गोपाल गोडसे पूना एक भवन की तीसरी मंजिल पर रहता है। उसके कमरे में एक जबर्दस्त नक्शा लगा हुआ है—अखण्ड भारत का नक्शा। साल में एक बार; 15 नवम्बर के दिन, जब उसके बड़े भाई को फांसी दी गई थी, उस कमरे में नाथूराम की भस्म का कलश, इसी नक्शे के सामने ला कर रखा जाता है। 'शहीद' नाथूराम की स्मृति में पूना के अनेक उग्र हिन्दू राष्ट्रवादी वहां एकत्र होते हैं। कोई पश्चाताप नहीं दु:ख नहीं, आघात नहीं। नाथूराम गोडसे के अपराध को देश-हित में किया गया बलिदान मानकर, वे सब उस 'शहीद' की आत्मा की शान्ति के लिए भजन-कीर्तन करते हैं और सामूहिक शपथ लेते हैं कि खण्डित हो चुके देश को पुन: अखण्ड रूप देने और दिव्य हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करने के लिए वे अपना तन, मन, धन न्यौछावर करने से कभी पीछे नहीं हटेंगे।

गर्वनर-जनरल का पद स्वीकार करते समय लुई माउण्टबेटन ने जो स्पष्ट कर दिया था; उसके अनुसार; जून 1948 में वह भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल के कार्य-भार से मुक्त होकर इस देश से चले गए। सपरिवार।

मोहम्मद अली जिन्ना के फेफड़ों में जो घातक बीमारी घर कर गई थी; उसने 11 सितम्बर, 1948 के दिन, करांची में उनका जीवन ले लिया। अपने सबसे बड़े राजनीतिक शत्रु की हत्या के बाद जिन्ना मुश्किल से आठ मास जी सके। वह करांची में पैदा हुए थे; उनकी कब्र भी वहीं बनी।

उनके बाद, कई शासक जल्दी-जल्दी आते और जाते रहे। सभी की सबसे बड़ी कमजोरी थी—भ्रष्टाचार। फील्ड मार्शल अय्यूब खां ने, आखिर, 1958 में सैनिक क्रान्ति करके सत्ता हथिया ली। इसके साथ पाकिस्तान में लोकतान्त्रिक शासन-प्रणाली समाप्त हुई और तानाशाही सामने आई। अय्यूब खां ने दसेक साल तक सैनिक ढंग से शासन चलाया, जो नि:सन्देह प्रभावशाली था। उन्हें भी गद्दी से उतारने के लिए एक और सैनिक क्रान्ति हुई।

1971 में पूर्वी पाकिस्तान असन्तुष्ट होकर पश्चिमी पाकिस्तान से जुदा हो गया। उसने स्वयं को बंगला देश कह कर पुकारा बंगला देश के युद्ध ने लुई माउण्टबेटन की उस भविष्यवाणी को सच कर दिखाया, जब उन्होंने कहा था कि 'दो सिरों वाला पाकिस्तान' चौथाई शताब्दी से ज्यादा नहीं टिकेगा। बंगला देश के आजाद होते ही पाकिस्तान से तानाशाही

समाप्त हुई और प्रजातन्त्र के हिमायती जुल्फीकार अली भुट्टो के हाथ में शासन आ गया। बंगला देश की आजादी के फलस्वरूप पाकिस्तान 'एक ही सिर वाला' देश रह गया, जो उसकी शासन-व्यवस्था के पुष्ट होते जाने का कारण बना। खनिज तेल के धनी मुसलमान पड़ोसियों के आर्थिक सहयोग की सम्भावना ने पाकिस्तान में नए प्राण फूंक दिए। राष्ट्र के जन्म से लेकर अब तक, पाकिस्तानियों को अपना भविष्य उतना उज्ज्वल कभी नहीं दिखाई दिया, जितना कि सन् 1975 में।

जैसा कि महात्मा गांधी ने भविष्यवाणी कर दी थी, भारतीय भूखण्ड के विभाजन ने आगामी अनेक वर्षों तक जनता को चैन से बैठने न दिया। एक ही गर्भ की सन्तानें होने के बावजूद भारत और पाकिस्तान की सेनाओं में दो-दो बार भारी सशस्त्र संघर्ष हुआ—पहले तो सन् 1965 में, फिर 1971 में।

दोनों देशों ने अपनी सबसे बड़ी उलझन—शरणार्थी समस्या—को केवल दस वर्षों में सुलझा लिया। लाखों उजड़े हुए लोगों को नई धरती पर, बिल्कुल नए सिरे से जमाना; यह एक जबर्दस्त कार्य था, जिसे दोनों देशों ने सम्पन्न कर दिखाया।

भले ही दोनों देशों ने तरक्की की ओर कदम उठाए, किन्तु सर सिरिल रैडक्लिफ की विभाजन-रेखा ने दोनों तरफ जिस तबाही के ताण्डव को प्रकट किया था; उसकी याद किसी से भुलाई न जा सकी। फलस्वरूप; आपसी असहयोग, आशंका, खीझ, क्रोध और घृणा की भावना—दोनों ही तरफ—जैसे हमेशा के लिए आकर बस गई।

मानवीय जीवन के ड्रामे की अनेक हृदय-विदारक घटनाएं विभाजन के कारण, सामने आई थी। उनमें; बूटासिंह और जेनिब की कथा निःसन्देह अविस्मरणीय है। जेनिब को पन्द्रह सौ रुपये में खरीद कर बूटासिंह ने उसकी जान बचाई थी; फिर उसे सिख परम्परानुसार बाकायदा अपनी पत्नी बनाकर रख लिया था। ब्याह के ग्यारह मास बाद, जेनिब एक लड़की की मां बनी। बूटासिंह ने उसका नाम रखा—तनवीर।

कुछ वर्षों बाद, बूटासिंह के दो रिश्तेदारों ने, जिन्हें उसकी सम्पत्ति अब उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली थी, जेनिब की उपस्थिति की रिपोर्ट उन अधिकारियों के यहां दर्ज करवा दी, जो दंगों के दौरान खोई हुई स्त्रियों की तलाश में थे। जेनिब को तत्काल बूटासिंह से छीन लिया गया। जिस दौरान पाकिस्तान में जेनिब के परिवार की खोज चली उस दौरान उसे एक शिविर में रखा गया।

स्तब्ध बूटासिंह तुरन्त दिल्ली चला गया, जहां उसने एक ऐसा काम किया जो किसी भी सिख के लिए अत्यधिक कठिन होता है। उसने अपने केश कटवा लिए। फिर उसने जामा मस्जिद जाकर, इस्लाम धर्म अंगीकार कर लिया। उसका नया नाम रखा गया जमील अहमद।

अब, बूटासिंह तुरन्त पाकिस्तान उच्चायुक्त के कार्यालय में पहुंचा और अपनी पत्नी की वापसी की मांग करने लगा। यह मांग स्वीकारी न जा सकी।

दोनों देश इस शर्त का कड़ाई के साथ पालन कर रहे थे कि गुमशुदा स्त्री चाहे किसी भी धर्म के व्यक्ति के यहां बरामद हो; और वहां वह चाहे जिस हैसियत से रह रही हो; उसे तुरन्त शिविर में पहुंचाया जाए; और जब उसके मूल परिवार का पता चल जाए, तो उसे ले जाकर वहीं छोड़ दिया जाए।

छह महीनों तक बूटासिंह रोज अपनी पत्नी से मिलने शिविर में जाता रहा। आखिर; वह दिन आ ही गया, जब जेनिब के परिवार का पता पाकिस्तान में चल गया। विदाई के समय बूटासिंह और जेनिब रो-रो कर गले मिले। जेनिब ने कसम खाई कि वह जल्दी-से-जल्दी वापस चली आएगी; ताकि अपने पति और बच्ची के साथ रह सके।

बूटासिंह ने, एक मुसलमान की हैसियत से, पाकिस्तान में देशान्तर कर जाने की अनुमति मांगी। उसका आवेदन स्वीकारा नहीं गया। उसने वीसा के लिए आवेदन किया, लेकिन वह भी अस्वीकार हो गया। हार कर बूटासिंह ने अपनी बच्ची को साथ लिया, जिसका नया नाम सुल्ताना था; और पाकिस्तान में गैर-कानूनी प्रवेश कर लिया। सुल्ताना को लाहौर में छोड़कर वह उस गांव की ओर चला, जहां जेनिब के परिवार ने स्वयं को बसाया था। वहां एक जबर्दस्त आघात बूटासिंह की प्रतीक्षा में था। उसकी पत्नी की शादी दूर के एक भाई के साथ की जा चुकी थी। भारत से ट्रक में बैठकर जेनिब पाकिस्तान के उस गांव में पहुंची ही थी कि कुछ घण्टों के भीतर उसकी दूसरी शादी कर दी गई। बेचारा बूटासिंह विलाप करता रह गया कि मुझे मेरी पत्नी वापस चाहिए। जेनिब के भाइयों एवं अन्य रिश्तेदारों ने मिलकर बूटासिंह को बुरी तरह मारा-पीटा। फिर ले जाकर पुलिस के हवाले कर दिया कि यह बिना पासपोर्ट-वीसा के पाकिस्तान में घुस आया है।

अदालत में बूटासिंह ने न्यायाधीश के सामने गिड़गिड़ाकर कहा कि वह मुसलमान है और उसे उसकी पत्नी वापस दे दी जानी चाहिए। वह बोला कि अगर उसे केवल एक बार पत्नी से मुलाकात करने दी जाए, तो वह उससे खुद पूछकर तसल्ली कर लेगा कि वह अपनी बेटी के साथ रहने के लिए भारत लौट चलेगी; अथवा उसकी इच्छा यहीं पाकिस्तान में रहने की है।

द्रवित होकर न्यायाधीश ने यह मांग स्वीकार कर ली। पति-पत्नी का आमना-सामना, हफ्ते भर बाद, जब अदालत में हुआ; तो विभिन्न समाचार-पत्रों के माध्यम से, इस मामले से परिचित हो चुके लोगों की अदालत में भीड़ लग गई। जेनिब जब अदालत में आई, तो बुरी तरह डरी हुई थी। एक नहीं, अनेक रिश्तेदारों की भीड़ में घिर कर उसे न्यायाधीश के सामने पेश होना पड़ा था। न्यायाधीश ने बूटासिंह की ओर इशारा किया।

''हां,'' कांपती जेनिब ने उत्तर दिया, यह बूटासिंह है। मेरा पहला पति।'' फिर, जेनिब ने उस बुजुर्ग भारतीय की बगल में खड़ी अपनी लड़की को भी पहचाना।

"क्या तुम इन लोगों के साथ भारत वापस जाना चाहती हो ?" न्यायाधीश ने अगला प्रश्न किया बूटासिंह की आजिजीभरी आंखें उस नवयुवती पर ठहर गईं, जिसने उस की जिन्दगी को खुशियों से सान दिया था।

लेकिन जेनिब पर दूसरी भी अनेक आंखें ठहरी हुई थीं—उसके रिश्तेदारों और वर्तमान पति की आगभरी आंखें। उन तमाम रिश्तेदारों ने जेनिब को पहले ही से धमका रखा था कि खबरदार, जो अदालत में इस्लाम के खिलाफ कोई काम किया। वह आदमी सिख था, है और रहेगा।

जेनिब का उत्तर सुनने के लिए अदालत में सन्नाटा खिंच गया। बूटासिंह के चेहरे पर आशा की चौंध पैदा हो गई। उसकी आंखें जेनिब के होठों पर से हट नहीं पा रही थीं। उसे पूरा यकीन था कि उन होठों से वही उत्तर फूटेगा, जिसकी आशा में वह एक देश से दूसरे देश तक चला आया है। वह सन्नाटा इतना तीखा था कि अदालत के किसी व्यक्ति से नहीं सहा जा रहा था।

जेनिब ने सिर हिलाया। "नहीं।" वह बुदबुदाई।

बूटासिंह के मुंह से अविश्वास और आघात की आह निकल गई। वह ऐसा लड़खड़ाया कि उसे रेलिंग का सहारा लेना पड़ा। आखिर जब वह थोड़ा होश में आया, तो बेटी का हाथ पकड़कर जेनिब की ओर बढ़ा।

"ठीक है .... लेकिन मैं तुम से तुम्हारी बेटी नहीं छीन सकता।" वह बोला "मैं इसे तुम्हारे सुपुर्द किए जाता हूं" उसने जेब से रुपयों के अनेक नोट निकाले और बेटी की जेब में भर दिए। फिर बुदबुदा कर कहा, "मेरी जिन्दगी में अब रह क्या गया!"

न्यायाधीश ने जेनिब से फिर पूछा क्या वह अपनी बेटी की जिम्मेदारी स्वीकार करना चाहती है अदालत में मौजूद जेनिब के रिश्तेदारों ने क्रोध से सिर हिला कर मना कर दिया। वे अपने परिवार में सिख का खून नहीं चाहते थे।

जेनिब ने अत्यन्त दीन भाव से बेटी की ओर देखा। बच्ची को स्वीकार कर लेने का यही अर्थ होता कि बेचारी सारी जिन्दगी ताने सुन-सुन कर मरती रहेगी। उसे इतना सताया जाएगा, जिसका हिसाब नहीं। गहरी सिसकी ने जेनिब का अंग-अंग हिला दिया। "नहीं"। वह बोली।

अब बूटासिंह की आंखों से आंसूओं की धाराएं बह चली लम्बे क्षण तक वह अपनी रो रही पत्नी की ओर देखता रहा आंसुओं के पार, पत्नी का चेहरा उसे आड़ा-टेढ़ा नजर आ रहा था .... और वह उसी चेहरे को मानो हमेशा के लिए याद रख लेना चाहता था। फिर उसने बड़े स्नेह से अपनी बच्ची को गोद में उठा लिया। बिना कुछ कहे बिना किसी की ओर देखे, वह अदालत से निकल गया।

बूटासिंह का दिल हमेशा के लिए टूट चुका था। वह रात उसने मुसलमान सन्त दाता गंगबख्श की दरगाह पर रोते और दुआएं मांगते हुए गुजारी। उसकी बेटी पास के ही एक खम्बे के पास सो रही थी। सुबह होने पर बूटासिंह बच्ची को बाजार ले गया। बीती दोपहर उसने जो रुपए बच्ची की जेब में भर दिए थे, उनसे उसने बच्ची के लिए नए कपड़े खरीदे और उसे पहना दिए। सुनहरी कसीदाकारी की हुई जूतियां भी खरीदीं और पहनाई। फिर; हाथ में हाथ डाले, पिता-पुत्री चल पड़े रेलवे-स्टेशन की ओर।

प्लेटफार्म पर आ रही रेलगाड़ी ने दूर से सीटी बजाई।

बूटासिंह ने बेहद प्यार से बेटी को उठाया और चूम लिया। उसे गोद में भरकर बूटासिंह प्लेटफार्म के किनारे आ खड़ा हुआ। भाप के बादल उड़ाता इंजन झपटता चला आ रहा था। बच्ची ने महसूस किया कि उसे घेर रही पिता की बांहें और ज्यादा कस गई हैं। फिर, अचानक, बच्ची सामने की तरफ फिक गई। बूटासिंह ने, बच्ची समेत, झपटते इंजन के सामने छलांग लगा दी थी। बच्ची ने इंजन की सीटी आदि का भयानक शोर सुना—उस शोर में बच्ची की अपनी चीखें भी शामिल थीं। अगले क्षण, वह इंजन के नीचे के अन्धकार में पड़ी हुई थी।

बूटासिंह तत्काल मर गया; लेकिन विधि अद्‌भुत चमत्कार से, उसकी बेटी को खरोंच तक नहीं लगी। उस बुजुर्ग की भग्न लाश पर से पुलिस ने रक्त-सनी एक चिट्ठी बरामद की, जो बूटासिंह ने अपनी उस पत्नी से विदा मांगते हुए लिखी थी, जिसके द्वारा वह रद्द कर दिया गया था।

'मेरी प्यारी जेनिब!' चिट्‌ठी कह रही थी, 'तुम ने भीड़ की आवाज सुनी; लेकिन वह आवाज कभी सच्ची नहीं होती। अब भी, मेरी अन्तिम इच्छा यही है कि तुम्हारे साथ रहूं। मुझे तुम अपने ही गांव में दफन करना और मेरी कब्र पर गाहे-ब-गाहे आकर फूल चढ़ा जाना।'

बूटासिंह की आत्म-हत्या ने पूरे पाकिस्तान को झकझोर दिया। उसके अन्तिम संस्कार को राष्ट्रीय घटना जैसा महत्व मिल गया।

न केवल जेनिब के परिवार वालों ने, बल्कि उस गांव के सभी निवासियों ने अपने यहां के कब्रिस्तान में बूटासिंह के दफन किए जाने की अनुमति न दी। गांव के मर्दों ने; जिनका नेतृत्व जेनिब का दूसरा पति कर रहा था; 22 फरवरी, 1957 के दिन, बूटासिंह के जनाजे को गांव से बाहर ही रुकवा दिया।

बूटासिंह के हृदय-विदारक बलिदान से पसीज कर हजारों मुसलमान उसके जनाजे के साथ उस गांव में आए थे। अपेक्षाकृत इसके कि दंगा उकसाया जाता, अधिकारियों ने उन मुसलमानों को आदेश दिय कि वे बूटा को लाहौर में दफन करें। लाहौर में बूटा की कब्र पर लोगों ने इतने फूल चढ़ाए कि कब्र फूलों के पहाड़ के नीचे दब गई।

बूटा को इतना अधिक सम्मान मिलना जेनिब के परिवार वालों से सहन न हुआ। उन्होंने एक टुकड़ी लाहौर भेजी, जिसने बूटा की कब्र को न केवल तोड़-फोड़ डाला; बल्कि उसे अपवित्र भी कर दिया। इस वहशियाना हरकत से सारे लाहौर की जनता सन्नाटे में आ गई। लाहौर वालों ने बूटा को दुबारा दफन किया और उसकी कब्र को फूलों के एक और पहाड़ से ढांक दिया। इस बार सैकड़ों मुसलमान कब्र की रक्षा के लिए तैनात रहे। सन् 1947 की कड़वी यादों के बीच, इस तरह की घटनाएं, कीचड़ में कमल की तरह अपनी सुगन्ध चारों ओर प्रसारित करती रहीं।[1]

31 जनवरी, 1948 के दिन; राजघाट पर जहां महात्मा गांधी का दाह संस्कार हुआ था, वहां भारतीयों ने एक सादा किन्तु कलात्मक स्मारक खड़ा किया। स्मारक के मध्य में काले पत्थर का चिकना प्लेटफार्म है, जिस पर महात्मा के अन्तिम शब्द 'हे राम' अंकित हैं।

---

1. बूटासिंह की मृत्यु के बाद उसकी बेटी सुल्ताना को लाहौर के एक युगल ने अपनी धर्मपुत्री बना कर पाला-पोसा। अब वह लीबिया में अपने इंजीनियर पति और तीन बच्चों के साथ रहती है।

22

‘उनका जो हुआ ....’

वल्लभभाई पटेल

गांधी जी की हत्या के बाद के कुछ हफ्ते सरदार पटेल के लिए बेहद बुरे गुजरे। यह फुसफुसाहट एक मुंह से दूसरे मुंह और एक कान से दूसरे कान यात्रा करती चली गई कि 20 जनवरी से लेकर गांधी जी की हत्या के ऐन अवसर तक, पुलिस-विभाग ने हत्यारों का सुराग पाने में जो घोर लापरवाही दिखाई थी, उसकी अधिकतम जिम्मेदारी सरदार पटेल पर मानी जानी चाहिए; क्योंकि गृह-प्रधान आखिर वही थे। उनके कुछ राजनीतिक दुश्मनों ने यहां तक अफवाह उड़ाई; जो आधारहीन थी; कि गांधी जी के साथ अपने तीव्र मतभेदों के कारण सरदार ने उनकी हत्या रुकवाने में रुचि नहीं ली थी। गांधी जी के अचानक उठ जाने का दु:ख सरदार पटेल से झेला नहीं जा रहा था। ऊपर से इन क्रूर अफवाहों का बोझ .... मार्च, 1948 में पटेल को दिल का दौरा पड़ा। किसी प्रकार वह उससे उबर गए। उप प्रधानमंत्री और गृह-मंत्री के अपने पद उन्होंने फिर सम्भाल लिए।

लॉर्ड माउण्टबेटन की विदाई के बाद उन्होंने हैदराबाद के विरुद्ध सीधी पुलिस कार्रवाई करके भारत के उस अन्तिम रजवाड़े का भी देश के साथ विलय कर दिया, जो अभी तक देश से अलग ही बने रहने की रट लगाए हुए था। नेहरू के साथ उनकी पुरानी राजनीतिक होड़ थी। गांधी हत्या के कारण उन दोनों के जो मतभेद अस्थाई रूप से दब गए थे, वे 1950 के प्रारम्भ में फिर उभर आए। दिसम्बर, 50 की 15 तारीख को दिल के दौरे में पटेल का देहान्त हो गया; जिससे उन नेताओं के बीच की दरार सार्वजनिक रूप से प्रकट होने से बच गई।

जवाहर लाल नेहरू

नेहरू जी ने 15 अगस्त, 1947 के दिन जो पद ग्रहण किया था, उस पर वह मृत्यु-पर्यन्त बने रहे। उनका अवसान नई दिल्ली में; 27 मई, 1964 के दिन हुआ। उनकी गणना अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित राजनीतिज्ञों के बीच होती थी। गुट-निरपेक्ष राजनीति के कीर्ति स्तम्भ थे। उन्होंने सारी दुनिया में जमकर यात्राएं की थीं। स्वदेश में उन्होंने तीन पंच-वर्षीय योजनाओं का सूत्र-संचालन किया। इन योजनाओं के बल पर भारत ने औद्योगिक और सामाजिक विकास के लम्बे रास्ते तय किए। गोआ के पुर्तगाली उपनिवेश का देश में सफल विलय करने के लिए सशस्त्र कार्रवाई नेहरू जी ने करवाई।

जीवन के कटुतम मोहभंग का साक्षात्कार उन्हें अक्टूबर, 1962 में करना पड़ा; जब लद्दाख और नेफा की सीमाओं पर चीनियों ने आक्रमण किया। उस आघात से नेहरू जी पूर्णतया मुक्त कभी न हो सके। पन्द्रह वर्षों तक उन्होंने मैत्री को ही अपनी विदेश-नीति का मूल मन्त्र माना था। उसी देश पर पड़ौसी राष्ट्र द्वारा अचानक आक्रमण? उस घटना के बाद उनकी सेहत दिनोंदिन गिरती चली गई। जनवरी, 1964 में वह गम्भीर रूप से बीमार पड़े, स्वस्थ हुए; मगर चार ही महीनों बाद चल बसे।

नई दिल्ली में, नेहरू मेमोरियल लाइब्रेरी के बाहर, उनकी अन्तिम इच्छा एवं मृत्यु-लेख के शब्द अंकित हैं, जो प्रकट करते हैं कि अपने भारत देश को वह किस हद तक प्यार करते थे। उन्होंने चाहा कि हवाई-जहाज के जरिए उनकी राख को भारत के उन खेतों पर बिखेर दिया जाए, जहां किसान हल चलाते हैं, ताकि वह राख देश की धरती में ऐसी घुल-मिल जाए कि अलग से पहचानी न जा सके।

माउण्टबेटन दम्पति

अक्टूबर, 1948 में; रियर एडमिरल लुई माउण्टबेटन ने नौसेना की सक्रिय सेवाएं फिर स्वीकार कर लीं। उन्होंने माल्टा में, फर्स्ट क्रूजर स्क्वैड्रन की कमान सम्भाली।

1965 में माउण्टबेटन सक्रिय सेवाओं से मुक्त हो गए। आयरलैण्ड के एक किले, लन्दन के एक फ्लैट और ब्राडलैंड्स के अपने एस्टेट के बीच अब उनका अधिकांश समय बीतता है। आज भी उनकी कार्यक्षमताओं का अनोखापन ज्यों-का-त्यों है, भले ही वह 75 की उम्र पार कर चुके। वह लगभग 200 संस्थानों के सक्रिय सदस्य हैं। इन संस्थाओं का पारस्परिक वैविध्य अजब है। मसलन; इन्स्टीट्यूट ऑफ नैवल आर्किटेक्ट्स, इन्स्टीट्यूट ऑफ इलेक्ट्रॉनिक एण्ड रेडियो इंजीनियर्स, लंदन जूलॉजिकल सोसाइटी, मेजिक सरकल, सोसाइटी ऑफ जीनिआलॉजिस्ट्स, माल्टीज स्किन-डाइविंग ग्रुप, रॉयल थेम्स यैच क्लब इत्यादि।

वैसे, उनकी प्रमुख गतिविधियां नेशनल इलैक्ट्रानिक्स काउन्सिल की धुरी पर घूमती हैं, जिसके वह चेयरमेन हैं। युनाइटेड वर्ल्ड कॉलेज को भी वह कम समय नहीं देते, जिसके विद्यार्थियों की संख्या डेढ़ हजार है। ये विद्यार्थी इंग्लैण्ड, कनाडा और सिंगापुर के परिसरों में फैले हुए हैं।

भारत के प्रति वह सक्रिय और आत्मीय रुचि रखते हैं। वह 1969 में गांधी शताब्दी वर्ष के चैयरमैन बने। अपने पुराने मित्र जवाहरलाल नेहरू की स्मृति में उन्होंने फण्ड एकत्र किया और भारतीय बुद्धिजीवियों को विभिन्न अध्ययनों के लिए इंग्लैण्ड बुलाया।

एडविना माउण्टबेटन ने अपना अधिकांश समय रेडक्रास और सेण्ट जॉन एम्बुलेन्स ब्रिगेड को दिया। उनका देहावसान **21 फरवरी**, 1974 के दिन बोर्नियो में हुआ। जैसा कि उन्होंने अपनी अन्तिम इच्छा में चाहा था, उन्हें स्पिटहेड के पास समुद्र में दफनाया गया। उनका शव ब्रिटिश फ्रिगेट 'वेकफुल' द्वारा स्पिटहेड तक ले जाया गया था। भारतीय फ्रिगेट 'त्रिशूल' भी 'वेकफुल' के साथ-साथ चली। लेडी माउण्टबेटन के प्रति भारत की यह अन्तिम हार्दिक श्रद्धांजलि थी। भारतीयों ने अपने देश में एडविना माउण्टबेटन द्वारा की गई स्नेहभरी जन सेवा को कभी नहीं भुलाया।

राजा-महाराजा

भारत की एक-तिहाई आबादी पर शासन कर चुके राजा-महाराजा इस देश के सामान्य दृश्य में से चरम सीमा तक अनुपस्थित हैं। भूतकाल के गर्त में वे उसी तरह खो चुके हैं, जिस तरह मुगल। आज उनके महलों में अजायबघर हैं, स्कूल और होटल हैं .... या उन महलों ने खण्डहरों जैसे रूप ले लिए हैं। कुछ राजा-महाराजा सरकारी सेवाओं में आ गए हैं, कुछ व्यापार कर रहे हैं, कुछ विदेश चले गए हैं। कुछेक ही हैं; जैसे ग्वालियर और जयपुर की राजमाताएं; जो अब भी राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय हैं। तीन वर्षों के संघर्ष के बाद, 1973 की बसन्त ऋतु में, भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने, इन्दिरा गांधी सरकार द्वारा प्रस्तुत उस संवैधानिक संशोधन को अपनी स्वीकृति दे दी; जिसके अनुसार, 1947 में राजा-महाराजाओं को भारतीय संघ में विलय स्वीकार करने के एवज में जो बड़ी-बड़ी सुविधाएं दी गई थीं, वे समाप्त हो गईं। मयूर जैसी साज-सज्जा और नजाकत वाले वे मानव, भारतीय दृश्य-फलक में से, सदा के लिए लुप्त हो गए हैं।

❑❑❑